REVISED EDITION 1962

अर्थशास्त्र दिग्दर्शन

भारतीय अर्थशास्त्र सहित

[इण्टरमीडियट एवं हायर सैकण्ड्री कक्षाओं के लिए]

सप्रेम भेंट
श्रीमती मायादेवी
पत्नि स्व० श्री राम स्वरूप धीमान्

By

Prof. B. N. GANDHI M.A.

ARTS COLLEGE
DABHoi (Baroda)

Research Scholar
S. V. UNIVERSITY
Vallabh Vidya Nagar

&

Prof. S. L. SARUPARIA
M.A., B.COM
SETH MOTILAL COLLEGE
JHUNJHUNU



1962

PRICE
Rs. 7.00

COLLEGE BOOK DEPOT
TRIPOLIA  JAIPUR

विषय - सूची

२. भारतीय अर्थशास्त्र

विद्यार्थी ध्यान दें !

एक वर्ष की अल्प अवधि में पुस्तक बिक जाना और निरन्तर मांग रहना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि पुस्तक की सरल एवं स्पष्ट भाषा-शैली को परीक्षार्थियों ने अत्यधिक पसन्द किया।

प्रस्तुत संस्करण अपने नवीन रूप में आपके समक्ष है। इण्टरमिडियट एवं हायर सैकेन्ड्री के पाठ्यक्रम को दृष्टिगत रखते हुये पुस्तक को पूर्णतः संशोधन किया गया है। पुस्तक में दिए गये सभी महत्वपूर्ण प्रश्नोत्तर अपने नवीनतम चार्ट एवं आंकड़ों सहित आपको नवीन कक्षा में अग्रसर होने में सहायक होंगे, ऐसी हमारी अभिलाषा है।

काम की बात

परीक्षा में अधिक अङ्क प्राप्त करने का सरल तरीका

अधिकतर विद्यार्थी यह सोचते हैं कि प्रश्नों के उत्तर जितने अधिक पृष्ठों में लिखेंगे उतने ही अधिक अङ्क मिलेंगे। लेकिन परीक्षाफल में उन्हें वास्तविकता मालूम हो जाती है।

ध्यान दीजिए

- परीक्षा में शुरु में केवल उन्हीं प्रश्नों के उत्तर लिखना शुरु कीजिए जिनके उत्तर आपको अच्छी तरह याद हो।

- उत्तर लिखते समय अधिक विस्तार में मत जाइए। केवल चुने हुए शब्दों में ही प्रश्न को ध्यान में रखते हुए उत्तर देने की कोशिश कीजिए। यदि आपने अधिक समय एक ही प्रश्न पर लगा दिया तो बाकी सारे प्रश्न यो ही रह जायेंगे।

- अर्थशास्त्र जैसे विषय में आकड़ों का बहुत महत्व है। लेकिन आपके आंकड़े सही ही लिखने चाहिए। यदि आपको पूर्णतः याद न हों तो आँकड़े मत दीजिए।

- अपने उत्तर में अनावश्यक (जिसके बारे में पूछा ही नहीं जाता है) सामग्री मत दीजिए। ऐसा करने से आपके अङ्क कट जायेंगे।

- अपना लेख अति शुद्ध तथा सुन्दर हो। शुरु से अन्त तक एकसी ए चमकदार गहरी स्याही की लिखावट भी परीक्षक को अधिक अङ्क देने को विवश कर देती है।

१ परिभाषा तथा क्षेत्र

प्रश्न (१) "अर्थशास्त्र वह सामाजिक विज्ञान है जो मानव जाति के भौतिक कल्याण और समृद्धि की समस्याओं का अध्ययन करता है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर:— एडम स्मिथ (**Adam Smith**), वाकर (**Walker**) और से (**Say**) आदि प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को धन का शास्त्र कहा था। उनकी इस परिभाषा की काफी कड़ी आलोचना की गई क्योंकि उन्होंने धन को अधिक महत्व और मनुष्य को गौण स्थान दिया था। प्रो. मार्शल (**Marshall**) ने पुरानी परिभाषा की कमी को दूर कर अपनी परिभाषा में मनुष्य को प्राथमिकता प्रदान की।

प्रो० मार्शल (**Marshall**) अपनी पुस्तक "**Economics of Industry**" में अर्थशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार से देते हैं:—

"अर्थशास्त्र मनुष्य के साधारण जीवन-व्यापार सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन है। यह बताता है कि वह किस प्रकार रुपया कमाता है और व्यय करता है। इस प्रकार यह एक ओर धन का अध्ययन है और दूसरी ओर जो अधिक महत्वपूर्ण है, मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।"

प्रो. मार्शल ने अपनी दूसरी पुस्तक **Principles of Economics** में अर्थशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार से दी है:—

"अर्थशास्त्र मनुष्य के साधारण जीवन-व्यापार सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन है। वह उस व्यक्तिगत और सामाजिक चेष्टाओं का अध्य-

न करता है जो भौतिक साधनों की प्राप्ति और उपयोग से भौतिक हित को प्राप्त करना चाहती है।"

मार्शल की उपरोक्त दोनों परिभाषाओं में केवल कुछ शब्दों का ही हेर-फेर है और दोनों का वास्तव में तात्पर्य एक ही है। उनकी परिभाषा की मुख्य विशेषताऐं निम्नलिखित हैं:--

अर्थशास्त्र मानव के साधारण जीवन-व्यापार सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन है:—

यहां साधारण क्रियाओं का आशय उन क्रियाओं से है जो साधारण समाज में रहने वाले साधारण और सामान्य व्यक्तियों द्वारा की जाती हैं। व्यापार सम्बन्धी क्रियाओं का आशय उनसे है जो धन के लेन-देन, उत्पादन, उपभोग, विनिमय, तथा वितरण से सम्बन्ध रखती हैं अर्थात् आर्थिक क्रियाएँ हैं। सरल शब्दों में साधारण और सामान्य व्यक्ति के द्वारा की जाने वाली आर्थिक क्रिया से ही अर्थशास्त्र सम्बन्धित है।

एक ओर धन का अध्ययन है और दूसरी ओर जो अधिक महत्वपूर्ण है मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है:— इसका अर्थ है कि मनुष्य अर्थशास्त्र का प्रधान विषय है और अर्थशास्त्र में धन का स्थान गौण है क्योंकि मनुष्य के लिए ही धन है न कि धन के लिए मनुष्य।

भौतिक हित:—मनुष्य जो भी प्रयत्न करता है उनके बदले जो कुछ भी आर्थिक प्रतिफल प्राप्त होता है, उसके द्वारा वह उन भौतिक साधनों को प्राप्त करना चाहता है जिससे उसकी भौतिक समृद्धि हो। संक्षेप में मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र मनुष्य के भौतिक हित का साधन है।

मार्शल की परिभाषा के बाद ऐसा अनुभव किया जाने लगा था कि अब अर्थशास्त्र की परिभाषा के विवाद का अन्त होगा परन्तु लंदन स्कूल आफ इकोनोमिक्स के प्राध्यापाक रोबिन्स ने मार्शल की कड़ी आलोचना की है।

उनके अनुसार मार्शल की परिभाषा में जीवन के साधारण जीवन-व्यापार सम्बन्धी क्रियाओं का अर्थ स्पष्ट नहीं है। मनुष्य की कौन सी क्रियाओं को साधारण माना जाय और किन को–असाधारण– यह एक जटिल समस्या

है। मनुष्य की साधारण क्रिया क्या है ? इसे स्पष्ट नहीं किया गया है।

मार्शल की परिभाषा भौतिकता के भ्रम में फंसी हुई है:—मार्शल की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र में मनुष्य की उन चेष्टाओं का अध्ययन होता है जिनसे भौतिक हित प्राप्त होता है। रोबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र के विषय को भौतिक हित की प्राप्ति तक ही सीमित नहीं कर देना चाहिए क्योंकि भौतिक और अभौतिक वस्तुओं में भेद करना सरल नहीं है। उदाहरण के लिए एक डाक्टर की सेवा भौतिक नहीं है फिर भी वह सम्पत्ति अवश्य है क्योंकि वह सीमित है, उसमें उपयोगिता विद्यमान है तथा उसका आर्थिक महत्व है। उसकी सेवा को प्राप्त करने के लिए हमें उसे फीस देनी पड़ती है। उसकी सेवा से मनुष्य के अभौतिक हित में ही वृद्धि होती है। अतः प्रो. रोबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र में उन वस्तुओं और सेवाओं का अध्ययन होता है जिनकी मांग होती है।

उसके अनुसार अर्थशास्त्र में केवल भौतिक वस्तुओं अर्थात् जिन्हें देखा या छुआ जा सकता है, का अध्ययन किया जाता है। वह स्वयं कई स्थानों पर अपनी परिभाषा के क्षेत्र के बाहर चला जाता है। वह व्यापारिक-प्रतिष्ठा **(Goodwill)** को जो एक अभौतिक वस्तु है धन मानता है।

कुछ आर्थिक क्रियाओं से मानव सुख प्राप्त नहीं होता:—रोबिन्स के मतानुसार मनुष्य के कई ऐसे कार्य होते हैं जो आर्थिक हैं परन्तु उनका सम्बन्ध मानव सुख से नहीं होता। जैसे शराब को बनाना और बेचना। यह दोनों क्रियाएँ आर्थिक हैं परन्तु यह भौतिक हित में किसी भी प्रकार से वृद्धि नहीं करतीं। मानव सुख का विचार समय-समय और स्थान-स्थान पर भिन्न रहता है। उसमें पूर्ण निश्चितता नहीं पाई जाती। अतः रोबिन्स कहते हैं कि अर्थशास्त्र न तो सुख के भौतिक साधनों से ही और न ही मानव सुख से सम्बन्धित है।

अर्थशास्त्र में ऐसी क्रियाओं का भी अध्ययन किया जाता है जिनका धन से कोई सम्बन्ध नहीं होता है:—मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र में मनुष्य की केवल उन क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जिनका धन से

श्यकताओं तथा उनकी पूर्ति का अध्ययन करता है। यह अध्ययन उपभोग के अन्तर्गत किया जाता है।

वस्तुओं का उपभोग केवल उसी समय किया जा सकता है जब उसको प्राप्त करने के लिए साधन हों। वह साधन है धन। अर्थशास्त्र के उस विभाग को, जिसमें धन का उत्पादन किस प्रकार, और जिन २ साधनों की सहायता से किया जाता है उत्पत्ति कहते हैं।

प्रारम्भ में मनुष्य आत्म निर्भर था। वह अपनी आवश्यकताओं की तमाम वस्तुएँ स्वयं उत्पन्न करता था। परन्तु ज्ञान वृद्धि होने पर उसने यह अनुभव किया कि उसे केवल उस वस्तु का उत्पादन करना चाहिए जिसमें वह अधिक निपुण हो। अदला-बदली करके वह अपनी अन्य आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति दूसरे व्यक्तियों से कर लेता था। कालान्तर में अदला-बदली का स्थान द्रव्य-के माध्यम ने ले लिया और क्रय-विक्रय आरम्भ हुआ। वस्तुओं का मूल्य किस प्रकार तय होता है। इन सब का अध्ययन विनिमय-के अन्तर्गत किया जाता है।

आरम्भ में मनुष्य स्वयं एक वस्तु का निर्माण किया करता था। कालान्तर में उत्पादन जटिल बनता गया और उसमें कई साधन काम में आने लगे। अतः अब प्रश्न उठा कि इन विभिन्न प्रकार के उत्पादक साधनों से उत्पादित विभिन्न वस्तुओं के प्रतिफल को किस प्रकार उनमें बांटा जाय। इस समस्या का अध्ययन वितरण के अन्तर्गत किया जाता है।

प्राचीन अर्थशास्त्री, अर्थशास्त्र के विभागों में केवल उपरोक्त चार भागों को सम्मिलित करते थे, परन्तु वर्तमान अर्थशास्त्री राजस्व को भी इसका एक महत्वपूर्ण भाग मानते हैं।

अब हमें यह देखना है कि अर्थशास्त्र को विज्ञान मानें अथवा कला। विज्ञान किसी वस्तु के क्रम बद्ध ज्ञान को कहते हैं क्योंकि यह कारण और परिणाम के बीच सम्बन्ध बतलाता है। जैसे मांग का नियम। इसके साथ २ वह एक आदर्श विज्ञान भी है। अर्थशास्त्र का उद्देश्य मनुष्य के जीवन को सुखमय बनाना है। इसलिए वह हमारे सामने कुछ आदर्श उपस्थित करता है। जैसे-मजदूर की न्यूनतम मजदूरी क्या होनी चाहिये या ब्याज की उचित दर

ाय्य होनी चाहिए ? लेकिन केवल आदर्श प्रस्तुत करने से ही उद्देश्य की पूर्ति
नहीं हो जाती। उसके लिए प्रयत्न करना भी आवश्यक है। अर्थशास्त्र हमें इन
आदर्शों को प्राप्त करने के मार्ग भी बतलाता है। जब हम किसी वस्तु को
कार्य रूप में परिणित करते हैं तो वह कला है। अतः हम यह कह सकते हैं कि
अर्थशास्त्र कला और विज्ञान दोनों ही है।

अर्थशास्त्र एक महत्वपूर्ण शास्त्र है। इसका अध्ययन केवल ज्ञान प्राप्ति
के लिए ही नहीं किया जाता बल्कि दूसरे व्यवहारिक लाभ भी हैं।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से मनुष्य उस रीति को जान सकता है कि उसे
अपनी सीमित आय को किस प्रकार खर्च करना चाहिए ताकि उसे उससे अधि-
कतम संतुष्टि प्राप्त हो सके। उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि किस वस्तु को
किस समय, किस बाजार में, किस मूल्य पर खरीदना चाहिए। उत्पादकों को इसके
अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उत्पादन में वृद्धि के लिए उन्हें किन किन
उपायों को काम में लाना चाहिए। श्रमिक भी श्रम विभाजन प्रणाली के
महत्व को समझ लेता है और उसमें सहकारिता की भावना बढ़ती है। राजस्व
मन्त्री को यह ज्ञात होता है कि सरकार की आय में वृद्धि करने के लिए किन
किन वस्तुओं पर कर लगाने चाहिये। व्यापारी को यह पता चलता है कि उसे
अपनी वस्तु के मूल्य में कब परिवर्तन करना चाहिये आदि। अर्थशास्त्र एक
वास्तविक विज्ञान है जिसमें मानवी आर्थिक क्रियाओं में कारण और परिणाम
का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। जब हम वितरण का अध्ययन करते हैं
तब हमें यह ज्ञात होता है कि यदि पूंजी की पूर्ति कम रहती है तो ब्याज की
दर अधिक रहती है। भारतीय गांवों में साहूकारों की संख्या कम रहती है
और कृषक वर्ग को सदैव पूंजी की मांग अधिक बनी रहती है। उनकी परि-
स्थिति से लाभ उठाकर उनसे साहूकार ब्याज अधिक वसूल करते हैं। इन्हीं
कारण और परिणामों के आधार पर अर्थशास्त्र में 'नियम' या सिद्धान्तों का
निर्माण किया जाता है।

अर्थशास्त्र नियमों का निर्माण करके ही अब कार्य समाप्त नहीं कर
ता बल्कि वह हमारे सम्मुख कुछ आर्थिक आदर्श भी प्रस्तुत करता है जिससे
समाज का कल्याण हो सके। वह हमें बतलाता है कि ब्याज की उचित दर

पीगू तथा फेयर चाइल्ड आदि हैं। पीगू के अनुसार "अर्थशास्त्र भौतिक युग का विज्ञान है।"

मार्शल की परिभाषा के वाद ऐसा प्रतीत होने लगा था कि अर्थशास्त्र की परिभाषा की समस्या अब हल होगई है! परन्तु प्रो. मेहता और प्रो. रोबिन्स ने मार्शल की परिभाषा की आलोचना निम्नलिखित आधार पर की।

प्रो. मेहता (**Mehta**) के अनुसार मार्शल की परिभाषा में प्रयोग किये गये कई शब्दों का अर्थ स्पष्ट है। मनुष्य की कौन सी क्रिया को साधारण माना जाय और कौन सी क्रिया को असाधारण-यह एक जटिल समस्या है। मनुष्य की साधारण क्रिया क्या है? इसे मार्शल ने स्पष्ट नहीं किया है।

प्रो. मार्शल की परिभाषा स्वयं भौतिकता के भ्रम में उलझी हुई है। मार्शल अर्थशास्त्र में मानव प्रयत्नों का अध्ययन करना चाहता है जो भौतिक सुख के साधनों से सम्बन्धित हों। वह स्वयं अभौतिक पदार्थों का जैसे व्यापारिक प्रतिष्ठा (**Goodwill**) को धन मानता है। इस प्रकार वह स्वयं अपनी परिभाषा के क्षेत्र के बाहर जाता है।'

मार्शल ने अपनी परिभाषा में मनुष्य के प्रयत्नों का सम्बन्ध मानव सुख (कल्याण) से स्थापित किया है। रोबिन्स कहता है कि मनुष्य के द्वारा कई ऐसे आर्थिक कार्य किये जाते हैं जिनसे मानव सुख में वृद्धि नहीं होती या जिनका सम्बन्ध मानव सुख से नहीं है। उदाहरण के लिए-शराब बनाना और उसे बेचना। यह दोनों आर्थिक क्रियाऐं हैं परन्तु वह मानव कल्याण में वृद्धि नहीं करते। रोबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र का सम्बन्ध सुख के भौतिक साधनों से नहीं है और न ही मानव सुख से। मानव सुख का विचार समय-समय, व्यक्ति-व्यक्ति तथा देश में अलग २ होता है। (पूर्ण आलोचना के लिए देखिए प्रश्न नं. १)

रोबिन्स (**Robins**) के अनुसार "अर्थशास्त्र मनुष्य मात्र के कार्य-कलापों का वह अध्ययन है जो उसकी अनन्त आवश्यकताओं, सीमित साधनों और उन साधनों के विभिन्न उपयोगों पर विचार करता है।"

रोबिन्स की परिभाषा में भी कई दोष हैं। वह अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान मानता है और उसका मानव सुख से कोई सम्बन्ध नहीं

(३) अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध। परन्तु आधुनिक अर्थ-शास्त्री इसके स्थान पर अर्थशास्त्र की सीमाओं का समावेश करते हैं।

विषय सामग्री:—

प्रत्येक शास्त्र की भांति अर्थशास्त्र का अपना विषय है। अर्थशास्त्र मनुष्य के जीवन और कार्य का अध्ययन कराता है। परन्तु वह उसके जीवन के प्रत्येक पहलू का नहीं बल्कि एक विशेष पहलू का ही अध्ययन करता है। वह केवल मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नों का अध्ययन करता है जिनका उद्देश्य धन के रूप में साधन प्राप्त कर उनकी सहायता से अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट करना होता है। आवश्यकताएँ–प्रयास–संतुष्टि यह क्रम अर्थशास्त्र के विषय का निचोड़ है।

मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त होती हैं। अर्थशास्त्र सबसे पहले इन आवश्यकताओं तथा इनकी पूर्ति से प्राप्त होने वाली संतुष्टि का अध्ययन करता है। इस बात का अध्ययन जिस विभाग में किया जाता है उसे उपभोग कहते हैं।

उत्पत्ति विनिमय, वितरण आदि के लिए देखिए प्रश्न नं. (२)

स्वभाव:— अर्थशास्त्र विज्ञान है या कला या दोनों यह जानने के पहले इसका ज्ञान करना आवश्यक है कि विज्ञान किसे कहते हैं और कला क्या है?

किसी वस्तु के क्रम बद्ध ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। विज्ञान को हम वास्तविक और आदर्श दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। वास्तविक विज्ञान वह है जो केवल क्या स्थिति है? इससे सम्बन्ध रखता है। वह कारण और परिणाम के सम्बन्ध को समझाता है। उसका उद्देश्य साधारण नियमों का निर्माण करना है। इसके विपरीत आदर्श विज्ञान वह है जो यह बताता है कि क्या होना चाहिए (**ought to be**)। वह हमें उचित और अनुचित के अन्तर को बतलाता है।

कला का अर्थ 'करना' या प्रयोग करना है। कला का सम्बन्ध कर्म से है। जब किसी वस्तु का अध्ययन कर उसे कार्यरूप में परिणित किया जाता है तो वह कला है।

अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है क्योंकि वह मानवी आर्थिक

अध्ययन किया जाता है। इसमें वे क्रियाऐं भी आ जाती हैं जिनका धन से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता है।

(४) अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान ही है।

—:※:—

२ अर्थशास्त्र का अन्य-सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध

प्रश्न (५) अर्थशास्त्र की परिभाषा दीजिए। इसका अन्य सामाजिक विज्ञानों से क्या सम्बन्ध है समझाइये।

(Raj. H. S. 58 M.B.56)

अर्थशास्त्र की परिभाषा के लिये देखिये प्रश्न नं० २

भिन्न २ सामाजिक विज्ञान मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं का विवेचन करते हैं। जीवन का प्रत्येक पहलू दूसरे पहलू पर निसन्देह अपना प्रभाव डालता है। इसी कारण प्रत्येक विज्ञान जो मानव के किसी एक जीवन पहलू का अध्ययन करता है उसका अन्य सब सामाजिक विज्ञानों से जो मनुष्य जीवन के विभिन्न पहलुओं का विवेचन करते हैं घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

(१) अर्थशास्त्र और समाज शास्त्रः—तमाम सामाजिक विज्ञानों का सामूहिक नाम समाज शास्त्र है। यह वह शास्त्र है जिसमें मनुष्य के विभिन्न कार्यों का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र भी समाज शास्त्र का एक अंग है। अतः इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। समाज शास्त्र मनुष्य जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करता है परन्तु अर्थशास्त्र केवल आर्थिक पहलू का ही। अर्थशास्त्र समाज शास्त्रों को सामान्य बातों की जानकारी करने में पर्याप्त सहायता देता है।

आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है, कभी भी नैतिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता।

(४) अर्थशास्त्र और न्यायशास्त्र:—अर्थशास्त्र में मनुष्य की धन सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। न्यायशास्त्र में मनुष्य की क़ानून सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। यदि देश में शान्ति और सुरक्षा है तो अवश्य आर्थिक जीवन उन्नत अवस्था में होगा अन्यथा नहीं। यदि कानून की अवहेलना की जाती है तो जानमाल की सुरक्षा नहीं रहेगी जिसका प्रभाव आर्थिक उन्नति पर बुरा पड़ेगा।

जिस प्रकार आर्थिक स्थिति पर कानून का प्रभाव पड़ता है, ठीक उसी तरह आर्थिक स्थिति का प्रभाव कानून पर भी पड़ता हैं। जैसे जैसे देश की आर्थिक परिस्थिति में परिवर्तन होता है, वैसे वैसे नए नए कानून बनाए जाते हैं या पुरानों में संशोधन किया जाता है। देश में औद्योगीकरण के कारण सरकार को मजदूरों के हित की रक्षा के लिए कई कानून बनाने पड़ते हैं जैसे न्यूनतम मजदूरी नियम, फैक्टरी नियम आदि।

(५) अर्थशास्त्र और इतिहास:—अर्थशास्त्र में केवल आर्थिक पहलू का ही अध्ययन किया जाता है। हेरीसेन के अनुसार सभ्य मनुष्यों की आत्म-कथा का नाम ही इतिहास है। मार्क्स के अनुसार इतिहास की महत्वपूर्ण घट-नाओं और परिवर्तनों का मूल कारण धन के उत्पादन के साधनों में परिवर्तन है। उसके अनुसार सब परिवर्तनों का मूल कारण वर्ग संघर्ष (**Class stru-ggle**) है।

अर्थशास्त्र के उस विभाग को जिसके अन्तर्गत भूत की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है–आर्थिक इतिहास कहते हैं। आर्थिक इतिहास और इतिहास दोनों ही अर्थशास्त्र के अंग हैं। इस कारण अर्थशास्त्र और इतिहास में घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी भी देश की आर्थिक अवस्था का उसके इतिहास पर प्रभाव पड़ता है। इंगलैंड ने अपने माल की खपत के लिए साम्राज्यवादी नीति अपनाई जो उसके इतिहास का एक प्रमुख अंग है।

अर्थशास्त्र के कुछ नियम इतिहास पर आधारित हैं। जैसे माल्थस का जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त। उसने अपने नियम का प्रतिपादन उपज की मात्रा के तथ्यों के आधार पर ही किया था परन्तु उसकी आलोचना ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर ही की जाती है।

इस प्रकार उपभोग ही उत्पादन का आदि और अन्त है। किसी वस्तु का उत्पादन भी तभी किया जाता है जब उसके उपभोग के लिए आवश्यकता होती है ।

उपभोग और विनिमय:—प्रारम्भ में मनुष्य आत्म-निर्भर था अर्थात अपनी आवश्यकताओं की तमाम वस्तुओं का उत्पादन वह स्वयं किया करता था। वह स्वयं उत्पादक और उपभोक्ता था। इस अवस्था में विनिमय की आवश्यकता न थी। आवश्यकताओं की संख्या बढ़ने पर उत्पादन में विशिष्टीकरण (Specialization) हो गया है। मनुष्य इस युग में अपनी आवश्यकताओं के लिए दूसरे व्यक्तियों द्वारा निर्मित वस्तुओं पर निर्भर रहता है। वह स्वयं कुछ ही वस्तुओं का उत्पादन करता है। दूसरी वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए उसे विनिमय करना पड़ता है। इस तरह उपभोग विनिमय पर निर्भर है। यदि उपभोक्ता न हो तो विनिमय की आवश्यकता ही न रहेगी।

उपभोग और वितरण:—विना वितरण के उपभोग संभव नहीं। वर्तमान युग में उत्पादन का कार्य सामूहिक प्रयत्नों द्वारा किया जाता है। इस अवस्था में जब तक उत्पादन कार्य में भाग लेने वालों के बीच प्राप्त धन को नहीं बांटा जाय तब तक उपभोग संभव नहीं हो सकता। क्योंकि साधन प्राप्त होने पर ही आवश्यकताओं की संतुष्टि की जा सकती है। इस प्रकार वितरण के बाद ही उपभोग सम्भव होता है।

उपभोग और राजस्व:—वस्तुओं पर कर लगाकर सरकार आय प्राप्त करती है। कर सरकारी आय का महत्वपूर्ण भाग है। यदि कर लगाई गई वस्तुओं का उपभोग बढता हो तो सरकारी आय में वृद्धि होती है और यदि उपभोग कम होता है तो आय में कमी होगी। इससे यह स्पष्ट ही है कि उपभोग का प्रभाव सार्वजनिक राजस्व पर पड़ता है।

उत्पत्ति और विनिमय:—उत्पादन विनिमय के बिना अधूरा और वेकार है। उत्पादित वस्तुओं को उपभोक्ता विनिमय द्वारा प्राप्त कर अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करता है। यदि विनिमय न हो तो उत्पादित वस्तुएं वेकार हो जायेंगी। किसी वस्तु का विनिमय जितना अधिक होगा उतना ही अधिक प्रोत्साहन उसके उत्पादन को मिलेगा। परन्तु जब तक वस्तु का उत्पा-

। यदि कर लगाई गई वस्तुओं का क्रय-विक्रय अधिक होता है तो सरकार आय भी अधिक होगी। इस प्रकार विनिमय पूर्णतया राजस्व पर निर्भर । परन्तु राजस्व भी विनिमय पर निर्भर है।

वितरण और राजस्वः—राज्य की राजस्व नीति का प्रभाव वितरण र पड़ता है। वितरण का आधार राज्य द्वारा निश्चित किया जाता है। यदि सरकार पूंजीवादी है तब वह श्रमिकों की मजदूरी निर्धारित करने में हस्तक्षेप नहीं करेगी। समाजवादी सरकार मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी कानून द्वारा निर्धारित कर उनके हितों की रक्षा करती है।

उपरोक्त वर्णन इस बात को स्पष्ट कर देता है कि अर्थशास्त्र के विषय को पांच भागों में अध्ययन की सुविधा के लिए विभक्त किया जाता है। वास्तव में वे एक दूसरे पर आश्रित हैं और उनका आपस ये घनिष्ठ सम्बन्ध है।

—:※:—

४ अर्थशास्त्र के अध्ययन से लाभ

प्रश्न (७) अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री क्या है? र्थअशास्त्र अध्ययन से लाभ बताइये। (Raj. Inter. 58, M. B. 5

विषय—सामग्री के लिए देखिए प्र० नं० (१)

अपनी पुस्तक **Principles of Economics** में प्रो. म लिखते हैं कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य एक ओर ज्ञान के लिए प्राप्त करना है और दूसरी तरफ व्यवहारिक और विशेषकर सामाजिक में मार्ग प्रदर्शन करना है। अतः अर्थशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो हमें " देता है और फल भी" अतः उसके अध्ययन के उद्देश्य को दो भागों में किया जा सकता है। (१) ज्ञान प्राप्त करने के लिए और (२) दैनिक

में व्यवहारिक लाभ उठाने के लिए। अर्थात प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन से दो लाभ होते हैं।–(१) सैद्धान्तिक और (२) व्यवहारिक।

[१] सैद्धांतिक लाभः—(१) अर्थशास्त्र के अध्ययन से मनुष्य की तर्कशक्ति विकसित होती है। उसका अध्ययन मानसिक व्यायाम का कार्य करता है। अर्थशास्त्र में कई मानवीय आचरणों को सत्य मानकर तार्किक शक्ति के आधार नियमों का निर्माण किया जाता है।

(२) अर्थशास्त्र के अध्ययन से मनुष्य में अनेक बातों के सापेक्षिक महत्व को समझने की क्षमता बढ जाती है।

(३) अर्थशास्त्र के अध्ययन से मनुष्य के ज्ञान–कोष की वृद्धि होती है जिससे उसका दृष्टिकोण विशाल हो जाता है। उसे उस आर्थिक अवस्था का भी ज्ञान होता है जिसमें वह अपना जीवन व्यतीत करता है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से केवल ज्ञान–कोष की ही वृद्धि नहीं होती, बल्कि इससे कई व्यवहारिक लाभ भी होते हैं। पीगू (Pigou) के अनुसार "आर्थिक विज्ञान का प्रमुख मूल्य मस्तिष्क सम्बन्धी अठखेलियां खेलना नहीं है और न यह कि उसके द्वारा हमें ज्ञान केवल ज्ञान के लिए प्राप्त होता है बल्कि यह नीतिशास्त्र का साथी और व्यवहार का दास है। व्यवहारिक लाभ को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) व्यक्तिगत लाभ (२) सामूहिक लाभ।

(1) व्यक्तिगत लाभः—प्रत्येक व्यक्ति का कार्य क्षेत्र समाज में भिन्न २ होता है। अतः प्रत्येक को उसके कार्य क्षेत्र के अनुसार लाभ प्राप्त होते हैं।

(१) उपभोगी को लाभः—उपभोगी को अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उसे अपनी सीमित आय किस प्रकार से व्यय करनी चाहिए जिससे उसे उस सीमित आय से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो सके। इसमें उसे सम-सीमान्त उपयोगिता नियम सहायता देता है। उसे यह भी ज्ञात होता है कि किस वस्तु को किस बाजार में किस समय तथा किस मूल्य पर खरीदनी चाहिए।

(२) उत्पादक और व्यापारियों को लाभः—अर्थशास्त्र के अध्ययन से उत्पादक को बहुत ही अधिक लाभ होता है। उत्पादक को यह ज्ञात होता है

(२) सामूहिक लाभः—अर्थशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है जिसके अध्ययन से किसी एक व्यक्ति या वर्ग को ही नहीं बल्कि पूरे समाज को लाभ होता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः इसके प्रत्येक कार्य का प्रभाव समाज पर पड़ता है। इसी कारण अर्थशास्त्र एक व्यक्ति या वर्ग विशेष का नहीं परन्तु पूरे समाज के हित को ध्यान में रखता है। अनके महत्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं को किस प्रकार हल किया जाय इसमें अर्थशास्त्र के अध्ययन से काफी सहायता मिलती है।

संक्षेप में अर्थशास्त्र के अध्ययन से ज्ञान की वृद्धि होती है और साथ ही समाज में विभिन्न प्रकार के कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को व्यवहारिक लाभ होता है।

—:⁕:—

५ आर्थिक जीवन का विकास

प्रश्न (८) प्राचीन काल से वर्तमान काल तक आर्थिक जीवन का विकास किन २ अवस्थाओं से गुजरा है? विकास की प्रत्येक अवस्था के मुख्य लक्षण (विशेषताएं) बताइये।

(Raj. Inter. 54, H Sec 58, 60)

मनुष्य की वर्तमान आर्थिक अवस्था को इस अवस्था तक पहुँचने से पहले कई अवस्थाओं में होकर गुजरना पड़ा। आर्थिक जीवन का विकास क्रमिक है। हम इस विकास के लम्बे काल को निम्नलिखित अवस्थाओं में विभिक्त कर सकते हैं।

(i) आर्थिक प्रयत्नों का इतिहास और (ii) समाज के आर्थिक संगठन का इतिहास।

आर्थिक प्रयत्नों का इतिहासः—हम इसे चार भागों में बांट सकते हैं।

(१) व्यक्तिगत प्रत्यक्ष चेष्टाओं का कालः—प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकताएं असंख्य होती है जिनको संतुष्ट करने के लिए मानव हमेशा प्रयत्न करता रहता है। प्रारम्भिक अवस्था में आवश्यकता–प्रयत्न–पूर्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध था। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए स्वयं अकेला ही प्रयत्न करता था। वह किसी अन्य व्यक्ति पर निर्भर न था। वह विभिन्न प्रयत्नों के द्वारा संतोष प्राप्त किया करता था। प्रत्यक्ष प्रयत्न से ही आवश्यकता की संतुष्टि हो जाती थी।

[२] व्यक्तिगत परोक्ष चेष्टाओं का कालः—प्रत्यक्ष रूप से आवश्यकताओं की संतुष्टि इसलिए संभव थी क्योंकि आवश्यकताएं सरल थी। आवश्यकताओं में वृद्धि होने पर मनुष्य के लिए अपनी आवश्यकताओं की समस्त वस्तुओं का स्वयं निर्माण करना कठिन बन गया। अतः उसने केवल उसी वस्तु का उत्पादन करना आरम्भ किया जिसमें वह सबसे अधिक निपुण था। अब वह अपनी अन्य आवश्यकताओं की वस्तुओं को अन्य व्यक्तियों के साथ अदला-बदली कर प्राप्त करने लगा। अब आत्म-निर्भरता की अवस्था का अन्त हुआ और निर्भरता के युग का प्रारम्भ। प्रयत्न और संतोष के बीच वस्तु विनमय की अवस्था आई।

[३] सामूहिक प्रयत्थों का कालः—कालान्तर में मनुष्य के ज्ञान और सभ्यता में विकास होने लगा। उसने यह अनुभव किया कि यदि एक काम को एक व्यक्ति के बजाय कई व्यक्ति समूह मिलाकर करें तो कार्य आसान हो जायेगा और शीघ्र हो ा। इस कारण विशिष्टीकरण (**Specialization**) और श्रम विभाजन (**Division of Labour**) का जन्म हुआ।

इस अवस्था में जब वस्तु का निर्माण एक व्यक्ति के द्वारा नहीं बल्कि समूह के द्वारा किया जाने लगा तब उत्पादित वस्तु को वितरण करने की समस्या भी सामने आई। सम्मिलित रूप से उत्पन्न की गई वस्तु का विभाजन किया जाने लगा। यदि चार व्यक्तिगों ने मिलकर किसी वस्तु का निर्माण किया तो उसका वितरण उनमें कर दिया जाता था। अब वितरण अवस्था बढ़ गई।

[४] वर्तमान अवस्थाः—आर्थिक अवस्था के तीसरे काल तक वस्तुओं का विनिमय अदला-बदली द्वारा किया जाता था। जब इस प्रणाली में मनुष्य

को कई कठिनाइयाँ नजर आयी और अनुभव हुई तब उसने दूर करने के लिए द्रव्य के माध्यम की सहायता ली। इस प्रकार द्रव्य प्रणाली का आरम्भ हुआ।

समाज के आर्थिक संगठन का इतिहास:—प्राचीन काल से वर्तमान काल तक की आर्थिक अवस्थाओं को जिनमें होकर मनुष्य गुजरा है, हम निम्नलिखित पांच भागों में विभाजित कर सकते हैं:—

१. आखेट युग:—इस युग में मनुष्य प्रायः शिकार कर अपना जीवन निर्वाह करता था। मनुष्य की आवश्यकताएं बहुत ही सीमित थीं और वह प्रकृति का दास था। वह आत्म-निर्भर था अतः विनिमय की समस्या भी न थी। वह अपना जीवन घूम फिर कर व्यतीत करता था। उसके पास कोई निजी सम्पत्ति न थी। वह केवल साधारण औजारों का, जो भी पत्थरों के बने होते थे, प्रयोग करता था। वह अवस्था अत्यन्त सरल थी।

२. चारागाह युग:—इस युग में पशुपालन आरम्भ हुआ। बुद्धि के विकास होने पर मनुष्य ने यह अनुभव किया कि यदि वह पशुओं का शिकार करने के बजाय उनको पालना आरम्भ करे तो उसे अधिक लाभ होगा। उसने उपयोगी पशुओं जैसे गाय, भैंस, बकरी आदि को पालना आरम्भ किया। यह पशु उसको निजि सम्पत्ति बन गए। पशुपालन के साथ साथ पर्यटन-शील जीवन का आरम्भ हुआ। पशुओं के लिए चरागाहों की आवश्यकता हुई। जंगली जानवरों से अपनी तथा अपने पशुओं की रक्षा के लिए वह टोलियां बनाकर चरागाहों की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमने फिरने लगे। भोजन में निश्चितता आजाने के कारण जीवन सुखमय बन गया और जनसंख्या में वृद्धि होने लगी। चरागाहों के लिए युद्ध होते थे जिनके कारण युद्ध में हारे हुए व्यक्तियों को गुलाम बनाकर रखा जाने लगा। इस युग में भूमि पर किसी का अधिकार न था। सभी भूमि गोपाल की थी। केवल गुलाम, हथियार तथा पशु ही निजी सम्पत्ति थी।

३. कृषि अवस्था:—मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि हुई और अब उसने यह अनुभव किया कि यदि अपनी सम्पत्ति को लेकर वह एक स्थान पर रहे तो यह अधिक आरामदायक और लाभप्रद होगा। उसने भूमि पर कृषि करना प्रारम्भ किया और मकान बनाकर एक स्थान पर रहना आरम्भ किया। कृषि में उसे

दासों से काफी सहायता प्राप्त हुई। दास-प्रथा और भी अधिक मजबूत हो गई। भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति बनगई और सभी भूमि गोपाल की अवस्था का अन्त हुआ। एक स्थान पर सुखपूर्वक रहने के कारण जनसंख्या में वृद्धि होने लगी और आर्थिक विकास आरम्भ हुआ। प्रत्येक गांव अपने आप में आत्म-निर्भर था। एक गांव के लोग अपने गांव की आवश्यक वस्तुओं का निर्माण स्वयं करते थे।

४. हस्तकला अवस्था:—समाज में आर्थिक उन्नति के साथ साथ मनुष्य की आवश्यकताओं की संख्या में भी वृद्धि होने लगी। आवश्यकता प्रयत्नों की जननी है। नई आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए नए नए पदार्थ तैयार किए जाने लगे और नए उद्योगों का आरम्भ हुआ। इन उद्योगों को हस्त-कला के नाम से पुकारा जाता है। एक प्रकार का व्यवसाय करने वाले व्यक्ति एक ही स्थान पर प्रायः सम्मिलित रूप से रहने लगे। पेशों का विशिष्टीकरण, श्रम-विभाजन और नगरों की वृद्धि के साथ साथ व्यापार में भी उन्नति हुई।

प्रारम्भ में विनिमय के लिए अदला-बदली की प्रणाली प्रयोग में लाई जाती थी परन्तु कालान्तर में इसका स्थान द्रव्य के माध्यम ने ले लिया और क्रय-विक्रय की प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ।

५. आधुनिक अवस्था:—मनुष्य ने अपने ज्ञान की अत्यधिक वृद्धि की। जिसके परिणामस्वरूप १८ वीं शताब्दी के अन्त में औद्योगिक क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति ने मनुष्य के आर्थिक जीवन को पूर्णतया बदल दिया। अब वस्तुओं के उत्पादन करने के लिए मशीनों का प्रयोग किया जाने लगा। मशीनों के कारण वस्तुओं का उत्पादन अधिक मात्रा में होने लगा और हस्त-कला का विनाश आरम्भ हुआ। बड़े बड़े कल कारखाने स्थापित होने लगे, श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हुई। पूंजीवाद का जन्म हुआ। वितरण और उपभोग की समस्या के साथ साथ कारखाना प्रणाली के दोष भी उत्पन्न हुए। वर्ग-संघर्ष का प्रारम्भ हुआ।

उत्पादन की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति हुई। यातायात और संदेशवाहन के साधनों तथा बैंकों का विकास हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान उन्नतिशील आर्थिक अवस्था को

प्राप्त करने के पहले मनुष्य को कई अवस्थाओं में से गुजरना पड़ा है। उसका आर्थिक विकास सदियों की एक लम्बी कहानी है।

—:※:—

६ अर्थशास्त्र के नियम और अध्ययन की रीतियां

प्रश्न [६] निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखिए:—

[i] अर्थशास्त्र के नियम [ii] आगमन और निगमन रीति।

नियम शब्द का अर्थ भिन्न २ शास्त्रों में विभिन्न अर्थों में लिया जाता है। अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है। विज्ञान की यह विशेषता होती है कि वह कारण और परिणाम के आपसी सम्बन्ध का अध्ययन करने का यत्न करता है। इस प्रकार के अध्ययन के कारण वह कुछ निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचता है। इसे ही नियम कहते हैं। अर्थशास्त्र के नियम आर्थिक नियम कहलाते हैं।

अर्थशास्त्र के नियम अन्य भौतिक विज्ञानो के नियम की भांति दृढ नहीं हैं। जैसे गुरुत्वाकर्षण नियम (Law of Gravitation) यह कहता है कि यदि किसी वस्तु को ऊपर से फेंका जाय तो वह सदा नीचे ही गिरेगी। यह नियम प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक स्थान पर सही रहता है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। परिणाम निश्चित होता है। वैज्ञानिक नियम प्रायः सार्विक (Universal) होते हैं।

प्राकृतिक विज्ञानो की तुलना में अर्थशास्त्र के नियम अनिश्चित होते हैं। इस कारण अन्य वस्तुएं समान रहने पर 'Other things remaining the same' वाक्यांश का प्रयोग आर्थिक नियमों में किया जाता है। आर्थिक नियम हमें यह बतलाते है कि इस कारण का यह परिणाम होने की सम्भावना है परिणाम की घोषणा निश्चयपूर्वक नहीं की जा सकती। जैसे मांग का नियम हमें बतलाता है कि किसी वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने पर उसकी मांग कम हो जाती है और मूल्य कम होने पर मांग बढ़ जाती है। यह नियम

तभी लागू होगा जब परिस्थितियों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन न हो। यदि युद्ध की सम्भावना बढ जाती है तो मूल्य में वृद्धि होनेपर भी मांग में वृद्धि होगी।

प्रो० मार्शल ने आर्थिक नियमो की इस कमी को स्वीकार किया है और इसलिए वह उनकी तुलना गुरुत्वाकर्षण जैसे दृढ और सरल नियमों के स्थान पर ज्वार भाटा के नियमों से करते हैं। ज्वार भाटा के नियम के आधार पर इसकी घोषणा की जाती है कि ज्वार भाटा कब आयेगा, उसकी ऊंचाई क्या होगी आदि। परन्तु यह भविष्यवाणी गलत हो जाती है यदि परिस्थितियों में परिवर्तन हो जायं (आंधी या तूफान आदि आ जाय) यह नियम गुरुत्वाकर्पण के नियम की भांति सरल तथा दृढ नहीं है। इसलिए मार्शल स्वयं आर्थिक नियमों को प्रवृतियों का कथन (**Statements of Economic Tendencies**) बतलाता है।

अध्ययन की रीतियां:—प्रत्येक शास्त्र का अपना एक क्षेत्र होता है। अपने क्षेत्र के अन्तर्गत वह नियमों का निर्माण करने का प्रयत्न करता है जिसके लिए उसे विभिन्न अवस्थाओं और परिस्थितियों का अध्ययन करना पड़ता है। तथा इसी के आधार पर तर्क का सहारा लेकर नियमों का निर्माण किया जाता है। इस प्रणाली को जिसकी सहायता से सूचना एकत्रित कर और तर्क के आधार पर नियमों का निर्माण किया जाता है, अध्ययन की रीति (**Methods of study**) कहते हैं।

अर्थशास्त्र के अध्ययन की रीतियों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं।

[१] निगमन रीति (**Deductive method**):—इस रीति में कुछ आधारभूत और स्वतः सिद्ध बातों को आधार मानकर नियमों का निर्माण किया जाता है। इस रीति में हम सामान्य से विशेष की ओर बढते हैं (**From generalization to particularization**)। निगमन प्रणाली में अवलोकन किया जाता है और फिर उसके आर्थिक कार्यो के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्त निश्चित किये जाते हैं। अन्त में इन सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर नियमों का निर्माण किया जाता है। जैसे उपयोगिता के घटने का नियम (**Law of Diminishing Utility**)। यह रीति अत्यन्त सरल है और अर्थशास्त्र के अधिकतर नियम इसके आधार पर बने हैं।

इस रीति के अपने दोष भी हैं। इसके आधार पर बनाए गये नियम

उसी समय तक सही रहते हैं जब तक 'आधार मानीगई' अवस्थाओं में कोई परिवर्तन नहीं होता है। यदि 'आधार भूत' बातों का गलत अनुमान लगा लिया जाये तो उनको आधार मानकर बनाए गए नियम अवश्य गलत होंगे।

[२] आगमन रीति:—(**Inductive method**):—इसमें हम विशेष रूप से सामान्य की ओर बढते हैं। (**From particularization to generalization**)। इस रीति में पहले तथ्यों और आंकड़ों (**Facts and Figures**) को एकत्रित किया जाता है और फिर उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण कर उनके आधार पर निष्कर्ष निकालकर नियमों का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार इस रीति में अवलोकन तथा अध्ययन और तर्क का महत्वपूर्ण स्थान है।

इस रीति के आधार पर बनाए गए नियम अधिक सही और विश्वासनीय होते हैं। यह रीति इस बात को निश्चत करने में सहायता देती है कि निगमन रीति द्वारा बनाए गए नियम कहां तक सही हैं?

इस रीति में कई दोष भी हैं। इस रीति से नियमों का निर्माण कुछ विशेष समय में एकत्रित किए गए तथ्यों के आधार पर किया जाता है। परिस्थिति में परिवर्तन होने पर नियम गलत हो जाते हैं। अधिकतर व्यक्ति सही तथ्य नहीं बतलाते और इस कारण नियमों का सही निर्माण नहीं हो सकता। आगमन रीति बिना निगमन रीति की सहायता के किसी भी नियम का निर्माण नहीं कर सकती।

इस प्रकार दोनों रीतियों में जहां अपनी २ कुछ विशेषताएं हैं वहां उनमें दोष भी हैं। कोई भी रीति अपने आप में पूर्ण नहीं है। कुछ विषयों के लिए निगमन और कुछ के लिए आगमन रीति ठीक रहती है। यदि श्रम की कार्यक्षमता पर अच्छे मकान, तथा उसे दी जाने वाली अन्य सुविधाओं का क्या प्रभाव पड़ता है, यह जानना चाहे तो हमें आगमन रीति की सहायता लेनी पड़ेगी। अन्त में नियमों का निर्माण करने के लिए तर्क की सहायता लेनी पड़ती है। यदि हम जानना चाहें कि पूंजी का संचय किस पर निर्भर करता है तो हमें निगमन रीति की सहायता लेनी होगी।

आर्थिक सत्य की शोध और आर्थिक नियमों के निर्माण में दोनों ही

तभी लागू होगा जब परिस्थितियों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन न हो। यदि युद्ध की सम्भावना बढ जाती है तो मूल्य में वृद्धि होनेपर भी मांग में वृद्धि होगी।

प्रो० मार्शल ने आर्थिक नियमों की इस कमी को स्वीकार किया है और इसलिए वह उनकी तुलना गुरुत्वाकर्षण जैसे दृढ और सरल नियमों के स्थान पर ज्वार भाटा के नियमों से करते हैं। ज्वार भाटा के नियम के आधार पर इसकी घोषणा की जाती है कि ज्वार भाटा कब आयेगा, उसकी ऊंचाई क्या होगी आदि। परन्तु यह भविष्यवाणी गलत हो जाती है यदि परिस्थितियों में परिवर्तन हो जायं (आंधी या तूफान आदि आ जाय) यह नियम गुरुत्वाकर्षण के नियम की भांति सरल तथा दृढ नहीं है। इसलिए मार्शल स्वयं आर्थिक नियमों को प्रवृतियों का कथन (**Statements of Economic Tendencies**) बतलाता है।

अध्ययन की रीतियां:—प्रत्येक शास्त्र का अपना एक क्षेत्र होता है। अपने क्षेत्र के अन्तर्गत वह नियमों का निर्माण करने का प्रयत्न करता है जिसके लिए उसे विभिन्न अवस्थाओं और परिस्थितियों का अध्ययन करना पड़ता है। तथा इसी के आधार पर तर्क का सहारा लेकर नियमों का निर्माण किया जाता है। इस प्रणाली को जिसकी सहायता से सूचना एकत्रित कर और तर्क के आधार पर नियमों का निर्माण किया जाता है, अध्ययन की रीति (**Methods of study**) कहते हैं।

अर्थशास्त्र के अध्ययन की रीतियों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं।

[१] निगमन रीति (**Deductive method**):—इस रीति में कुछ आधारभूत और स्वतः सिद्ध बातों को आधार मानकर नियमों का निर्माण किया जाता है। इस रीति में हम सामान्य से विशेष की ओर बढते हैं (**From generalization to particularization**)। निगमन प्रणाली में अवलोकन किया जाता है और फिर उसके आर्थिक कार्यों के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्त निश्चित किये जाते हैं। अन्त में इन सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर नियमों का निर्माण किया जाता है। जैसे उपयोगिता के घटने का नियम (**Law of Diminishing Utility**)। यह रीति अत्यन्त सरल है और अर्थशास्त्र के अधिकतर नियम इसके आधार पर बने हैं।

इस रीति के अपने दोष भी हैं। इसके आधार पर बनाए गये नियम

उसी समय तक सही रहते हैं जब तक 'आधार मानीगई' अवस्थाओं में कोई परिवर्तन नहीं होता है। यदि 'आधार भूत' बातों का गलत अनुमान लगा लिया जाये तो उनको आधार मानकर बनाए गए नियम अवश्य गलत होंगे।

[२] आगमन रीतिः—(**Inductive method**):—इसमें हम विशेष रूप से सामान्य की ओर बढते हैं। (**From particularization to generalization**)। इस रीति में पहले तथ्यों और आंकड़ों (**Facts and Figures**) को एकत्रित किया जाता है और फिर उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण कर उनके आधार पर निष्कर्ष निकालकर नियमों का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार इस रीति में अवलोकन तथा अध्ययन और तर्क का महत्वपूर्ण स्थान है।

इस रीति के आधार पर बनाए गए नियम अधिक सही और विश्वासनीय होते हैं। यह रीति इस बात को निश्चत करने में सहायता देती है कि निगमन रीति द्वारा बनाए गए नियम कहां तक सही हैं ?

इस रीति में कई दोष भी हैं। इस रीति से नियमों का निर्माण कुछ विशेष समय में एकत्रित किए गए तथ्यों के आधार पर किया जाता है। परिस्थिति में परिवर्तन होने पर नियम गलत हो जाते हैं। अधिकतर व्यक्ति सही तथ्य नहीं बतलाते और इस कारण नियमों का सही निर्माण नहीं हो सकता। आगमन रीति बिना निगमन रीति की सहायता के किसी भी नियम का निर्माण नहीं कर सकती।

इस प्रकार दोनों रीतियों में जहां अपनी २ कुछ विशेषताएं हैं वहां उनमें दोष भी हैं। कोई भी रीति अपने आप में पूर्ण नहीं है। कुछ विषयों के लिए निगमन और कुछ के लिए आगमन रीति ठीक रहती है। यदि श्रम की कार्यक्षमता पर अच्छे मकान, तथा उसे दी जाने वाली अन्य सुविधाओं का क्या प्रभाव पड़ता है, यह जानना चाहे तो हमें आगमन रीति की सहायता लेनी पड़ेगी। अन्त में नियमों का निर्माण करने के लिए तर्क की सहायता लेनी पड़ती है। यदि हम जानना चाहें कि पूंजी का संचय किस पर निर्भर करता है तो हमें निगमन रीति की सहायता लेनी होगी।

आर्थिक सत्य की खोज और आर्थिक नियमों के निर्माण में दोनों ही

रीतियों का उपयोग करना आवश्यक है। वास्तव में दोनों एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं। अर्थशास्त्र के अध्ययन में आगमन रीति और निगमन रीति दोनों का प्रयोग उसी प्रकार करना पड़ता है जिस प्रकार चलने के लिए बाएं और दाएं दोनों पैरों की आवश्यकता होती है।

—:❀:—

७ उपयोगिता मूल्य कीमत और धन

प्रश्न (१०) उपयोगिता और मूल्य तथा कीमत के अन्तर को बतलाते हुए उनके आपसी सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए। **(Raj. 1954)**

मूल्य **(Value)**:- साधारण बोलचाल की भाषा में जिस अर्थ में मूल्य का प्रयोग किया जाता है, उस अर्थ में उसका प्रयोग अर्थशास्त्र में नहीं किया जाता। साधारण भाषा में इस शब्द का प्रयोग लाभदायक या हितकारी होने के अर्थ में किया जाता है। मार्शल के अनुसार अर्थ **(Value)** दूसरी वस्तु की वह मात्रा है जो पहली वस्तु के बदले में मिलती है। मूल्य एक तुलनात्मक शब्द है। वह किसी एक समय या स्थान पर दो विभिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध को बतलाता है। उदाहरण के लिए यदि १ पेन के बदले में ४ पेन्सिल प्राप्त हो सकती हैं तो इसका यह अर्थ हुआ कि १ पेन का मूल्य १ पेन्सिल से चार गुना है।

उपयोगिता **(Utility)** :—उपयोगिता और लाभदायक होना एक ही बात नहीं है। अर्थशास्त्र में उपयोगिता किसी वस्तु की उस क्षमता को कहते हैं जो किसी आवश्यकता की संतुष्टि करती हो। वस्तु हानिकारक है या लाभदायक, यदि वह किसी आवश्यकता की संतुष्टि करती है तो उसमें उपयोगिता है। यहां यह याद रखना है कि उपयोगिता वस्तुगत नहीं होती क्योंकि वह उसका आन्तरिक गुण नहीं है। वह व्यक्तिगत होती है। यदि कोई वस्

A की किसी आवश्यकता को संतुष्ट करती है तो उसमें उसके लिए उपयोगिता मौजूद है और यदि वही वस्तु B की किसी आवश्यकता को संतुष्ट नहीं करती तो उसमें उसके लिए उपयोगिता विद्यमान नहीं है।

अतः प्रो. थोमस (Thomas) ने ठीक ही मत प्रकट किया है कि:—

"चाहे किसी वस्तु के उपभोग का (उसके) उपभोक्ताओं पर बुरा प्रभाव पडे और चाहे उपभोग से समाज का अहित हो परन्तु यदि वह किसी उपभोक्ता के मस्तिष्क अथवा शरीर की किसी आवश्यकता की पूर्ति करती है तब उसमें उपयोगिता मानी जाती है।"

कीमत (Price) :—जब किसी वस्तु या सेवा का मूल्य अन्य किसी वस्तुओं में नहीं परन्तु द्रव्य या मुद्रा (Money) में प्रकट किया जाता है तो उसे कीमत कहते हैं। उदाहरण के लिए १ पेन का मूल्य १ रु० है तो यह इसकी कीमत कहलायेगी।

मनुष्य किसी वस्तु की कीमत उसी समय देने के लिए तैयार रहता है जब वह वस्तु उसकी आवश्यकता की संतुष्टि करने की क्षमता रखती है अर्थात उसमें उपयोगिता हो। किसी भी वस्तु का मूल्य उसी समय होता है जब वह अपने बदले में दूसरी वस्तुएँ प्राप्त कर सकती हो। इसलिए उसमें दो गुणों का होना आवश्यक है:—(१) उपयोगिता (२) उसकी मात्रा सीमित होनी चाहिए। यदि वह असीमित मात्रा में उपलब्ध है तो उसका कोई भी मूल्य न होगा। उदाहरण के लिए हवा का कोई भी मूल्य नहीं है क्योंकि वह असीमित मात्रा में प्राप्त है अतः जब वस्तु में उपयोगिता होगी और वह दूसरी वस्तुओं को प्राप्त करने की क्षमता रखेगी अर्थात उसमें विनिमय-गत-मूल्य (Value-in-Exchange) होगा तभी कोई व्यक्ति उसके लिए कीमत देने के लिए तैयार होगा।

प्रश्न (११) क्या कारण है कि एक बहुत ही उपयोगी वस्तु जैसे रोटी, एक कम उपयोगी वस्तु जैसे हीरा से कम मूल्यवान है और बहुत ही उपयोगी वस्तु जैसे हवा का कुछ भी मूल्य नहीं होता है ?

मूल्य किसी वस्तु की उस क्षमता को कहते हैं जिसके कारण वह अपने बदले में अन्य दूसरी वस्तुएँ प्राप्त करती है। इस प्रकार अर्थशास्त्र में मूल्य

शब्द का प्रयोग 'विनिमय-गत-मूल्य' (**Value-in-Exchange**) के अर्थ में किया जाता है।

किसी वस्तु का विनिमय-गत-मूल्य होने के लिए दो बातों का होना आवश्यक है। (१) उस वस्तु में उपयोगिता होनी चाहिए। (२) उसकी मात्रा सीमित होनी चाहिए।

एक वस्तु जो मनुष्य की आवश्यकता की संतुष्टि करती है चाहे वह हानिकारक ही क्यों न हो उपयोगिता रखती है। प्रत्येक वस्तु में उपयोगिता समान नहीं होती। वह कम, अधिक हो सकती है। मनुष्य किसी वस्तु का मूल्य, वह उपयोगी हो, तभी देता है।

वस्तु के मूल्य निर्धारण में इस बात का प्रभाव पड़ता है कि क्या उसकी पूर्ति उसकी माँग से अधिक है या कम ? क्या वह सीमित है या असीमित ? जिस वस्तु की मात्रा जितनी ही अधिक सीमित होगी उसका मूल्य उतना ही अधिक होगा। रोटी हीरे की तुलना में बहुत ही अधिक उपयोगी है परन्तु उसकी मात्रा उतनी अधिक सीमित नहीं है जितनी कि हीरे की। इसी कारण रोटी जैसी वस्तु का, जो अत्यन्त उपयोगी है हीरे की तुलना में जो कम उपयोगी है, मूल्य कम होता है। हीरे का मूल्य उसकी सीमितता के कारण अधिक होता है। रोटी सामान्यतः सीमित नहीं होती और जीवन के लिए एक अनिवार्यता है जो सरलता से प्राप्त हो जाती है।

इसके विपरीत हवा की उपयोगिता बहुत ही अधिक होती है। उसके बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। परन्तु उसका कुछ भी मूल्य नहीं होता क्योंकि उसकी मात्रा असीमित है। वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता पर ही नहीं उसकी दुर्लभता (सीमितता) और हस्तान्तरिता पर निर्भर रहता है। हवा को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता और न ही उसकी मात्रा सीमित है। इसी कारण उसका कोई मूल्य नहीं है।

किसी वस्तु का मूल्य तब ही होता है जब उसमें उपयोगिता, असीमितता, और परिवर्तनशीलता के गुण मौजूद हों। जो वस्तु जितनी अधिक सीमित होगी और उसमें परिवर्तनशीलता का गुण यदि है तो उसका मूल्य उतना ही अधिक होगा।

प्रश्न १२. धन (Wealth) किसे कहते हैं? क्या निम्नलिखित वस्तुएँ धन मानी जा सकती हैं—(a) B. A. की Degree (b) (Good will) प्रतिष्ठा (c) Copyright (d) देश के प्राकृतिक साधन (e) रेत।

वह सब वस्तुएँ जिनमें मूल्य या अर्थ होता है धन या सम्पत्ति कहलाती हैं। ऐसी वस्तुएँ जिनका क्रय-विक्रय करना संभव नहीं, वह धन नहीं मानी जा सकती।

धन में तीन गुणों का होना अति आवश्यक है:

(१) उपयोगिता (२) दुर्लभता (३) स्वामत्विशीलता।

(i) उपयोगिता :—उस वस्तु में किसी व्यक्ति की आवश्यकता को संतुष्ट करने की क्षमता होनी चाहिए। इस गुण के अभाव में कोई भी उसे खरीदना नहीं चाहेगा। देखिये प्रश्न नं० ११

(ii) दुर्लभता :-अगर वस्तु की पूर्ति उसकी मांग से कहीं ज्यादा अधिक है तो उसका कोई मूल्य न होगा जैसे हवा, पानी, प्रकाश। अतः किसी वस्तु पर मनुष्य तभी खर्च करेगा जब वह दुर्लभ हो। इसलिए दुर्लभता भी धन का एक आवश्यक गुण है।

(iii) स्वामित्वशीलता:- कोई भी वस्तु धन उस समय कहलायेगी जब उसका स्वामी बदला जा सके। सूर्य और चन्द्र पर कोई व्यक्ति अपना अधिकार स्थापित नहीं कर सकता। इस कारण उनका कोई भी मूल्य नहीं है। मनुष्य किसी वस्तु का मूल्य उसी अवस्था में देगा जब वह उस वस्तु पर अपना व्यक्तिगत अधिकार रख सके।

कोई भी वस्तु धन उसी समय कहलायेगी जब उसमें उपरोक्त तीनों गुण मौजूद हों। इनमें से एक के भी अभाव में वह धन नहीं होगी।

(a) B. A. की डिग्री:- यह धन नहीं है क्योंकि इसमें उपयोगिता और दुर्लभता के होते हुए भी परिवर्तनशीलता नहीं है। कोई भी व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की (Degree) को खरीद कर स्वयं B. A. नहीं लिख सकता।

(b) Goodwill:—यह धन है क्योंकि इसमें तीनों गुण विद्यमान हैं। दुर्लभ है क्योंकि प्रत्येक व्यापारी प्रतिष्ठा स्थापित नहीं कर सकता। जब

८ उपभोग
Comsumption

प्रश्न (१४) उपभोग का क्या अर्थ है ? उपभोग के अध्ययन के महत्व को समझाइए।

साधारण बोलचाल की भाषा में उपभोग शब्द का अर्थ खाने से लिया जाता है। जैसे रोटी का उपभोग। परन्तु अर्थशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थों में किया जाता है। प्रो. पेन्सन (**Penson**) के मतानुसार "आवश्यकता की पूर्ति के लिए धन का उपभोग ही अर्थशास्त्र में उपभोग कहलाता है।"

प्रो. ऐली (**Ely**) का कहना है:—

"विस्तृत अर्थ में उपभोग का अर्थ आर्थिक वस्तुओं तथा व्यक्तिगत सेवाओं का मनुष्य की आवश्यकताओं की संतुष्टि करने के हेतु किए जाने वाले उपयोग से है।" आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग दो प्रकार से होता है।

(i) प्रत्यक्ष:—जैसे प्यास लगने पर पानी का उपभोग।

(ii) अप्रत्यक्ष:—जैसे इन्जन में कोयले का प्रयोग। इससे वह कार्य करता है और दूसरी आवश्यकता की वस्तु तैयार होती है। इसे हम अर्थशास्त्र में उत्पत्ति कहते हैं।

मानवीय आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष संतुष्टि के लिए उपयोगिता का नष्ट होना उपभोग कहलाता है। उपभोग करने पर कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती है।

उपभोग के महत्व को हम दो भागों में विभिक्त कर सकते हैं। (i) सैद्धान्तिक (ii) व्यवहारिक महत्व।

(i) सैद्धान्तिक महत्व:—उपभोग सभी आर्थिक क्रियाओं की जननी है। जब किसी व्यक्ति को किसी वस्तु विशेष की आवश्यकता अनुभव होती है, तब वह उसकी संतुष्टि करने के लिए प्रयत्न करता है। अगर व्यक्ति को किसी वस्तु विशेष का उपभोग करना आवश्यक न हो तो वह उस वस्तु विशेष का उत्पादन करने का किसी भी अवस्था में प्रयास नहीं करेगा और न ही विनिमय और वितरण की क्रियाओं को जन्म देगा।

मनुष्य अपनी अनन्त आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए आर्थिक प्रयत्न करता है। वह अपने श्रम (शारीरिक या मानसिक) से प्राप्त प्रतिफल की सहायता से अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं को खरीद कर उनका उपभोग कर अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि करता है। संक्षेप में उपभोग सभी उत्पादन का कारण और उद्देश्य है।

आर्थिक क्रियाओं का मुख्य उद्देश्य उपभोग होता है। मनुष्य आर्थिक प्रयत्न करता है जिसका केवल एकमात्र उद्देश्य होता है—आवश्यकताओं की संतुष्टि अर्थात उपभोग। अतः उपभोग अर्थशास्त्र का आदि और अन्त है।

उपभोग का स्वभाव राष्ट्र की आर्थिक प्रगति और समृद्धि का माप है। जिस राष्ट्र के लोग जितनी अधिक वस्तुओं का उपभोग करते हैं वह राष्ट्र उतना ही अधिक सम्पन्न और समृद्धिशाली माना जाता है।

(ii) व्यवहारिक महत्व:—

(१) उपभोक्ताओं को लाभ:—इसके अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि वह अपनी सीमित आय को किस प्रकार से खर्च करे ताकि इसे सीमित आय से अधिकतम संतुष्टि (Maximum Satisfaction) प्राप्त हो सके। सम-सीमान्त उपयोगिता नियम (Law of Equi-Marginal Utility) इसमें काफी सहायता देता है।

(२) राजनीतिज्ञों को लाभ :—वर्तमान सरकारों का उद्देश्य समाज कल्याण (Social welfare) है। समाज में उत्पादित की जाने वाली तमाम वस्तुएं अच्छी नहीं होतीं उनमें कई हानिकारक भी हो सकती हैं जैसे मादक वस्तुएं। सरकार ऐसी वस्तुओं पर कर की मात्रा बढ़ा कर इनके उपभोग को कम करने का प्रयास करती है।

निर्माण के काम में लाने के लिए शहर में लाया जाता है तो उसमें उपयोगिता की वृद्धि होती है।

(३) समय मूलकः— कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि यदि उसे लम्बे समय तक रखा जाय तो उसकी उपयोगिता में वृद्धि होती है। इसे समय मूलक उपयोगिता कहते हैं। जैसे शराब, यदि उसे अधिक समय तक रखा जाय तो उसकी उपयोगिता में वृद्धि होती है।

(४) अधिकार परिवर्तन द्वाराः— जब किसी वस्तु की उपयोगिता में स्वामी बदलने से वृद्धि होती है तो इसे अधिकार परिवर्तन द्वारा उत्पत्ति करना कहते हैं। जैसे एक पेन वेचने वाले को उससे इतनी अधिक उपयोगिता प्राप्त नहीं होती जितनी उसके खरीदने वाले को। अतः इस प्रकार प्रत्येक व्यापारी अपने माल को उपभोक्ताओं को वेचकर उत्पत्ति का कार्य करते हैं।

(५) ज्ञान बढ़ाकर उत्पत्ति करनाः—जब किसी वस्तु की उपयोगिता में वृद्धि, उसके विषय में ज्ञान होने के कारण होती है तब उसे ज्ञान की वृद्धि कर उत्पादन करना या ज्ञान मूलक उपयोगिता कहते हैं। उदाहरण के लिए जब एक व्यक्ति रेडियो सीलोन पर किसी एक विशेष वस्तु का विज्ञापन कर बार २ सुनता है और उससे प्रभावित हो वह उस वस्तु विशेष को जिसके विषय में उसे ज्ञान रेडियो विज्ञापन के द्वारा हुआ, खरीदता है तो हम उसे ज्ञान में वृद्धि द्वारा उत्पत्ति करना कहेंगे। अतः विज्ञापन प्रसारक उत्पादक है।

(६) सेवा मूलक उपयोगिताः— जब कभी उपयोगिता ऐसी सेवा द्वारा उत्पन्न की जाती है जो नजर नहीं आती तो इसे सेवा मूलक उपयोगिता या सेवा करके उत्पत्ति करना कहते हैं। उदाहरण के लिए गाय, अध्यापक, नर्स, सैनिक आदि ऐसी सेवाएँ करते हैं जो उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को संतुष्ट करती हैं। आर्थिक दृष्टि से यह सब उत्पादक हैं। इससे स्पष्ट है कि किसान, कारखाने में काम करने वाले श्रमिक की भांति ही गाय, वकील, नर्स आदि भी उत्पादक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य विभिन्न तरीकों से वस्तुओं की उपयोगिताओं में वृद्धि करता है या उनका सृजन करता है ताकि वह उनके द्वारा

अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि कर सके। वह आवश्यकताओं की संतुष्टि उत्पादित वस्तुओं का उपभोग करके ही कर सकता है।

मानवीय आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष संतुष्टि के लिए उपयोगिता का नष्ट होना उपभोग कहलता हैं। उपभोग करने पर वस्तु नष्ट नहीं होती। विज्ञान के नियम के अनुसार किसी भी पदार्थ को नष्ट करना संभव नहीं है। उदाहरण के लिए स्याही से लिखना उपभोग है क्योंकि इसके प्रयोग से हमारी आवश्यकता संतुष्ट होती है। परन्तु स्याही का जमीन पर ढुल जाना उपभोग नहीं क्योंकि इससे हमारी आवश्यकता की संतुष्टि नहीं होती। वह उपभोग नहीं धन का नाश है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि उपभोग में वस्तु का नाश नहीं केवल आवश्यकता की पूर्ति होने पर उसमें विद्यमान उपयोगिता का नाश होता है।

अतः यह कहना बिलकुल ही उचित और सही है कि उत्पत्ति में उपयोगिता का सृजन होता है और आवश्यकता की पूर्ति होने पर उपभोग में "उपयोगिता का नाश है।"

प्रश्न (१६) उपभोग की परिभाषा दीजिए। उपभोग को अर्थ-शास्त्र का आदि और अन्त क्यों माना जाता है? समझाइए।

(Nagpur 1954, Ajmer 58, U. P. 53)

उपभोग की परिभाषा के लिए देखिए प्रश्न (१३)

मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त होती हैं। इनकी पूर्ति बिना प्रयत्नों के किसी भी अवस्था में संभव नहीं हो सकती। वह अपनी आवश्यकताओं को तृप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। आवश्यकताओं की संतुष्टि वस्तुओं का उपभोग करके ही की जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य आर्थिक प्रयत्न उन साधनों को प्राप्त करने के लिए करता है—जिससे वह वस्तुओं का उपभोग करके अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट कर सके।

वस्तुओं के उपभोग करने के पहले उन वस्तुओं का जिनका वह उपभोग करना चाहता है उत्पादन करना जरूरी है। मनुष्य केवल उन वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनका वह उपभोग करना चाहता है। इसलिए यह कहा जाता है कि आवश्यकता आर्थिक क्रियाओं की जननी है दूसरे शब्दों में उपभोग सभी आर्थिक क्रियाओं की जननी है।

वस्तुओं का उत्पादन उपभोग के लिए किया जाता है। इससे विनिमय और वितरण का उदय होता है। व्यक्तिगत आय से मनुष्य उत्पादित वस्तु को अपनी आवश्यकता की संतुष्टि के लिए खरीदता है। इस प्रकार विनिमय का आरम्भ होता है और फिर प्राप्त धन को उत्पादन में भाग लेने वालों को वितरित किया जाता है। अतः उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय और वितरण क्रियाओं का जनक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक क्रियाएँ वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए साधन प्राप्त करने के हेतु की जाती हैं—अर्थात् 'उपभोग' के साधन की प्राप्ति के लिए की जाती हैं। इसके साथ ही वस्तुओं का निर्माण भी केवल उसी अवस्था में किया जाता है जब उसका उपभोग किया जाता हो। आर्थिक क्रिया का अन्त भी उपभोग से प्रारम्भ होकर उपभोग पर ही समाप्त होता है। उपभोग से ही आर्थिक क्रियाओं का चक्र आरम्भ होता है और यह चक्र उपभोग पर ही समाप्त होता है।

इस प्रकार उपभोग की इच्छा ही आर्थिक प्रयत्नों का मूल कारण और इनका चरम लक्ष्य है। उपभोग ही अर्थशास्त्र का आधार है। इस कारण उपभोग को अर्थशास्त्र का आदि और अन्त माना जाता है।

—:※:—

६ आवश्यकताएँ तथा उनका वर्गीकरण

Wants and its Classification

प्रश्न (१७) आवश्यकता किसे कहते हैं? उनकी क्या-क्या विशेषतायें होती हैं तथा उन पर कौन-कौन से नियम आधारित हैं?

(U. P. 42, 51, M. P. 54, Raj. 49)

उत्तर—मनुष्य को कई वस्तुएँ प्राप्त करने की इच्छाएँ होती हैं। परन्तु वह अपनी प्रत्येक इच्छा की, उसके पास सीमित साधन होने के कारण

संतुष्टि नहीं कर पाता है। केवल वही इच्छाएँ जो संतुष्ट की जाती हैं आवश्यकताएँ कहलाती हैं। अर्थात् प्रभावोत्पादक इच्छा ही आवश्यकता है। प्रो० पेन्सन अपनी पुस्तक **Economics of Every-day Life** में आवश्यकता की परिभाषा इस प्रकार से देते हैं:—

"आवश्यकता मनुष्य की उस इच्छा को कहते हैं जिसकी पूर्ति के लिए उसके पास पर्याप्त साधन और शक्ति हो और वह उन्हें उस इच्छा को संतुष्ट करने के लिए व्यय करने को तैयार हो।" आवश्यकता में तीन बातों का जो निम्नलिखित हैं होना अनिवार्य है:—

(*i*) वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा।

(**ii**) उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त साधन का होना और

(**iii**) उस साधन को खर्च करने की तत्परता।

मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए आर्थिक प्रयत्न करता है। उसकी आवश्यकताएँ असंख्य होती हैं और उनमें कई विशेषतायें होती हैं जिन पर अर्थशास्त्र के अधिकतर नियम आधारित होते हैं। उनकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

(१) आवश्यकताएँ अनन्त होती हैं—मनुष्य की आवश्यकताएँ असंख्य होती हैं। इसके विपरीत उसके पास उनको संतुष्ट करने के साधन बहुत ही कम होते हैं। इनमें से सारी आवश्यकताओं की संतुष्टि असंभव है। असंतुष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह और अधिक प्रयत्न करता है। आवश्यकता की संतुष्टि हो जाने पर कई नई आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनके लिए वह और अधिक प्रयत्न करता है। यह क्रम निरन्तर चलता ही रहता है।

नियमः—अंग्रेजी में एक कहावत है—"**Necessity is the mother of invention**" अर्थात् आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। अतः प्रगति के नियम का मुख्य आधार यह विशेषता है।

(२) एक विशेष समय में आवश्यकता विशेष की पूर्ण संतुष्टि की जा सकती है—मनुष्य की आवश्यकताएँ असीमित होती हैं और उसके साधन सीमित। अतः उसकी तमाम आवश्यकताओं को संतुष्ट करना असम्भव है परन्तु किसी एक विशेष समय में आवश्यकता विशेष की संतुष्टि की जा सकती है।

नियम--इस विशेषता पर उपयोगिता के क्रमशः घटने का नियम (**Law of Diminishing Utility**) आधारित है। यह नियम बत-लाता है कि जैसे-जैसे किसी व्यक्ति के पास एक विशेष वस्तु के स्टाक में वृद्धि होती है वैसे-वैसे आने वाली प्रत्येक नई इकाई से घटती हुई दर पर उपयोगिता प्राप्त होती है।

(३) आवश्यकताओं में प्रतिस्पर्धा (प्रतियोगिता) होती है:--मनुष्य की आवश्यकताएँ असीमित और साधन सीमित हैं।

इस कारण वह अपनी समस्त आवश्यकताओं की संतुष्टि नहीं कर पाता। अतः यह अपनी असंख्य आवश्यकताओं में सबसे पहले उनको संतुष्ट करता है जिसकी तीव्रता सबसे अधिक होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि आवश्यकताओं में प्रतिस्पर्धा होती है।

नियम--इस गुण पर प्रतिस्थापन का नियम (**Law of Substi tution**) आधारित है। आवश्यकताओं में प्रतिस्पर्धा होती है। इस कारण मनुष्य कम आवश्यक वस्तुओं के स्थान पर अधिक आवश्यक वस्तुओं का उप-भोग पहले करता है।

(४) कुछ आवश्यकताएँ पूरक होती हैं--कई वस्तुएँ इस प्रकार की होती हैं कि उनका उपभोग तभी हो सकता है जब उनकी पूरक वस्तु भी हो। एक के अभाव में दूसरी का भी उपभोग नहीं किया जा सकता। जैसे पेन और स्याही।

नियम--इस पर संयुक्त मांग का नियम आधारित है। एक वस्तु की मांग होने पर अपने आप उसकी दूसरी पूरक वस्तु की मांग हो जाती है।

(५) कुछ आवश्यकताएँ कालान्तर में आदत में बदल जाती हैं--जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु का उपभोग बार-बार करता है तो कालान्तर में उस वस्तु का उपभोग करना उसके लिए आवश्यक हो जाता है। वह आदत बन जाती है। यह आदतें ही मनुष्य के जीवन स्तर को निर्धारित करती हैं।

(६) वर्तमान आवश्यकताएँ भविष्य की आवश्यकताओं से अधिक महत्वपूर्ण होती हैं--मनुष्य का भविष्य निश्चित नहीं है। इसी कारण वह

वर्तमान को अधिक महत्व देता है। इसलिए वह अपनी वर्तमान आवश्यकताओं को पहले संतुष्ट करने के लिए लालायित रहता है।

नियम—इस लक्षण पर ब्याज का समय अधिमान नियम आधारित है। वर्तमान को भविष्य से जितना अधिक महत्व दिया जायेगा, उतनी ही अधिक ब्याज की दर होगी।

(७) ज्ञान में विकास होने पर आवश्यकताओं में वृद्धि होती है—आवश्यकताओं की अधिकता के कारण वे बदलती रहती हैं। जैसे-जैसे उसके ज्ञान में वृद्धि होती है अर्थात् नई वस्तुओं के विषय में मनुष्य को जानकारी प्राप्त होती है वैसे-वैसे उसकी आवश्यकताओं में वृद्धि होती रहती है।

(८) आवश्यकताएँ बार-बार अनुभव होती हैं—किसी एक वस्तु की आवश्यकता संतुष्ट होने पर उसकी आवश्यकता फिर से उत्पन्न हो सकती है। जैसे पानी पीने के बाद एक व्यक्ति की प्यास बुझ जाती है परन्तु कुछ समय के बाद पानी की आवश्यकता फिर से उत्पन्न हो सकती है।

(९) आवश्यकताओं की तीव्रता भिन्न-भिन्न होती है—मनुष्य की आवश्यकताएँ अधिक होती हैं। परन्तु उसके पास समस्त आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं होते। इस कारण वह सर्वप्रथम उन आवश्यकताओं पर ही अपना धन व्यय करता है जिनकी तीव्रता सबसे अधिक होती है। उनको संतुष्ट करने के पश्चात् यदि उसके पास कुछ धन शेष रह जाता है तब वह कम तीव्रता वाली आवश्यकताओं को संतुष्ट करने का प्रयत्न करता है।

नियम—इस लक्षण पर सम-सीमान्त उपयोगिता नियम Law of Equi-Marginal Utility आधारित है। यह नियम बताता है कि किस प्रकार अपनी सीमित आय का व्यय करना चाहिए, ताकि उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो सके।

(१०) आवश्यकताओं पर [illegible] रीति-रिवाज [illegible] परिवर्तन का [illegible] है—[illegible] प्रचलित रीति-रिवाज [illegible] कुछ ऐसी आवश्यकताएँ [illegible]

आवश्यकताओं पर फैशन के परिवर्तन का भी प्रभाव पड़ता है। यदि किसी वस्तु का फैशन खत्म हो जाता है तो उसकी आवश्यकता भी न रहेगी और ठीक इसी प्रकार नया फैशन प्रचलित होने पर मनुष्य उसे उपभोग करना चाहेगा।

(११) कुछ आवश्यकताएँ वैकल्पिक होती हैं--जिनकी संतुष्टि विभिन्न वस्तुओं का उपभोग करके की जा सकती हैं ये आवश्यकताएँ वैकल्पिक होती हैं। जैसे- अगर किसी व्यक्ति को प्यास लगी है तो वह पानी, लेमन, सोडा आदि पीकर संतुष्ट हो सकता है।

आवश्यकताओं की यह विशेषताएँ प्रायः हर देश व काल में सही उतरती हैं। इसी कारण अर्थशास्त्र के महत्वपूर्ण नियम इन विशेषताओं (लक्षणों) पर आधारित हैं।

प्रश्न (१८) आवश्यकताओं के प्रधान लक्षण क्या हैं ? क्या आवश्यकताओं की संख्या में वृद्धि हितकर होती है ?

(U. P. 42, Nagpur 1954, Ajmer 49)

उत्तर---आवश्यकताओं के प्रधान लक्षण के लिए देखिए प्रश्न नं० (१७)

मनुष्य अपना जीवन आनन्दमय, शान्तिमय और सुखमय बनाने के सपने देखता है। जब जरूरी आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है तब उसे परम सुख और आनन्द मिलता है और असंतुष्ट रहने पर ग्लानि, दुःख और असंतोष। जब मनुष्य के जीवन का उद्देश्य उसे अधिक से अधिक सुख और आनन्दमय बनाना है तब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से आता है कि क्या उसकी आवश्यकताओं में वृद्धि होनी चाहिए और क्या वह उसके हित में होगी ?

वृद्धि होनी चाहिए और वह हितकर है---यह मानने वाले विद्वानों का कहना है कि आवश्यकताओं की वृद्धि होने पर सभ्यता की प्रगति होती है। जब प्राचीन मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित थीं तब वह असभ्य अवस्था में था। परन्तु कालान्तर में आवश्यकताओं में वृद्धि होने पर उन्हें संतुष्ट करने का वह प्रयत्न करने लगा जिससे नई वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ हुआ और सभ्यता, विकास तथा जीवन स्तर में भी उन्नति हुई। मनुष्य की आवश्यकताएँ जितनी अधिक होंगी, उनको तृप्त करने के प्रयत्न भी उतने ही अधिक होंगे। आवश्य-

कता ही आर्थिक प्रयत्नों की जननी है। इस कारण समाज का आर्थिक विकास होगा।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि आवश्यकताओं की संख्या कम होनी चाहिए उनका कहना है कि जब मनुष्य की आवश्यकताएँ अधिक होती हैं और उन्हें संतुष्ट करने के साधन कम होनेपर असंतुष्ट रह जाती हैं तब उसे दुख और ग्लानि अनुभव होती हैं। इस कारण संसार में कलह और युद्ध होते रहते हैं। एक व्यक्ति अपने सुख के लिए दूसरे का शोषण करता है। आवश्यकताओं की वृद्धि के कारण हमेशा असंतोष के बादल छाये रहेंगे। अतः स्थायी सुख के लिए आवश्यकताओं पर नियंत्रण करना अति आवश्यक है।

इन दोनों विचारधाराओं में अतिशयोक्ति Extreme views) है। दोनो मत केवल एक तरफा मत रखते हैं। व्यावहारिक जीवन में समस्त आवश्यकताओं को त्यागना असंभव है। साथ ही आवश्यकताओं की अधिकता होने पर अधिकतम सुख की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। मनुष्य की आवश्यकताएँ न तो बहुत ही अधिक होनी चाहिए और न बहुत ही कम। उनकी आवश्यकताओं की संख्या इतनी होनी चाहिए कि वह अपने प्रयत्नों द्वारा उन्हें संतुष्ट कर पाने का सामर्थ्य रखता हो। तृष्णा और वासनाओ से युक्त जीवन कभी सुखमय नहीं बन सकेगा। उसमें असंतोष का साम्राज्य होगा। अतः सुखी जीवन के लिए मनुष्य को अपने सामर्थ्य के अनुसार उन पर नियंत्रण करने का प्रयत्न करना चाहिए। "सादा जीवन और उच्च विचार" (Simple living and High thinking) का ध्येय आर्थिक दृष्टि से सर्वोत्तम है।

प्रश्न १९) मोहन का कहना है कि रेडियो एक विलासिता की वस्तु है, साइकिल एक आरामदायक वस्तु है और पेन एक अनिवार्य वस्तु है। क्या आप मोहन द्वारा किए गए इस वर्गीकरण से सहमत हैं? अपने उत्तर को कारण सहित लिखें।

उत्तर—मानव की आवश्यकताएँ अनन्त होती हैं। उनकी तीव्रता में भी अन्तर होता है। इस तीव्रता में भिन्नता होने के कारण हम उसकी आवश्यकताओं को निम्नलिखित भागों में विभक्त करते हैं।

(i) अनिवार्यताएँ (ii) आरामदायक वस्तुएँ (iii) विलासिताएँ।

(i) अनिवार्यता के अन्तर्गत वे वस्तुएँ शामिल की जाती हैं जो जीवित रहने, कार्य क्षमता बनाए रखने तथा सामाजिक सम्मान या प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक होती हैं।

(ii) आरामदायक वस्तुएँ उनको कहते हैं जिनके उपभोग से मनुष्य का जीवन सुखी हो जाता है। जैसे स्वादिष्ट और पौष्टिक भोजन।

(iii) विलासिता के अन्तर्गत वे वस्तुएँ आती हैं जिनके उपभोग से मनुष्य को अत्यधिक सुख प्राप्त होता है और जिनका उपभोग न करने से उसे तनिक भी दुःख नहीं होता।

इस प्रकार आवश्यकताओं को उपरोक्त तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है एक व्यक्ति की अनिवार्यता दूसरे के लिए आरामदायक वस्तु और तीसरे के लिए विलासिता की वस्तु हो सकती है।

मोहन द्वारा दिया गया वर्गीकरण उपयुक्त और उचित नहीं है। अनिवार्यता, आरामदायक और विलासिता के आधार पर संसार की वस्तुओं की कोई निश्चित सूची नहीं तैयार की जा सकती। हम यह दृढ़तापूर्वक निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि अमुक वस्तु अनिवार्यता और अमुक आरामदायक या विलासिता के अन्तर्गत आती है। आवश्यकताओं का वर्गीकरण वस्तुगत नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त हम यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि आज जिस मनुष्य के लिए जो वस्तु विलासिता है वह सदा उस व्यक्ति के लिए वही रहेगी या प्रत्येक व्यक्ति के लिए वह विलासिता की वस्तु बन जायेगी।

मोहन के वर्गीकरणानुसार साईकिल एक आरामदायक वस्तु और पेन एक अनिवार्यता है। यह बिलकुल निर्मूल और निराधार मत है। साईकिल एक मध्यमवर्ग के लिए आरामदायक वस्तु हो सकती है, एक निर्धन व्यक्ति के लिए जिसे अधिक दूर पर काम के लिए नहीं जाना पड़ता है एक विलासिता की वस्तु होगी।

पेन एक सम्पन्न विद्यार्थी के लिए अनिवार्यता है परन्तु एक साधारण विद्यार्थी के लिए जो पेन्सिल या होल्डर से काम चला सकता है, वह एक आरामदायक वस्तु और अत्यन्त निर्धन के लिए एक विलासिता की वस्तु होगी।

रेडियो एक संवाददाता के लिए अनिवार्यता है क्योंकि वह उससे समाचार प्राप्त करता है जो उसका रोजगार है। उस व्यक्ति के लिए जो रेडियो, आफिस से लौटने पर, अपना मनोरंजन करने के लिए रखता है, एक आरामदायक वस्तु है परन्तु यदि कोई व्यक्ति केवल रेडियो शो रखने के लिये रखता है तो वह उसके लिए एक विलासिता की वस्तु है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक वस्तु जो किसी एक व्यक्ति विशेष के लिए अनिवार्यता है वही वस्तु दूसरे व्यक्ति के लिए आरामदायक वस्तु, तीसरे के लिए विलासिता की वस्तु हो सकती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि आवश्यकताओं का वर्गीकरण वस्तुओं पर नहीं बल्कि उपभोक्ता के जीवन-स्तर, व्यवसाय, स्वभाव, समय और परिस्थितियों आदि पर निर्भर करता है। उनका वर्गीकरण सापेक्षिक है। मोहन ने आवश्यकताओं का वर्गीकरण वस्तुओं के आधार पर किया था जो उचित नहीं है। आवश्यकताओं का वर्गीकरण वस्तुगत नहीं व्यक्तिगत आधार पर किया जाता है।

प्रश्न (२०) अनिवार्यता, आरामदायक और विलासिताओं का अन्तर स्पष्ट कीजिये। क्या कोई एक वस्तु किसी एक व्यक्ति के लिए विभिन्न परिस्थितियों में अनिवार्यता, आरामदायक वस्तु (सुविधा) या विलासिता हो सकती है? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए। वर्गीकरण का आधार भी समझाइये।

(Raj. Inter. 51, 53, 54, 58, Ajmer 41, 48, M. P. 53, 55, U. P. 57

उत्तर:—मानवीय आवश्यकताएँ असंख्य और अगण्य होती हैं। इसके साथ २ उनमें तीव्रता भी भिन्न २ होती है। कुछ आवश्यकताएँ अधिक तीव्र होती हैं और कुछ कम तीव्र। तीव्रता में भिन्नता के कारण आवश्यकताओं को विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है।

प्रो. पेन्सन के अनुसार आवश्यकताओं को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(i) अनिवार्यताएँ (ii) आरामदायक वस्तुएँ (सुविधाएँ) और (iii) विलासिताएँ।

(i) अनिवार्यताओं में उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जो जीवित रहने, कार्यक्षमता को कायम रखने और समाज में प्रतिष्ठा तथा सम्मान प्राप्त करने के लिए अनिवार्य होती हैं। यह प्रारम्भिक और आधारभूत आवश्यकतायें होती हैं। निवार्यताओं को तीन भागों में विभाजित किया जाता है:—

१. जीवन-रक्षक अनिवार्यताएँ:—इनमें वह वस्तुएँ आती हैं जिनके उपभोग के विना हम जीवित नहीं रह सकते, जैसे भोजन, वस्त्र आदि।

२. कार्यक्षमता (निपुणता) रक्षक अनिवार्यताएँ:—इनमें वे वस्तुएं शामिल की जाती हैं जो हमारी कार्य-क्षमता को कायम या स्थिर रखने के लिए आवश्यक हैं। जैसे एक विद्यार्थी के लिए टेबिल और कुर्सी निपुणता-रक्षक अनिवार्यताएं हैं। इनके प्रयोग से उसे पढ़ने लिखने में सुविधा होगी।

३. प्रतिष्ठा रक्षक अनिवार्यता:—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाज में रहकर प्रचलित रीति रिवाजों और प्रथाओं का उचित आदर और सम्मान करना पड़ता है। जैसे एक हिन्दू को किसी सम्बन्धी की मृत्यु पर भोज देना पड़ता है।

(ii) आरामदायक वस्तुएँ:—कार्यकुशलता की दृष्टि से जो अनिवार्यताएं हैं उनका उपभोग कर मनुष्य सन्तुष्ट नहीं हो जाता वह और अधिक आराम का जीवन व्यतीत करना चाहता है। जैसे वह साधारण भोजन के स्थान पर स्वादिष्ट और पौष्टिक भोजन की इच्छा रखता है। अतः आरामदायक वस्तुएं वह होती हैं जिनकी पूर्ति जीवन को और अधिक सुखपूर्ण और उत्तम जीवन स्तर के लिए आवश्यक मानी जाती हैं।

(३) विलासिताएं:—इसके अन्तर्गत वह वस्तुएं आती हैं जो मनुष्य को उनका उपभोग करने पर अत्यधिक आनन्द और सुख प्रदान करती हैं। इनके अभाव में उसे लेशमात्र भी दुःख नहीं होता। इन वस्तुओं के उपभोग से मनुष्य का जीवन अधिक सुखी, खर्चीला और आडम्बर-पूर्ण वन जाता है। जैसे सजावट का सामान।

वर्गीकरण का आधार:—आवश्यकताओं का वर्गीकरण कार्य-क्षमता के आधार पर किया जाना चाहिए। डा० वसु का कहना है कि अर्थशास्त्र में

कार्य-क्षमता ही वह मापदण्ड है जिससे उपभोग सहित सब आर्थिक प्रयत्न मापे जा सकते हैं।

वह वस्तुएं जिनके उपभोग से उपभोक्ता की कार्य-क्षमता में वृद्धि होती है और उनके अभाव में कार्य-क्षमता कम होजाती है तो वह अनिवार्यताएं हैं।

जो वस्तुएं ऐसी हैं जिनके उपभोग से उपभोक्ता की कार्य-क्षमता में वृद्धि होती है परन्तु उसके अभाव में कार्यक्षमता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तब उन्हें आरामदायक वस्तुएं (सुविधाएं) कही जाती हैं।

ऐसी वस्तुएं जिनके उपभोग करने पर और उनके अभाव में कार्य-क्षमता पर किसी भी प्रकार का प्रभाव न पड़े उन्हें विलासिताएं मानी जाती हैं।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने सुख-दुःख के आधार पर आवश्यकताओं का वर्गीकरण किया है। उनके अनुसार अगर किसी वस्तु के उपभोग करने पर मनुष्य को बहुत कम सुख प्राप्त हो और उसके उपभोग के अभाव में उसे अत्यन्त दुःख हो तब उसे अनिवार्यता माना जायेगा। अगर किसी वस्तु के उपभोग करने पर पर्याप्त सुख और इसके अभाव में बहुत कम दुःख व्यक्ति को प्राप्त होता हो तो उसे आरामदायक वस्तुओं की श्रेणी में मानेंगे। इसके विपरीत यदि किसी वस्तु के उपभोग किए जाने पर व्यक्ति को अत्यन्त अधिक सुख और अभाव में बिलकुल ही दुःख न हो तो उसे विलासिता कहेंगे।

इसके अतिरिक्त आवश्यकता का वर्गीकरण मूल्य-मांग के आधार पर भी किया जाता है। अगर वस्तु के मूल्य परिवर्तन का उसकी मांग पर कोई विशेष प्रभाव न पड़े तो उसे अनिवार्यता की वस्तुओं की श्रेणी में रखेंगे। अगर मूल्य परिवर्तन पर वस्तु की मांग में परिवर्तन मूल्य परिवर्तन के अनुपात में ही हो तो उसे आरामदायक वस्तु मानेंगे और मूल्य परिवर्तन पर वस्तु की मांग में परिवर्तन मूल्य-परिवर्तन के अनुपात से अधिक हो तब उसे विलासिता की वस्तु माना जावेगा।

इन तीनों उपरोक्त सिद्धान्तों में आवश्यकता के वर्गीकरण का उचित और सही आधार 'कार्य-क्षमता' को ही अधिकतर व्यक्ति मानते हैं।

आवश्यकताओं का वर्गीकरण वस्तुओं के आधार पर नहीं पर व्यक्ति-

गत होता है। वह सापेक्षिक (**relative**) है। वर्गीकरण मनुष्य के स्वभाव, आदत, जीवन-स्तर, आयु, समय और परिस्थितियों आदि पर आश्रित रहता है। (इसके लिए देखिए प्रश्न नं॰ १६)

एक ही वस्तु एक ही व्यक्ति के लिए विभिन्न परिस्थितियों में अनिवार्यता, आरामदायक वस्तु और विलासिता हो सकती है। मान लीजिए एक व्यक्ति के पास साइकिल है। वह उसका प्रयोग अपने आफिस जो ४ मील की दूरी पर है जाने के लिए करता है तब वह उसके लिए अनिवार्यता है। यदि वह उसका प्रयोग शाम को दफ्तर से आने के बाद अपने मकान से कुछ दूर पर रहने वाले अपने मित्र के यहां जाने के लिए करता है तो वही साइकिल उसके लिए आरामदायक वस्तु है और यदि वह उसका प्रयोग मकान से कुछ कदम पर स्थित व्यापारी की दुकान पर जाने के लिए करता है तो वही साइकिल उसके लिए विलासिता की वस्तु है। इस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में समय के अनुसार एक ही वस्तु एक व्यक्ति विशेष के लिए अनिवार्यता, सुविधा और विलासिता की वस्तु हो सकती है।

:❀:—

१० उपयोगिता तथा अन्य नियम
Utility and other Laws

प्रश्न (२१) सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता किसे कहते हैं? इन दोनों के बीच में क्या सम्बन्ध होता है? उदाहरण देकर समझाइये।

(**U. P. 45, 52, Nagpur 55, Sagar 50**)

अथवा

सिद्ध करो कि "जब सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है तभी पूर्ण

उपयोगिता सबसे अधिक होती है।" चित्र द्वारा समझाइये।

(Sagar 56, Raj. H Sec. 59)

अथवा

उपयोगिता का अर्थ बताइये। सीमान्त उपयोगिता और मूल्य में क्या सम्बन्ध है ? (इस प्रश्न के उत्तर में कुल उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता का सम्बन्ध नहीं बताना है)

(U. P. 1953)

उत्तर— मनुष्य किसी वस्तु का उपभोग उसी समय करता है जब वह वस्तु उसकी आवश्यकता की संतुष्टि करती है। किसी वस्तु की आवश्यकता संतुष्ट करने की क्षमता को उपयोगिता कहते हैं। उपयोगी और अनोपयोगी वस्तुओं में अर्थशास्त्र में भेद नहीं किया जाता। कोई वस्तु यदि वह हानिकारक है यदि वह मनुष्य की आवश्यकता की संतुष्टि करती है तो उसमें उपयोगिता है।

मान लो किसी व्यक्ति को काफी भूख लगी है। ऐसी स्थिति में केवल एक रोटी उसकी भूख नहीं मिटा सकती। उसे तीन या चार रोटियों का उपभोग करना पड़ता है। जैसे २ वह अधिक से अधिक इकाइयों का प्रयोग करता है वैसे २ उस वस्तु की आने वाली प्रत्येक नई इकाई से घटती हुई दर पर उपयोगिता प्राप्त होती है। एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब वह और अधिक इकाई का प्रयोग नहीं करना चाहता। इस इकाई को जिसके बाद वह अन्य इकाई का प्रयोग नहीं करना चाहता सीमान्त इकाई और इससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता को सीमान्त उपयोगिता कहते हैं। सीमान्त इकाई ही वस्तु का मूल्य निर्धारित करती है। इस इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता के बराबर ही मनुष्य धन के रूप में उपयोगिता को त्याग ने के लिए तैयार रहता है। यदि धन के त्याग के बराबर उसे वस्तु से उपयोगिता प्राप्त न हो तो वह उस वस्तु को नहीं खरीदेगा। अतः वह वस्तु की इकाई के लिए सीमान्त इकाई से प्राप्त उपयोगिता के बराबर त्याग करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सीमान्त इकाई के पहले की तमाम इकाइयों पर उसे उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है।

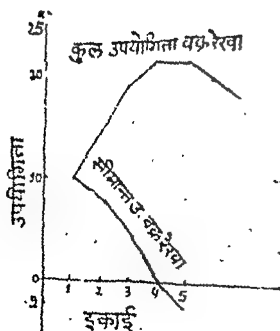
एक व्यक्ति जो चार रोटियों का उपभोग करता है मानलो उसे पहली

रोटी से २० उपयोगिता, दूसरी से १५, तीसरी से १० और चौथी रोटी से ५ उपयोगिता प्राप्त होती हैं। चौथी रोटी सीमान्त इकाई है और इससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता है।

मनुष्य जब एक से अधिक इकाइयों का उपभोग करता है तब उसे भिन्न २ इकाइयों से भिन्न २ मात्रा में उपयोगिता प्राप्त होती है। तमाम इकाइयों से मिलने वाली उपयोगिताओं के जोड़ को कुल उपयोगिता (Total-Utility) कहते हैं। उपरोक्त उदाहरण से हमें यह ज्ञात होता है कि मनुष्य ने चार इकाइयों का प्रयोग किया है और प्रत्येक इकाई से उसे भिन्न २ मात्रा में उपयोगिता प्राप्त होती है। चारों इकाइयों से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का जोड़ ५० है। यही कुल उपयोगिता है।

सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता का सम्बन्ध निम्नलिखित उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है:—

उपभोग की इकाई	सीमान्त उपयोगिता		कुल उपयोगिता	
१	१०	धनात्मक	१०	बढ़ती हुई
२	८		१० +८=१८	
३	४		१८ +४=२२	
४	०	पूर्ण संतुष्टि का बिन्दु	२२+०=२२	समान
५	−२	ऋणात्मक	२२−२=२०	घटती हुई



उपरोक्त दी गई तालिका और चित्र से यह स्पष्ट होता है कि पहली इकाई की अपेक्षा दूसरी इकाई से कम उपयोगिता प्राप्त होती है। तीसरी इकाई से दूसरी की अपेक्षा कम उपयोगिता प्राप्त होती है। इन सबको धनात्मक उपयोगिता कहते हैं। चौथी इकाई से शून्य उपयोगिता प्राप्त होती है। यह वह इकाई है जहाँ उसकी आवश्यकता की पूर्ण

संतुष्टि हो जाती है। इस बिन्दु को पूर्ण संतुष्टि का बिन्दु कहते हैं। इसके पश्चात अगर और इकाई का प्रयोग किया जाता है तो उसे अनोपयोगिता प्राप्त होती है जिसे ऋणात्मक उपयोगिता कहते हैं।

इस तालिका से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैसे २ इकाइयों की मात्रा में वृद्धि होती है वैसे २ सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है परन्तु कुल उपयोगिता में वृद्धि होती है। पूर्ण संतुष्टि के बिन्दु पर सबसे अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। इसके बाद यदि इकाई का उपभोग किया जाता है तो कुल उपयोगिता में कमी होना आरम्भ होता है। इसलिए यह कहा जाता है कि जब सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है तब कुल उपयोगिता अधिकतम होती है।

प्रश्न (२२) उपयोगिता ह्रास नियम का उल्लेख कीजिए और यह बताइए कि किन २ दशाओं में लागू होता है।

(U. P. 56, Ajmer 49, 51, 55 M. P. 56,
Raj. Inter. 52 H. Sec. 59)

उत्तर—मनुष्य की आवश्यकताएँ असंख्य होती हैं परन्तु उनमें से प्रत्येक की एक विशेष समय में संतुष्टि की जा सकती है। जब व्यक्ति किसी एक वस्तु का उपयोग आरम्भ करता है तब कुछ समय के बाद वह उसका उपभोग करना बन्द कर देता है। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण स्पष्ट है। उस वस्तु के लिए मांग की तीव्रता कम हो जाती है और एक ऐसी सीमा आजाती है जब व्यक्ति उस वस्तु का और अधिक उपभोग नहीं करना चाहता। इस प्रवृत्ति के आधार पर अर्थशास्त्र में एक नियम बनाया गया है जिसे "उपयोगिता ह्रास नियम" (Law of Diminishing utility) कहते हैं।

यह नियम हमें इस बात का ज्ञान कराता है कि जैसे २ कोई व्यक्ति किसी एक समय में किसी एक वस्तु विशेष का अधिकाधिक मात्रा में उपभोग करता है वैसे २ आने वाली प्रत्येक नई इकाई में घटती हुई दर पर उपयोगिता प्राप्त होती है। अर्थात पहली इकाई से जो उपयोगिता प्राप्त होती है, दूसरी इकाई से उससे कम उपयोगिता मिलती है। यह क्रम चलता रहता है। भिन्न भिन्न

अर्थशास्त्रियों ने इस प्रवृति पर आधारित नियम की परिभाषा भिन्न प्रकार से दी है।

प्रो० मार्शल (Marshalt) के अनुसार "मनुष्य के पास किसी वस्तु के स्टाक में वृद्धि हो जाने से जो उपयोगिता प्राप्त होती है वह जैसे २ स्टाक बढ़ता जाता है, वैसे २ उपयोगिता घटती जाती है।"

प्रो० मार्शल ने इस नियम की परिभाषा एक अन्य रूप में भी दी है।

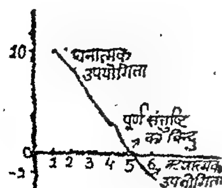
"अन्य परिस्थितियां अपरिवर्तित रहने पर किसी समय विशेष पर किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु का जितना स्टाक है, उसकी मात्रा में वृद्धि होने पर प्रत्येक अगली इकाई की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है।"

प्रो० ब्रिगस (Brigges) के अनुसार "एक ही प्रकार की वस्तु की सीमान्त उपयोगिता, वस्तु की इकाई बढते ही घट जाती है।"

उदाहरण:—मान लो एक व्यक्ति नीचे दी गई तालिका के अनुसार रोटियों का उपभोग करता है और उसे प्रत्येक इकाई से भिन्न २ उपयोगिता प्राप्त होती है।

रोटी की इकाई	प्राप्त होने वाली उपयोगिता
१	१०
२	८
३	५
४	२
५	०
६	—२

इसे हम चित्र द्वारा इस प्रकार दिखा सकते हैं।



उपरोक्त उदाहरण से हमें यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पहली रोटी का उपभोग करने पर १०, दूसरी से ८, तीसरी से ५ और चौथी से २ उपयोगिता मिलती है। इस प्रकार जैसे २ उपभोग की

इकाइयां बढती जाती हैं वैसे २ आने वाली प्रत्येक इकाई से घटती हुई दर पर उपयोगिता प्राप्त होती है।

यह नियम केवल कुछ निश्चित परिस्थितियों में ही लागू होता है जो निम्नलिखित हैं:—

(१) वस्तु तथा इसके बदले में प्रयोग में आने वाली वस्तुओं का मूल्य स्थिर रहना चाहिए:— यदि किसी वस्तु विशेष का मूल्य कम हो जाता है तब उस वस्तु की मांग में वृद्धि हो जाती है। इस अवस्था में यह नियम लागू नहीं होगा। एक स्थिति अवश्य ऐसी आयेगी जब यह नियम लागू होगा।

इस प्रकार अगर कोई वस्तु ऐसी है जिसके स्थान पर दूसरी वस्तु का प्रयोग किया जा सकता है तब दोनों के मूल्य में परिवर्तन न होने पर ही यह निगम लागू होगा।

(२) उपभोक्ता की मानसिक अवस्था एक सी रहनी चाहिए:— अगर कोई व्यक्ति किसी मादक वस्तु का उपभोग कर लेता है और उसके बाद वह खाना खाने बैठता है तो उसकी भूख अधिक हो जायेगी और ऐसे व्यक्ति को आने वाली प्रत्येक इकाई से अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी। ऐसी स्थिति में यह नियम लागू नहीं होगा।

(३) वस्तु की तमाम इकाइयां, गुण, परिमाण और उत्तमता में एक समान होनी चाहिए:—अगर वस्तु की इकाई एक सी नहीं है और वह गुणों में समान नहीं है तो यह नियम लागू नहीं होगा। जो भी इकाई हो पूर्ण होनी चाहिए।

(४) उपभोग का समय एक होना चाहिए:—इस नियम के लागू होने के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु का उपभोग एक ही समय में किया जाना चाहिए। अगर कोई व्यक्ति सुबह थोड़ा खाना खाता है और उसके बाद कुछ खाना दोपहर में खाता है तो यह नियम लागू नहीं होगा।

(५) उपभोक्ता की आमदनी, स्वभाव, फैशन तथा आदत में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए:—यदि उपभोग की अवधि लम्बी है तब उसकी आमदनी, स्वभाव, फैशन आदि में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं

होना चाहिए। यदि कोई वस्तु ऐसी है जिसका फैशन समाप्त हो गया हो तो उसकी उपयोगिता कम हो जायेगी परन्तु फिर से फैशन प्रारम्भ होने पर उसकी उपयोगिता में वृद्धि होगी। आमदनी कम होने पर वह कई वस्तुओं का उपभोग नहीं कर पायेगा परन्तु आमदनी बढने पर वह जिन वस्तु का उपभोग नहीं कर पाता था उपभोग कर सकेगा अर्थात वह उसके लिए उपयोगी बन जायेगी।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि यह नियम 'अन्य परिस्थितियां समान रहने पर' अर्थात उपभोक्ता का स्वभाव, फैशन, आदत समान रहने पर, समय एक होने पर, वस्तु की इकाई, गुण और उत्तमता तथा परिमाण समान होने आदि पर ही लागू होता है।

प्रश्न (२३) उपयोगिता–ह्रास नियम सारांश में लिखिए और यह समझाइये कि इस नियम में 'अन्य वस्तुएँ परिवर्तित रहने' का क्या महत्व है और वह वस्तुएँ क्या हैं ? (U. P. 30, 49)

उत्तरः—देखिए प्रश्न (२२)

प्रश्न (२४) उपयोगिता ह्रास नियम की परिभाषा दीजिए। इस नियम को लागू होने के लिए किन २ बातों का स्थिर रहना आवश्यक है ? क्या इस नियम के वास्तविक अपवाद भी हैं ?

(Nagpur 1951)

उत्तरः—परिभाषा और लागू होने के लिए किन २ बातों का स्थिर रहना आवश्यक है इसके लिए देखिए प्रश्न नं० (२२)

कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार इस नियम के कई अपवाद भी होते हैं। इन अपवादों को दो भागों में विभक्त किया जाता है—(i) नाममात्र के अपवाद (ii) वास्तविक अपवाद।

प्रो० टौजिग (Toussig) के अनुसार इस नियम के वास्तविक अपवाद भी होते हैं जैसे कोई अच्छी सुरीली कविता या गाना जितना अधिक बार सुना जाता है, उतनी ही अधिक उपयोगिता उससे प्राप्त होती है।

परन्तु हम इसे वास्तविक अपवाद नहीं कह सकते। यदि कोई व्यक्ति किसी एक ही अच्छे गाने को लगातार कई बार सुने तो निश्चय ही एक ऐसी

सीमा आयेगी जिसके बाद वह उसे और अधिक सुनना पसन्द नहीं करेगा। प्रत्येक मनुष्य की श्रवण शक्ति की एक सीमा होती है।

प्रत्येक वस्तु के प्रारम्भ में बाद में आने वाली उपभोग की इकाइयों की उपयोगिता में वृद्धि होती है। यह हो सकता है कि कुछ वस्तुओं की प्रारम्भिक इकाइयों से बढती हुई दर पर उपयोगिता प्राप्त हो परन्तु कुछ समय पश्चात जब संतुष्टि का विन्दु आ जायेगा तब अवश्य इसके वाद आने वाली इकाइयों से घटती हुई दर पर उपयोगिता प्राप्त होगी।

आवश्यकताओं की संतुष्टि के नियमः—(उपयोगिता–ह्रास–नियम) के कोई भी वास्तविक अपवाद नहीं हैं। यह नियम कुछ परिस्थितियों में शीघ्र लागू हो सकता है और कुछ में देर से। इस विशेषता के कारण प्रो० देराश्री ने नियम की परिभाषा को संशोधित किया है। उनके अनुसार "उपभोग की विशेष सीमा पहुँच जाने के पश्चात अन्य बातें स्थिर रहने पर, किसी वस्तु के अधिकाधिक उपभोग से उसकी सीमान्त उपयोगिता में ह्रास होता है।" यह नियम सार्वभौम और अपवाद–रहित है।

प्रश्न (२५) उपयोगिता ह्रास नियम को उदाहरण तथा चित्र देकर पूर्ण रूप से समझाइये। क्या इस नियम के कोई अपवाद है ?"

(H. Sec. 1960)

नियम उदाहरण तथा चित्र के लिए देखिए प्रश्न नं. (२२)

तथा

नियम के अपवाद के लिए देखिए प्रश्न नं. (२४) वास्तविक अपवाद और प्रश्न नं. (२७) नाममात्र के अपवाद।

प्रश्न (२६) उपयोगिता-ह्रास नियम की व्याख्या कीजिए और यह बतलाइये कि इससे मांग का नियम कैसे निकलता है ?

(M. P. 1954)

उत्तर—उपयोगिता ह्रास नियम की व्याख्या के लिए देखिए प्रश्न नं. (२१)

उपयोगिता–ह्रास नियम हमें यह स्पष्ट करता है कि जैसे–जैसे किसी एक वस्तु विशेष की मात्रा में वृद्धि होती है वैसे वैसे सीमान्त उपयोगिता

क्रमशः घटती जाती है । उपभोक्ता किसी वस्तु विशेष के लिए मूल्य उसके द्वारा मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता के बराबर देता है । इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी बाजार में किसी वस्तु विशेष की इकाइयों में जैसे २ वृद्धि होती है, वैसे-वैसे उनके द्वारा प्राप्त की जाने वाली सीमान्त उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है । अतः जब वस्तु की सीमान्त उपयोगिता कम होती है, तब उपभोक्ता उस वस्तु का पहले की अपेक्षा कम मूल्य देने के लिए तैयार होते हैं । जब किसी बाजार में किसी वस्तु विशेष की इकाइयों में वृद्धि होती है, तब वह वस्तु अपेक्षाकृत कम मूल्य पर खरीदी जा सकती है । सरल शब्दों में "वस्तु का मूल्य कम होने पर उसकी इकाइयां अधिक मात्रा में खरीदी जाती हैं ।" इसके विपरीत वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने पर उसकी मांग कम हो जायेगी । उपयोगिता-ह्रास नियम हमें यह भी बताता है कि इकाइयों का कम उपभोग होने पर सीमान्त उपयोगिता अधिक प्राप्त होती है और इस कारण उपभोक्ता अधिक मूल्य देने के लिए तैयार रहता है । सारांश में हम कह सकते हैं कि मूल्य में कमी होने पर माँग में वृद्धि और मूल्य में वृद्धि होने पर मांग में कमी होती है । इसे हम मांग का नियम कहते हैं । मांग के उदाहरण के लिए देखिए अध्याय (११)

प्रश्न (२७) उपयोगिता-ह्रास नियम सार्वभौम और सर्वव्यापी है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ?

उत्तर—यह एक स्वाभाविक बात है कि जैसे २ कोई व्यक्ति किसी एक विशेष समय पर अधिकाधिक उपभोग करता है, वैसे २ उसे प्रत्येक नई इकाई से कम उपयोगिता प्राप्त होती है । यह इसलिए होता है—क्योंकि तीव्रता कम होती जाती है ।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मानना है कि यह प्रवृत्ति जिस पर सीमान्त उपयोगिता के घटने का नियम आधारित है कुछ अवस्थाओं में नहीं पाई जाती । दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि कुछ अवस्थाएँ ऐसी होती हैं जिनमें यह नियम लागू नहीं होता । इन्हें अपवाद कहा जाता है जिसे हम दो भागों में (i) नाममात्र के अपवाद (ii) वास्तविक अपवाद में, विभक्त कर सकते हैं ।

नाममात्र के अपवादः—

(१) यदि उपभोग की जाने वाली वस्तु की इकाई बहुत छोटी हो तो यह नियम लागू होगा। प्रो० चेपनेन ने एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण दिया है जो चाय बनाना चाहता है परन्तु उसके पास कोयला नहीं है। यदि इस व्यक्ति को अंगीठी जलाने के लिये आधी छटांक कोयला दिया जाये तो आने वाली प्रत्येक नई इकाई से उसे अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी। प्रो० चेपमेन स्वयं इस बात को स्वीकार करता है कि उपयोगिता तब तक बढती रहेगी जब तक पर्याप्त मात्रा प्राप्त न हो जाय, इसके बाद वह कम होना आरम्भ करेगी।

उपरोक्त उदाहरण को हम इस नियम का अपवाद नहीं मान सकते। क्योंकि आधी छटांक की इकाई पूर्ण इकाई नहीं है। जैसे बाएं पैर का जूता इकाई नहीं है परन्तु जूते का एक जोड़ा ही पूर्ण इकाई है। अगर किसी वस्तु का लगातार उपभोग किया जाये तो अवश्य ही एक ऐसी सीमा आयेगी जिसके बाद उपयोगिता कम होती है।

(२) शराब पीने वाले को शराब की हर नई इकाई से उपयोगिता अधिक मात्रा में प्राप्त होती है—वास्तव में इसे भी इस नियम का अपवाद नहीं माना जा सकता क्योंकि शराब पीने के बाद मनुष्य की मानसिक अवस्था में परिवर्तन आ जाता है। शराबी जैसे व्यक्ति को हम साधारण तथा सामान्य व्यक्तियों की श्रेणी में नहीं रख सकते। अर्थशास्त्र में ऐसे असाधारण व्यक्तियों का अध्ययन नहीं किया जाता। जब मनुष्य शराब की प्यालियां अधिक से अधिक मात्रा में लगातार पीता जायेगा तब अवश्य एक ऐसी सीमा आयेगी जहां पर उसकी आवश्यकता की पूर्ण संतुष्टि हो जायेगी। इस सीमा के बाद यदि वह और इकाई का उपभोग करेगा तो अवश्य उसे घटती हुई दर पर उपयोगिता प्राप्त होगी।

(३) विचित्र और दुर्लभ वस्तु की प्रत्येक नई इकाई से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। यदि कोई व्यक्ति पुराने टिकटों का संग्रह करता है तो उसे प्रत्येक नई इकाई से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है।

तमाम टिकटों की एक ही इकाई मान लेना बहुत बड़ी भूल है। प्रत्येक अलग २ वस्तु है। यदि एक व्यक्ति के पास एक ही तरह के एक से अधिक टिकट हैं तो उसे निश्चय ही पहली इकाई के बाद की इकाइयों से कम उपयोगिता मिलेगी। टिकट के संग्रह करने वाले व्यक्ति असाधारण होते हैं।

(४) द्रव्य का मोह, दिखावट की इच्छा तथा शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा कभी भी संतुष्ट नहीं होती है—यह एक साधारण अनुभव की बात है कि जिस व्यक्ति के पास जितना धन होता है उससे वह कभी भी संतुष्ट नहीं रहता और वह अधिकाधिक मात्रा में धन प्राप्त करना चाहता है। परन्तु उस व्यक्ति के लिए जिसके पास बहुत सा धन है, कम धन वाले व्यक्ति की अपेक्षा धन से उपयोगिता कम होती है।

कई व्यक्तियों को ऐसी आदत होती है कि वे दिखावट की वस्तुएं अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिए कहा जाता है कि ऐसे व्यक्ति की सन्तुष्टि नहीं हो सकती। दिखावट की तमाम वस्तुओं को एक इकाई मान लेना भूल है। यदि प्रत्येक वस्तु एक नई इकाई है तो यह निश्चित है कि उसकी दूसरी मात्रा खरीदने पर उससे कम उपयोगिता प्राप्त होगी। अतः इसे भी नियम का अपवाद नहीं माना जा सकता। शक्ति प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति असाधारण हैं।

(५) जैसे-जैसे टेलीफोन के कनेक्शनों में वृद्धि होती है वैसे-वैसे उपभोक्ता को उससे अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है—यह स्पष्ट है कि कनेक्शनों में वृद्धि होने पर टेलीफोन के उपयोग करने वालों को अधिक सुविधा प्राप्त होती है। परन्तु टेलीफोन के तमाम कनेक्शनों को एक इकाई नहीं माना जा सकता। यदि एक ही व्यक्ति के यहां दूसरा टेलीफोन लगा दिया जाय तो अवश्य उसे उससे कम उपयोगिता प्राप्त होगी।

१ वास्तविक अपवाद के लिये देखिये—प्रश्न नं० (२४)

प्रश्न (२८) उपभोक्ता की बचत (**Consumer's Surplus**) किसे कहते हैं? इसका उदय कैसे होता है और इसे कैसे नापा जा सकता है? उदाहरण देकर चित्र की सहायता से समझाइये।

(U. P. 57, Raj Inter. 52, Aj. 53, M. P. -3, 55 Pre. U. 60)

उत्तर—उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रो० मार्शल ने किया है। यह उपयोगिता-ह्रास नियम पर आधारित है।

उपयोगिता-ह्रास नियम हमें यह बतलाता है कि जैसे-जैसे किसी वस्तु विशेष की अधिकाधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाता है वैसे-वैसे प्रत्येक नई इकाई से कम उपयोगिता प्राप्त होती है। सामान्यतः पहली इकाई से सबसे अधिक, दूसरी से उससे कम और अन्तिम इकाई से सबसे कम उपयोगिता प्राप्त होती है। परन्तु प्रत्येक इकाई के लिये वह एक ही समान मूल्य देता है। यह सीमान्त उपयोगिता के लगभग बराबर होता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सीमान्त इकाई के पहले की तमाम इकाइयों से उसे जो उपयोगिता वह धन के रूप में त्यागता है, उससे अधिक उपयोगिता उसे उस वस्तु के उपभोग करने से प्राप्त होती है। यह अधिक प्राप्त बचत ही उपभोक्ता की बचत है।

मनुष्य किसी वस्तु के उपभोग से वंचित न रहने के लिए जो कुछ मूल्य देने के लिए तैयार होता है और वास्तव में वह जो कुछ उसके लिए देता है, इन दोनों के अन्तर को उपभोक्ता की बचत कहते हैं। प्रो० मार्शल (Marshall) के अनुसार "किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा उपभोक्ता जो कीमत उस वस्तु के लिए देने को तत्पर रहता है और जो कीमत वह वास्तव में देता है, उसका अन्तर ही तृप्ति की बचत का आर्थिक नाप है। इसे उपभोक्ता की बचत कहते हैं।"

प्रो. जे. के मेहता (J. K. Mehta) अपनी पुस्तक (Groundwork of Economics) में उपभोक्ता की बचत की परिभाषा इस प्रकार देते हैं:—कोई व्यक्ति किसी वस्तु से जो उपभोक्ता को बचत प्राप्त करता है वह उस वस्तु से प्राप्त होने वाली संतुष्टि तथा उस वस्तु को प्राप्त करने के हेतु किए गए त्याग की संतुष्टि का अन्तर होती है।"

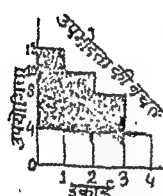
प्रो० पेन्सन के अनुसार "हम जो देंगे और हमें जो देना पडता है, उसके अन्तर को उपभोक्ता की बचत कहते हैं"—उदाहरण के लिए एक व्यक्ति एक पोस्ट कार्ड के लिए जिसकी उसे अत्यधिक आवश्यकता है चार

आने खर्च करने को तैयार है परन्तु उसे वह एक आने में ही मिल जाता है। तब उसे (4--1)=3 अधिक उपयोगिता प्राप्त हुई। यही उपभोक्ता की बचत है।

उपभोक्ता की बचत को चित्र द्वारा समझाने के लिए हम निम्नलिखित उदाहरण लेंगे—

मान लीजिये किसी एक वस्तु विशेष की एक इकाई का मूल्य ४ आने है और एक व्यक्ति उसको ४ इकाई खरीदता है। उसे भिन्न भिन्न इकाई से नीचे दी गई तालिका में दिखाये गये क्रम के अनुसार उपयोगिता प्राप्त होती है—

वस्तु की इकाई	प्राप्त उपयोगिता	उपभोक्ता की बचत
१	१२	(१२ – ४)=८
२	१०	(१० – ४)=६
३	८	(८ – ४)=४
४	४	(४ – ४)=०



कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि उपभोक्ता की बचत को नहीं नापा जा सकता। यह सिद्धान्त मनुष्य की मनोवैज्ञानिक अवस्था पर निर्भर है। परन्तु इसे भिन्न भिन्न इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता जान लेने के बाद आसानी से नापा जा सकता है। उपभोक्ता की बचत नापने के लिए निम्नलिखित गुर जो प्रो० टॉजिग द्वारा बतलाया गया है की सहायता ली जा सकती है:—

उपभोक्ता की बचत=[कुल उपयोगिता–(सीमान्त उपयोगिता × उपभोग की गई इकाइयों की संख्या):--इस सूत्र की सहायता से हम उपरोक्त उदाहरण में से यह ज्ञात कर सकते हैं कि उपभोक्ता को वस्तु की चार इकाइयों के उपभोग करने पर कितनी उपभोक्ता की बचत प्राप्त हुई।

बचत=(३४)—(४×४)

=(३४,--(१६)

=१८

चारों इकाइयों के लिए वह १६ आने खर्च करता है परन्तु उसे उनसे ३४ उपयोगिता प्राप्त होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह इन चार इकाइयों के लिए ३४ आने खर्च करने को तैयार था परन्तु वास्तव में १६ आने ही खर्च कर ३४ उपयोगिता प्राप्त कर लेता है। अतः यहां उसे १८ उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है।

प्रश्न (२९) उपभोक्ता की बचत किसे कहते हैं और इसका क्या महत्व है? **(U. P. 1950)**

उपभोक्ता की बचत किसे कहते हैं? इसके लिए देखिए प्रश्न (२८)

आर्थिक अध्ययन के दृष्टिकोण से यह धारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह विचार अर्थशास्त्र की केवल कोरी कल्पना मात्र नहीं है। इस सिद्धान्त के महत्व को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) सैद्धान्तिक महत्वः--किसी वस्तु के उपभोग से प्राप्त होने वाली संतुष्टि प्रायः उस वस्तु के लिए दिए जाने वाले मूल्य की उपयोगिता से अधिक होती है। जैसे नमक, दियासलाई आदि। हम इन वस्तुओं के लिए बहुत ही कम मूल्य देते हैं परन्तु हमें इनके उपभोग से काफी अधिक मात्रा में उपयोगिता प्राप्त होती है। अर्थात् इन वस्तुओं में हमें उपभोग का मूल्य अधिक और विनिमय का मूल्य काफी कम प्राप्त होता है। उपभोक्ता की बचत से हमें उपयोग के मूल्य (**Value-in-use**) और विनिमय के मूल्य (**Value-in-exchange**) का अन्तर समझने में सहायता मिलती है।

(२) व्यवहारिक महत्वः--यह हमें वातावरण और परिस्थितियों द्वारा प्राप्त होने वाले कई लाभों से अवगत कराती है। उदाहरण के लिए नगर में रहने वाले व्यक्ति को जीवन की कई सुख-सुविधाएं बहुत कम खर्च करने पर उपलब्ध हो जाती हैं। परन्तु गांव में रहने वाले व्यक्ति को कई सुख-सुविधाएं उपलब्ध नहीं हो पाती। एक व्यक्ति जिसे जयपुर में १००) रु० मिलते हैं वह एक गांव में १००) रु० पाने वाले व्यक्ति की तुलना में अधिक सुविधाएं प्राप्त कर सकता है। शहर में कई सुविधाएं गांव की अपेक्षा सस्ते मूल्यों पर प्राप्त होती हैं। जिस स्थान पर व्यक्तियों को जितनी अधिक उपभोक्ता की बचत मिलेगी वह स्थान आर्थिक दृष्टि से उतना ही अधिक उन्नत माना

जायेगा। इस सिद्धान्त से हम दो भिन्न २ स्थानों में रहने वाले मनुष्यों की आर्थिक स्थिति की तुलना कर सकते हैं।

यह धारणा राजस्व मंत्री के लिए भी उपयोगी है। जब किसी वस्तु पर कर लगाया जाता है तब उसमें प्राप्त होने वाली उपभोक्ता की बचत कम हो जाती है। इस कारण कर लगाने से पहले उसे यह विचार करना पड़ता है कि कौन २ सी वस्तुओं पर किस किस मात्रा में कर लगाना चाहिए और उस कर का समाज पर क्या प्रभाव होगा ? अनिवार्यताओं से बचत सबसे अधिक प्राप्त होती है परन्तु उन पर कर लगाना नैतिक दृष्टि से ठीक नहीं हैं। अतः राजस्व मंत्री को कर ऐसो अन्य वस्तुओं पर लगाना चाहिए जिसमें उपभोक्ता की बचत अधिक प्राप्त होती हो।

जब किसी वस्तु का उत्पादन केवल एक ही व्यक्ति के हाथों में हो और उसे दूसरे से प्रतियोगिता न करनी पड़ती हो तो ऐसे उत्पादन को एकाधिकारी कहते हैं। यदि कोई एकाधिकारी यह देखता है कि उसकी वस्तु से उपभोक्ता को बहुत ही अधिक उपभोक्ता की बचत हो रही है तो वह उपभोक्ता को असंतुष्ट किए बिना ही अपनी वस्तु का मूल्य कुछ हद तक बड़ी आसानी से बढा सकता है। वह मूल्य में अत्यधिक वृद्धि करने की भूल नहीं करेगा क्योंकि इससे उपभोक्ता की बचत काफी कम हो जायेगी और इस कारण उसकी वस्तु के उपभोक्ताओं की संख्या कम होगी।

प्रो० मार्शल का कहना है कि परस्पर व्यापार में संलग्न देशों की जनता को प्राप्त होने वाली उपभोक्ता की बचत की वृद्धि के रूप में हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों को नाप सकते हैं। विदेशों से वस्तुओं का आयात करने से पूर्व हम उन वस्तुओं के लिए अपेक्षाकृत अधिक मूल्य देने के लिए तैयार रहते हैं।

इस प्रकार से उपभोक्ता की बचत की धारणा सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दोनों दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण और लाभप्रद है।

प्रश्न (३०) सम–सीमान्त उपयोगिता नियम की व्याख्या करिए तथा उस नियम को चित्र द्वारा समझाइये।

(Ajmer 50, 52, Nagpur 49, M. P. 57)

उत्तर:—मनुष्य की आवश्यकताएं अगण्य होती हैं और उसके साधन सीमित। इस कारण वह अपनी बहुत ही कम आवश्यकताओं को तृप्त कर पाता है। अतः प्रत्येक मनुष्य का एक उद्देश्य होता है कि वह अपनी सीमित आय को किस तरह खर्च करे ताकि वह उससे अधिक से अधिक संतुष्टि प्राप्त कर सके। इसलिए उसके सामने एक समस्या रहती है—किन आवश्यकताओं को पहले संतुष्ट किया जाय और किसे बाद में। यह एक साधारण अनुभव की बात है कि पहले वह अपनी उन आवश्यकताओं को संतुष्ट करता है जिससे उसे सबसे अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। यदि इसके बाद उसके पास कुछ धन बाकी रह जाता है तब वह अन्य आवश्यकताओं की संतुष्टि करता है।

जब मनुष्य वस्तुओं को खरीदना प्रारम्भ करता है, उस समय वह उन्हें इस क्रम में खरीदता है—सबसे अधिक उपयोगिता वाली वस्तु सबसे पहले-फिर उससे कम उपयोगिता वाली वस्तु। उपभोक्ता किसी वस्तु पर वहां तक रुपया खर्च करेगा जहां तक उसे वस्तु से प्राप्त उपयोगिता धन के रूप में किए गए त्याग के बराबर हो। यदि वह अपनी समस्त आय को इस तरह व्यय करता है तब उसे यह अनुभव होगा कि विभिन्न वस्तुओं के उपभोग से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता समान या लगभग समान है। इस प्रकार अपनी आय को खर्च करने पर ही उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त होगी। इस व्यय के तरीके को बताने वाले नियम को सम-सीमान्त उपयोगिता नियम तथा अधिकतम संतुष्टि का नियम या व्यय का सिद्धान्त तथा प्रतिस्थापन का नियम कहते हैं।

प्रो. मार्शल (Marshall) अपनी पुस्तक **Principles of Economics** में सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की परिभाषा निम्नलिखित रूप में देते हैं :—

"यदि किसी मनुष्य के पास एक ऐसी वस्तु है जिसे वह अनेक उपयोगों में काम ला सकता है, तब वह उसे उन उपयोगों में इस प्रकार से बांटेगा कि प्रत्येक उपयोग में उसकी सीमान्त उपयोगिता समान रहे क्योंकि यदि इसकी सीमान्त उपयोगिता किसी एक उपयोग में दूसरे उपयोग की अपेक्षा अधिक है, तब इसे दूसरे उपयोग से हटाकर पहले उपयोग में लगाने से उसे लाभ प्राप्त होगा।"

इस नियम की परिभाषा इस प्रकार भी दी जा सकती है–सम-सीमान्त उपयोगिता नियम यह बताता है कि रुपयों की किसी निश्चित रकम से अधिकतम संतुष्टि तभी प्राप्त हो सकती है जब धन की विभिन्न इकाइयों को विभिन्न वस्तुओं पर खर्च की गई धन की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता समान या लगभग समान रहे।

उदाहरण:—मान लो किसी एक व्यक्ति के पास एक रुपया है। वह इससे चीनी, चाय और फल खरीदना चाहता है। यह भी मानले कि वह अपने रुपए को १ अन्नी की इकाई में व्यय करता है। उसे विभिन्न वस्तुओं की इकाइयों से प्राप्त होने वाली उपयोगिता नीचे दिए तालिका के अनुसार है:—

	प्राप्त उपयोगिता		
व्यय की इकाई	चीनी	चाय	फल
१	२० [१]	१८ [३]	१७ [४]
२	१९ [२]	१६ [६]	१५ [७]
३	१७ [५]	१५ [८]	१४ [९]
४	१३ [१०]	१२ [१२]	१३ [११]
५	१२ [१३]	११ [१५]	११ [१४]
६	११ [१६]	८	७

पहली इकाई वह चीनी पर, दूसरी चीनी पर, तीसरी चाय पर और चौथी फल पर व्यय करेगा। इस प्रकार वह तालिका में बताए गए क्रमानुसार (०) इकाइयों को खरीदेगा। वह कुल मिलाकर चीनी की ६, चाय की ५ और फल की ५ इकाइयों का उपभोग करेगा।

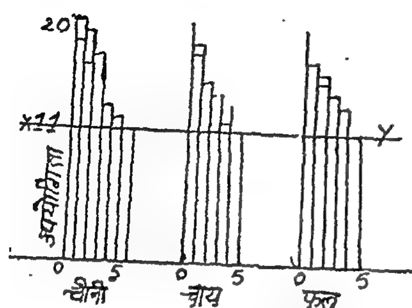
चीनी की ६ इकाइयो से उसे २०+१९+१७+१३+१२+११=९२ उपयोगिता प्राप्त होगी।

चाय की ५ इकाइयों से १८+१६+१५+१२+११=७२ उपयोगिता प्राप्त होगी।

फल की ५ इकाइयों से १७+१५+१४+१३+११=७० उपयोगिता प्राप्त होगी।

इस प्रकार तीनों वस्तुओं की कुल इकाइयों से उसे २३४ उपयोगिता प्राप्त होगी। यदि वह वस्तुओं को तालिका में बताए गए क्रमानुसार (०) नहीं खरीदता तो उसे अधिकतम उपयोगिता प्राप्त नहीं होती।

इसे हम चित्र द्वारा इस प्रकार बता सकते हैं—



x y रेखा यह दिखलाती है कि इस स्थान पर प्रत्येक वस्तु से सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होती है। इस रेखा के ऊपर खर्च की जाने वाली प्रत्येक इकाई से उसे अत्यधिक उपभोक्ता की बचत प्राप्त होगी।

प्रश्न (३१) उपयोगिता ह्रास नियम की व्याख्या कीजिए। एक गृहिणी के पास १५ रु० हैं। उसको इच्छित वस्तुओं की विभिन्न इकाइयों से निम्नांकित के बराबर उपयोगिता मिलती है।

रोटी से २८, २६, २०, १६ आने
मांस से २४, २०, १६, १० आने
चाय से २२, १८, ६, २ आने
चीनी से २१, १७, १६, ६ आने

यदि इन वस्तुओं की प्रत्येक इकाई की कीमत १ रु० है तो इन विभिन्न वस्तुओं पर वह कितने रुपए खर्च करेगी? क्या वह कुछ बचायेगी?

[Raj. Inter 49, 57 केवल प्रश्न का दूसरा भाग]

उत्तर—उपयोगिता-ह्रास नियम के लिए देखिए प्रश्न नं० (२९)

उपयोगिता-ह्रास नियम हमें यह बतलाता है कि जैसे-जैसे हम किसी वस्तु विशेष की इकाइयों का एक के बाद एक प्रयोग करते हैं तो आने वाली प्रत्येक इकाई से हमें घटती हुई दर पर उपयोगिता प्राप्त होती है। मनुष्य किसी वस्तु की इकाई केवल उसी अवस्था में खरीदता है जब उसे वस्तु से प्राप्त होने वाली उपयोगिता उसके द्वारा धन के रूप में दी जाने वाली उपयोगिता से अधिक या बराबर हो। यदि उसे धन के रूप में त्यागी जाने वाली उपयोगिता से कम

उपयोगिता वस्तु से प्राप्त होती है तो उसे नहीं खरीदेगा। उपरोक्त प्रश्न में दिए गए उदाहरण में यह कहा गया है कि व्यय की इकाई १ रु० है और वस्तुओं की विभिन्न इकाइयों से प्राप्त होने वाली उपयोगिता आनों में प्राप्त होती है। अतः गृहिणी किसी भी वस्तु की वह इकाई खरीदेगी जिससे उसे कम से कम १६ उपयोगिता जो वह धन के रूप में त्यागती है मिलती हो। अतः वह रोटी की ४, मांस की ३, चाय की २ और चीनी की ३ इकाइयाँ खरीदेगी। इस प्रकार वह कुल मिलाकर ४+३+२+३=१२ रुपये खर्च करेगी और १५ रु० में वह ३ रु० बचा लेगी।

---

११ मांग और पूर्ति

प्रश्न (३२) मांग की लोच का अर्थ समझाइये। आप इसे किस प्रकार मापेंगे ? मांग की लोच के भेदों को समझाइये।

(Raj. 48, 50: Ajmer 48, U. P. 29)

उत्तर—मांग का नियम हमें यह बताता है कि किसी वस्तु की कीमत में वृद्धि होने पर उसकी मांग कम हो जाती है और उसकी कीमत कम होने पर मांग में वृद्धि होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तु की कीमत और उसकी मांग में कारण और परिणाम का सम्बन्ध है। वस्तु की घट बढ़ के साथ मांग में परिवर्तन होने की प्रवृत्ति को मांग की लोच **(Elasticity of Demand)** कहते हैं

प्रो० रुद्रा Rudra अपनी पुस्तक **Fundamentals of Economics** में मांग की लोच की परिभाषा इन शब्दों में देते हैं:—मूल्य में न्यूनतम परिवर्तन होने पर ही मांग के परिवर्तित हो जाने की क्षमता को मांग की लोच कहते हैं।

प्रो० कैयर्नक्रास (Cairncross) "Introduction To Economics" में इस प्रकार मांग की लोच की परिभाषा देते हैं कि:—मूल्य में परिवर्तन हो

जाने पर जिस दर पर खरीदी जाने वाली मांग की मात्रा में परिवर्तन होता है, उसे मांग की लोच कहते हैं।"

मार्शल का कहना है कि कीमत में अमुक कमी होने से वस्तु की मात्रा में जैसी कमी या अधिक वृद्धि होती है और अमुक वृद्धि होने से वस्तु की मांग की मात्रा में जैसी कमी होती है, उसी के आधार पर मांग की लोच कम या अधिक कही जाती हैं।

प्रत्येक वस्तु की मांग में कीमत में परिवर्तन होने पर एकसा परिवर्तन नहीं होता है। मांग में होने वाले परिवर्तन के आधार पर मांग की लोच को हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं :--

(१) लोचदार मांग:—जब किसी वस्तु की कीमत में जितना प्रतिशत परिवर्तन होता है ठीक उसी अनुपात में यदि उसकी मांग में परिवर्तन हो तो उसे लोचदार मांग कहते हैं। उदाहरण के लिए मान लीजिये, जब किसी एक वस्तु की कीमत १ रु० है तब उसकी मांग १०० है परन्तु यदि उसकी कीमत ८ आने हो जाती है तब उसकी मांग बढ़कर १५० हो जाती है तो इसे लोचदार मांग कहेंगे।

(२) अधिक लोचदार मांग:—जब किसी वस्तु के मूल्य में जितना प्रतिशत परिवर्तन होता है यदि उससे अधिक परिवर्तन उसकी मांग में हो तो उसे अधिक लोचदार मांग कहते हैं। उदाहरण के लिए जब किसी वस्तु की कीमत १ रु० है तब उसकी मांग १०० है प न्तु ८ आना मूल्य होने पर उसकी मांग २०० हो जाती है तब वह अधिक लोचदार मांग है।

(३) बेलोचदार मांग:—जब किसी वस्तु के मूल्य में जितना प्रतिशत परिवर्तन होता है यदि उससे काफी कम परिवर्तन उसकी मांग में हो तो उसे बेलोचदार मांग कहते हैं। उदाहरण स्वरूप जब किसी वस्तु का मूल्य १ रु० है तब उसकी मांग १०० है परन्तु ८ आने पर उसकी मांग १२० होती है।

(४) पूर्णतया लोचदार मांग:--जब किसी वस्तु के मूल्य में कोई परिवर्तन न हो और उसकी मांग में परिवर्तन हो जाय तो उसे पूर्णतया लोचदार मांग कहते हैं। यह एक केवल सैद्धान्तिक बात है। उदाहरण— जब किसी

वस्तु का मूल्य १ रु० है तब उसकी मांग ७० है और इसी मूल्य पर उसकी मांग १२० हो जाती है।

(५) पूर्णतया बेलोचदार मांग :—जब किसी वस्तु के मूल्य में बहुत अधिक परिवर्तन हो जाने पर यदि उसकी मांग में कोई परिवर्तन न हो तो उसे पूर्णतया बेलोचदार मांग कहते हैं। उदाहरण जब किसी वस्तु का मूल्य १ है तब उसकी मांग १०० है और ८ आने होने पर उसकी मांग वही रहती है।

कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार मांग की लोच को नापा नहीं जा सकता क्योंकि यह केवल एक सैद्धान्तिक धारणा है। फिर भी इसके नापने का तरीका कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा बतलाया गया है।

$$\text{मांग की लोच} = \frac{\text{मांग में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{कीमत में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

इस रीति का प्रतिपादन **Prof. Flux** द्वारा किया गया है।

यदि वस्तु का मूल्य १ रु० है और इस मूल्य पर उसकी मांग १०० है। यदि मूल्य में ५०% परिवर्तन होता है अर्थात् मूल्य ८ आने हो जाता है तब उसकी मांग में ५०% वृद्धि होती है अर्थात् वह १५० हो जाती है तब—

$$\text{मांग की लोच} = \frac{\text{मांग में \%५० परिवर्तन}}{\text{मूल्य में ५०\% परिवर्तन}}$$

इसका अर्थ यह हुआ कि मांग की लोच इकाई के बराबर है। यदि यह १ से अधिक होता है तो मांग की लोच इकाई से अधिक और १ से कम होने पर मांग की लोच इकाई से कम कहलायेगी।

इसके अतिरिक्त मांग की लोच को प्रो० मार्शल द्वारा प्रतिपादित इकाई विधि **(Unity Method)** से भी नापा जा सकता है।

अगर वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने पर उसकी मांग में इतना परिवर्तन होता है कि कुल व्यय में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आता है तब मांग की लोच इकाई के बराबर कहलाती है।

अगर वस्तु की कीमत में वृद्धि होने पर मांग में कमी होने पर कुल व्यय कम हो या मूल्य में कमी होने पर मांग इतनी बढ़े कि कुल व्यय अधिक हो जाय तो मांग की लोच इकाई से अधिक कहलाती है।

अगर वस्तु की कीमत में कमी होने पर मांग में इतना परिवर्तन हो कि कुल व्यय कम हो जाय या कीमत में वृद्धि होने पर मांग परिवर्तन से कुल व्यय में भी वृद्धि हो जाय तब मांग की लोच इकाई से कम कहलाती है।

उपरोक्त तथ्य को हम तालिका द्वारा इस प्रकार बता सकते हैं:—

उदाहरण	मूल्य	वस्तु की मांग (इकाई में)	कुल व्यय	मांग की लोच
१.	१ रु० २ रु० ३ रु०	३०० १५० १००	३०० रु० ३०० रु० ३०० रु०	मांग की लोच इकाई के बराबर
२.	१ रु० २ रु० ३ रु०	४०० १५० ९०	४०० रु० ३०० रु० २७० रु०	मांग की लोच इकाई से अधिक
३.	१ रु० २ रु० ३ रु०	२५० १५० १२०	२५० रु० ३०० रु० ३६० रु०	मांग की लोच इकाई से कम।

प्रश्न (३३) "जब किसी वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती है तब उसकी मांग में भी वृद्धि होती है परन्तु कीमत घटने पर उसकी मांग में वृद्धि होती है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

उत्तर—जब किसी एक विशेष समय में कोई मनुष्य एक दिए हुए मूल्य पर किसी वस्तु विशेष की जितनी मात्रा खरीदने के लिए तत्पर रहता है, उसे उस वस्तु की मांग कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तु के मूल्य और उसकी मांग में घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रो० मार्शल के अनुसार जब किसी वस्तु के मूल्य में कमी होती है तो उसकी मांग बढ़ जाती है और जब उसके मूल्य में वृद्धि होती है तो उसकी मांग कम हो जाती है। इसे ही मांग का नियम कहते हैं। अर्थशास्त्र के नियमों की यह विशेषता है कि वह केवल उसी समय लागू होते हैं, जब अन्य परिस्थितियां समान रहें।

प्रश्न में दिए गए कथन में कि मूल्य में वृद्धि होने पर मांग में वृद्धि होती है और मूल्य कम होने पर उसकी मांग में वृद्धि होती है—में दो विरोधी बातों

का समावेश किया गया है। यह दोनों परिस्थितियां एक वस्तु के लिए एक बाजार में मौजूद नहीं रह सकती।

मूल्य में कमी होने पर यदि मांग में वृद्धि होती है तो यह परिवर्तन मांग के नियम के अनुसार है। इसका अर्थ यह हुआ कि परिस्थितियों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। जब किसी पेन्सिल का मूल्य दो आना था तब उसकी मांग दो थी परन्तु मूल्य १ आना हो जाने पर उसकी मांग बढ़ कर पांच हो जाती है। यह परिवर्तन मांग के नियम के अनुसार है।

परन्तु यह मान लीजिये कि पेन्सिल के उपभोक्ता को यह विश्वास है कि निकट भविष्य में वह वस्तु पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं होगी और उसका मूल्य और भी अधिक बढ़ेगा। इस अवस्था में उसके मूल्य में वृद्धि होने पर भी उसकी मांग में वृद्धि होगी। यह परिवर्तन मांग के नियम के विपरीत है। यह इसलिए होता है क्योंकि परिस्थितियां समान नहीं रह पाती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह दोनों प्रकार के परिवर्तन परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं। एक विशेष समय में एक ही बाजार में एक वस्तु विशेष के लिए भिन्न २ परिस्थितियां किसी भी अवस्था में मौजूद नहीं रह सकती। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रश्न में दिया हुआ कथन किसी वस्तु की दो विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों वाले बाजार में वर्णन करता है। कथन के पहले भाग में परिवर्तन मांग के नियम में ठीक अनुसार होता है परन्तु परिस्थिति बदल जाने पर परिवर्तन मांग के नियम के विपरीत होता है।

प्रश्न (३४) मांग की लोच किसे कहते हैं ? उसके अध्ययन के महत्व को समझाइये।

उत्तर:—मांग की लोच के लिए देखिए प्रश्न नं० (३२)

मांग की लोच के अध्ययन के महत्व को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। (i) सैद्धान्तिक (ii) व्यवहारिक।

(१) सैद्धान्तिक महत्व:—इससे हमें यह ज्ञात होता है कि किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होने पर उसकी मांग पर कितना प्रभाव पड़ता है और मूल्य परिवर्तन होने पर मांग का किस वर्ग पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

(२) व्यवहारिक महत्व:—इस सिद्धान्त का अध्ययन करना राजस्व-मंत्री के लिए अति आवश्यक है। उसका कार्य वस्तुओं पर कर लगा कर राज्य की आय में वृद्धि करना है। यदि वह किसी वस्तु पर कर लगाता है तो उसके मूल्य में वृद्धि हो जाने पर उसकी मांग में परिवर्तन होगा। यदि कर लगाने पर मूल्य बढ़ जाता है और मांग में अत्यधिक कमी होजाती है तो राज्य को अधिक आय प्राप्त न होगी। राजस्व मन्त्री को ऐसी वस्तुओं पर कर लगाना चाहिए जिसकी मांग अत्यधिक लोचदार न हो। ऐसी स्थिति में ही राज्य को अधिक आय प्राप्त हो सकती है।

साधारण व्यापारी अपनी वस्तु के मूल्य में तब वृद्धि करता है जब उस वस्तु की मांग बेलोच हो या अत्यधिक लोचदार न हो। एक कुशल व्यापारी किसी भी अवस्था में लोचदार मांग की वस्तु में अधिक वृद्धि नहीं करेगा।

एकाधिकार रखने वाला व्यापारी यदि यह जानता है कि उसकी वस्तु की मांग अधिक लोचदार है तो हालांकि अन्य प्रतियोगिता का सामना न करने पर भी वह अपनी वस्तु के मूल्य में विशेष वृद्धि नहीं करेगा। यदि वस्तु की मांग कम लोचदार है तो दोनों एकाधिकारी तथा साधारण व्यापारी मूल्य में वृद्धि कर अधिक लाभ उठा सकते हैं।

प्रश्न (३५) मांग की लोच किसे कहते हैं? वह किन बातों पर निर्भर करती है?

या

मांग की लोच किसे कहते हैं? कुछ वस्तुओं की मांग की लोच अन्य वस्तुओं की मांग की लोच से अधिक क्यों होती है?

(Sagar 49, 50, 53, M. B 51)

Ans मांग की लोच:—देखिए प्रश्न नं० (३२)

मांग की लोच की परिभाषा से यह अत्यन्त ही स्पष्ट है कि किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होने के कारण उसकी मांग में परिवर्तन होजाने की प्रवृत्ति को ही मांग की लोच कहते हैं। यह लचक तमाम वस्तुओं में एक समान नहीं होती उनमें विभिन्नता निम्नलिखित कारणों से पाई जाती है:—

(१) वस्तु तथा आवश्यकता का वर्गीकरण:—जो वस्तुएं मनुष्य

के जीवन-निर्वाह के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, उन्हें वह प्रत्येक अवस्था में चाहे उनका मूल्य अधिक हो या कम अवश्य खरीदेगा। मूल्य परिवर्तन का उसकी मांग पर कोई विशेष प्रभाव न होगा परन्तु इसके विपरीत उन वस्तुओं की मांग अधिक लोचदार होगी जो आरामदायक वस्तुओं की श्रेणी में आती हैं। विलासिताओं की मांग अत्यधिक लोचदार होती है। कौन सी वस्तु किस श्रेणी में रखी जानी चाहिए, इसका निर्णय करना सरल नहीं क्योंकि आवश्यकताओं का वर्गीकरण सापेक्षिक होता है।

(२) स्थानापन्न वस्तुओं का प्राप्त होना:--उन वस्तुओं की मांग की लोच अत्यधिक होती है जिनकी स्थानापन्न वस्तुएं मिलती हैं। इसके विपरीत उन वस्तुओं की मांग की लोच कम होती है जिनकी स्थानापन्न वस्तुएं उपलब्ध नहीं होती। उदाहरण के लिए यदि चाय का मूल्य अत्यधिक बढ़ जाता है और कोफी का मूल्य वही रहता है तो लोग चाय के स्थान पर कोफी का प्रयोग अधिक करने लगेंगे। पान के स्थान पर अन्य किसी वस्तु का प्रयोग न हो सकने के कारण उसकी मांग की लोच में विशेष परिवर्तन न होगा।

(३) वस्तु का एक से अधिक कार्यों के लिए उपभोग करने की संभावना पर उसकी मांग अधिक लोचदार होती है। जैसे दूध जिसका उपभोग कई रूप में किया जा सकता है। मूल्य कम होने पर उसका प्रयोग भी बढ़ जाता है।

(३) वस्तु के उपभोग को स्थगित करने की संभावना--जिन वस्तुओं का उपभोग भविष्य के लिए स्थगित किया जा सकता है उनकी मांग की लचक उन वस्तुओं की मांग की लचक से अधिक होती है जिनका उपभो भविष्य के लिए स्थगित करना संभव नहीं होता। उदाहरण--रोगी की दवा।

(५) उपभोक्ता का स्वभाव:--कुछ व्यक्तियों का स्वभाव ऐसा बन जाता है कि वह अच्छी से अच्छी वस्तुओं का प्रयोग करना चाहते हैं, उनके लिए श्रेष्ठ वस्तुओं की मांग बेलोच होती है परन्तु सामान्य स्वभाव वाले व्यक्ति के लिए उन वस्तुओं की मांग लोचदार होती है। उदाहरण:-**Red Label Tea** की मांग सामान्य स्वभाव वाले व्यक्ति के लिए लोचदार होगी परन्तु

उसके शौकीन के लिए बेलोचदार।

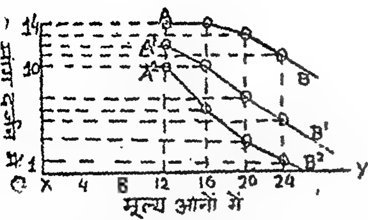
(६) उपभोक्ता की आर्थिक स्थिति:—ऐसे व्यक्ति जो अत्यधिक धनिक हैं, उनकी विलासिताओं तथा प्रतिष्ठादायक वस्तुओं की माँग बेलोचदार होती है, परन्तु इसके विपरीत साधारण व्यक्तियों को तथा निर्धनों की उन्हीं वस्तुओं की मांग लोचदार होती है।

(७) उपभोक्ता का जीवन-स्तर:—मनुष्य के जीवन-स्तर का सम्बन्ध उसकी आय से है क्योंकि ऊंचा जीवन-स्तर तभी हो सकेगा जब आय अधिक होगी। अधिक आय प्राप्त करना उसी अवस्था में संभव होगा जब कार्य-क्षमता अधिक हो। इस कारण उच्च जीवन-स्तर वाले मनुष्यों के लिए क्षमतादायक वस्तुओं की मांग बेलोच होगी।

(८) उपभोक्ता की आमदनी में व्यय का अनुपात:—यदि किसी वस्तु को खरीदने में आमदनी का अधिक भाग खर्च किया जाता है तब उस वस्तु की मांग बहुत लोचदार होगी परन्तु इसके विपरीत यदि किसी वस्तु को खरीदने में आय का बहुत ही कम भाग अनुपात में खर्च होता है तो उस अवस्था में उस वस्तु की मांग बेलोचदार या कम लोचदार होगी।

(९) धन का समाज में वितरण:—समाज में धन का वितरण जितना समान होता है उतनी ही अधिकांश वस्तुओं की मांग अधिक लोचदार होती है। परन्तु जब धन का वितरण जितना अधिक असमान होता है उतनी ही अधिकांश वस्तुओं की मांग बेलोचदार होगी। सब व्यक्तियों को समान आय होने पर उनकी क्रय-विक्रय शक्ति में कोई विभिन्नता न रहेगी और मूल्य परिवर्तन का उन सब पर एक समान प्रभाव पड़ेगा।

(१०) मूल्य का समाज की सामूहिक मांग पर प्रभाव:—पूरे समाज की मांग को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि अत्यधिक ऊंचे मूल्य वाली वस्तु की मांग बेलोच होती है क्योंकि उनकी मांग केवल धनिक वर्ग द्वारा ही की जाती है। परन्तु उन वस्तुओं की मांग की लोच बेलोचदार होती है जिनका मूल्य बहुत ही कम होता है क्योंकि उनका प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति करता है। माध्यम मूल्य वाली वस्तुओं की मांग लोचदार होती है इसका कारण यह



XY रेखा पर मूल्य प्रदर्शित किया गया और XZ मांग पर। AB, A^1B^1 और A^2 B^2 रेखाएं नीचे की ओर झुकती हैं। इनसे यह स्पष्ट है कि नगर के विभिन्न वर्गों पर सन्तरों की कीमत में परिवर्तन होने पर उनकी मांग की लोच में भी विभिन्नता पाई जाती है। AB रेखा जो धनिक वर्ग की मांग दिखलाती है उससे यह स्पष्ट है कि उसकी मांग पर मूल्य परिवर्तन का बहुत कम प्रभाव पड़ता है। A^1 B^1 रेखा मध्यम वर्ग की मांग दिखलाती है और उससे यह स्पष्ट है कि मूल्य परिवर्तन पर उसकी मांग में साधारण परिवर्तन होता है। A^2 B^2 रेखा से यह स्पष्ट है कि निर्धन वर्ग की मांग पर मूल्य परिवर्तन का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि धनिक वर्ग की मांग लगभग बेलोचदार मध्यम वर्ग की कम लोचदार और निर्धन वर्ग की मांग अधिक लोचदार होती है। संक्षेप में समाज के भिन्न २ वर्गों की मांग की लोच भिन्न २ रहती है।

—:※:—

१२ आय, व्यय और बचत

प्रश्न (३७) आय, व्यय, बचत और धन के अपसंचय में क्या अन्तर है? बिना विचार किए व्यय करने का समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है?

(Raj. 52, Ajmer. 51)

उत्तर:—किसी एक व्यक्ति को किसी एक निश्चित समय में अपनी

सेवा या सम्पत्ति के बदले में जो द्रव्य मिलता है उसे आय कहते हैं। उदाहरण—यदि एक व्यक्ति किसी कार्यालय में काम करता है जिसके कारण उसे १०० रु० मिलते हैं तो उसकी मासिक आय १०० रु० हुई।

मनुष्य के जिन प्रयत्नों के कारण उसे धन की प्राप्ति होती है उन्हें आर्थिक क्रिया कहा जाता है। यह क्रिया वह अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए साधन प्राप्त करने के लिए करता है। जब वह इन आर्थिक साधनों का प्रयोग आवश्यकताओं की संतुष्टि करने के लिए करता है तब उसे हम व्यय कहते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति की आय सीमित होती है और आवश्यकताएँ अनन्त। यह एक साधारण अनुभव की बात है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी समस्त आय व्यय नहीं कर देना चाहता है। अपनी आय का कुछ भाग वह भविष्य के लिए सुरक्षित रखता है। इस प्रकार सुरक्षित रखे गए अर्थात व्यय न किए गए आय के भाग को बचत (Saving) या धन का अपसंचय (Hoarding) कहते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

बचत आय का वह सुरक्षित भाग है जो किसी मनुष्य के द्वारा बैंक में जमा करा दिया जाता है या किसी मिल के शेयर खरीदने में लगाया जाता है। इससे उसे कुछ आर्थिक लाभ प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए बैंक में रखे गए रुपयों के बदले में उसे कुछ ब्याज मिलता है। बचत को इस कारण पूंजी भी कहते हैं।

धन का अपसंचय क्या है? बचत की भांति वह आय का यह भाग है जो व्यय नहीं किया जाता। बचत और इसमें केवल इतना ही अन्तर है कि अपसंचय में व्यक्ति को कुछ भी आर्थिक लाभ प्राप्त नहीं होता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति अपनी आय का कुछ भाग अपने मकान में तिजोरी में सुरक्षित रखे तो उसे हम अपसंचय कहेंगे क्योंकि उसे इससे किसी भी प्रकार का आर्थिक लाभ प्राप्त न होगा।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि बचत और अपसंचय दोनों में ही धन चलन के बाहर हो जाता है परन्तु अपसंचय में वह इस प्रकार से चलन के बाहर

हो जाता है कि उससे व्यक्ति को किसी भी तरह का आर्थिक लाभ प्राप्त नहीं होता है। इसके विपरीत बचत में उसे कुछ लाभ अवश्य प्राप्त होता है।

व्यक्तियों द्वारा उनकी आय किस प्रकार से व्यय की जाती है उसका प्रभाव समाज पर पड़े बिना नहीं रह सकता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसलिए उसकी प्रत्येक कार्यवाही का प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समाज पर पड़ता है। व्यक्तिगत व्यय समाज को दो तरह से प्रभावित करता है।

(१) धन के उत्पादन पर प्रभाव:—यदि व्यक्ति अपनी आय को हानिकारक वस्तुओं पर खर्च करता है तो उसके उपभोग के परिणाम स्वरूप उसकी कार्यक्षमता कम हो जाने के कारण उत्पादन की मात्रा कम हो जायेगी और धन की उत्पत्ति में कमी होगी।

व्यक्तिगत व्यय का प्रभाव उत्पत्ति के स्वभाव पर पड़ता है। वस्तु का उत्पादन उसकी मांग के अनुसार किया जाता है। यदि व्यक्ति हानिकारक वस्तुओं पर अधिक व्यय करते हैं तो उन वस्तुओं की मांग में वृद्धि होगी और इस कारण उनके उत्पादन में वृद्धि की जायेगी और पौष्टिक पदार्थों की मांग में कमी हो जाने के कारण उसके उत्पादन को कम किया जायेगा जिससे समाज को हानि होगी।

यदि व्यक्ति अपनी आय को बड़े मकानों के बनवाने में खर्च करता है जिसे छोटे २ मकान बनवा कर कम किया जा सकता है तो समाज को हानि होगी क्योंकि अनिवार्यता और आरामदायक वस्तुओं के उत्पादन के लिए आवश्यक पूँजी प्राप्त न हो सकेगी।

कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी उत्पादन मात्रा अधिक होने पर उत्पादन मूल्य कम होता है तथा इसके विपरीत कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनका उत्पादन यदि अधिक मात्रा में किया जाय तो उत्पादन मूल्य बढ़ जाता है। यदि समाज में व्यक्ति अपनी आय का अधिकांश भाग पहली प्रकार की वस्तुओं पर व्यय करते हैं तो समाज को लाभ होगा क्योंकि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने पर उत्पादन मूल्य पर कम होगा और वस्तुएँ सस्ती मिलेंगी दूसरे। प्रकार की वस्तुओं के अधिक उपभोग से समाज को हानि होगी।

(२) धन के उपभोग पर प्रभाव:—यदि मनुष्य विलासिता को

वस्तुओं पर अधिकतर आय का भाग व्यय करते हैं तो उत्पत्ति के साधन उन वस्तुओं के उत्पादन में अधिक से अधिक मात्रा में लगाए जायेंगे। विलासिताओं की मांग में वृद्धि होने पर उनके उत्पादन में वृद्धि होगी जिसके कारण उत्पादन मूल्य कम होगा और मूल्य में कमी होगी। इस स्थिति में साधारण लोग अनिवार्यताओं को बहुत कम मात्रा में प्रयोग करेंगे क्योंकि उनके मूल्य में वृद्धि हो जाने के कारण इनकी उपभोग शक्ति पहले से कम होगी।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसके प्रत्येक कार्य का प्रभाव समाज में रहने वाले अन्य व्यक्तियों पर पडता है। उसके आस पास रहने वाले व्यक्ति अधिकतर एक दूसरे की नकल करते हैं। जब किसी वस्तु का चाहे वह कितनी ही हानिकारक क्यों न हो अधिकतर व्यक्ति उसका प्रयोग करते हैं तब दूसरे व्यक्ति उनका उपभोग प्रारम्भ कर देते हैं। इससे समाज को हानि होती है।

इस प्रकार बिना सोचे समझे व्यय करने पर समाज पर उसका बुरा प्रभाव पडता है। जब इस प्रवृत्ति में अत्यधिक वृद्धि होती है तब समाज के हित में सरकार को हस्तक्षेप करना पडता है।

प्रश्न (३८) :—क्या समाज के लिये यह महत्व का प्रश्न है कि कोई व्यक्ति अपनी आय को किस प्रकार व्यय करता है? क्या समाज को मनुष्य की व्यय करने की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करना चाहिये?

(H, Sec. 1960)

उत्तर:—प्रश्न के प्रथम भाग के लिए देखिए प्र. नं. ३७

व्यक्तिगत व्यय में समाज का हस्तक्षेप:—

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति द्वारा व्यय किस प्रकार से किया जाता है उसका प्रभाव धन के उपभोग एवं उत्पादन पर पड़ता है जो लाभप्रद हो सकता है और नहीं भी।

क्या इसमें हस्तक्षेप किया जाना चाहिए—इस विषय में दो विरोधी मत हैं। व्यक्तिवादी विचारधारा रखने वालों का मानना है कि इसमें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उपार्जित आय उसके स्वयं के श्रम का प्रतिफल है। अतः समाज (राज्य) को इस पर किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं करना चाहिए।

सुप्रसिद्ध जर्मनग्र र्थशास्त्री ऐंजिल ने १६ वीं शताब्दी के मध्य में कई पारिवारिक बजटों का अध्ययन करने के पश्चात एक नियम (सिद्धान्त) का प्रतिपादन किया जो अर्थशास्त्र में उनके नाम के पीछे ऐंजिल के उपभोग का नियम कहलाता है।

उन्होंने समाज को तीन वर्गों में विभक्त किया–(१) धनिक (२) मध्यम (३) मजदूर वर्ग। इन तीनों विभिन्न प्रकार के वर्गों के पारिवारिक बजट का उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन कर अपना नियम प्रतिपादित किया जो यह है कि:– 'जैसे जैसे किसी व्यक्ति की आय में वृद्धि होती जाती है वैसे वैसे भोजन पर प्रतिशत व्यय कम होता जाता है, वस्त्रों पर प्रतिशत व्यय करीब २ स्थिर रहता है, मकान के किराए, ईंधन तथा रोशनी पर किया जाने वाला प्रतिशत व्यय हमेशा स्थिर रहता है और शिक्षा स्वास्थ्य–रक्षा व मनोरंजन पर प्रतिशत व्यय में वृद्धि होती है।"

	व्यय की मद	श्रमिक परिवार	मध्यम परिवार	धनिक परिवार
१	भोजन	६२%	५५%	५०%
२	वस्त्र	१६%	१८%	१८%
३	निवास	१२%	१२%	१२%
४	रोशनी, ईंधन	५%	५%	५%
५	शिक्षा	२%	३.५%	५.५%
६	विधिसंरक्षण	१%	२%	३%
७	स्वास्थ्य	१%	२%	३%
८	सुविधाएं, मनोरंजन	१%	२.५%	३.५%
	कुल योग	१००%	१००%	१००%

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट होजाता है कि जैसे २ मनुष्य की आय में वृध्दि होती जाती है वैसे वैसे भोजन पर व्यय किए जाने वाली आय का प्रतिशत कम होता जाता है। वस्त्र, निवास, रोशनी-ईंधन पर किए जानेवाले व्यय का अनुपात करीब समान ही रहता है और शिक्षा, विधिसंरक्षण, स्वास्थ्य सुविधा तथा मनोरंजन पर किए जानेवाले व्यय के अनुपात में वृध्दि होती जाती है।

उपरोक्त सारिणी के आधार पर चित्र बनाया गया है। पहले आयात में जो सबसे अधिक चौड़ा है धनिक परिवार, मध्यम आयात के आकार में मध्यम वर्ग के परिवार और कम चौड़े आयात मे श्रमिक परिवार की आय बतलाई गई है और उनमें से प्रत्येक स्वयं के द्वारा भिन्न २ मद पर व्यय किए जाने वाली आय का प्रतिशत बताया गया है।

(उपरोक्त सारिणी का चित्र अन्तिम पृष्ठ पर देखिए)

भारत में समय२ पर किए गए पारिवारिक बजटों के अध्ययन के आधार पर यह साबित किया जा चुका है कि यहां पर ऐंजिल का उपभोग नियम लागू होता है। मेजर जैक ने बंगाल के फरीदपुर जिले में कुछ किसान परिवारों के पारिवारिक बजट एकत्रित किए थे जिसे उन्होंने दो श्रेणियों में-निर्धन कृषक के और सम्पन्न कृषक के में विभक्त किया। उनके अनुसार निर्धन किसान अपनी आय का ६०% और सम्पन्न ५८% भोजन पर व्यय करता है। हालांकि यहां पर व्यय के प्रतिशत में अधिक अन्तर नहीं आता परन्तु यह अवश्य साबित हो जाता है कि जैसे २ आय में वृद्धि होती जाती है वैसे २ भोजन पर प्रतिशत व्यय कम होता जाता है। सन् १६२१-१६२२ में फिंडले शिरास ने बम्बई में सर्वेक्षण किया और वह भी इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि जैसे २ आय में वृद्धि होती है वैसे २ भोजन पर प्रतिशत व्यय कम होता है! अतः उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भारत में डा. ऐंजिल का नियम लागू होता है।

—:※:—

१४ जीवन-स्तर
(Standard of Living)

प्रश्न (४०) रहन-सहन के स्तर का क्या आशय है ? भारतीय जनता के निम्न जीवन-स्तर के क्या कारण हैं और किस प्रकार यहां के जीवन-स्तर में उन्नति हो सकती है ? (H. Sec. 60)

उत्तर—प्रत्येक मनुष्य अपने दैनिक जीवन में कइ वस्तुओं का उपभोग करता है। आरम्भ में वह उन वस्तुओं का चुनाव अपने देश, समय, स्वभाव शिक्षा आदि परिस्थितियों के आधार पर करता है। लगातार उनका प्रयोग करने में वह कालान्तर में उनका आदी होजाता है और वह वस्तुएं उसके दैनिक जीवन का अंग वन जाती हैं। किसी व्यक्ति के उपभोग की तमाम सामग्री उसके जीवन-स्तर को दर्शाती हैं। अतः रहन-सहन के स्तर का आशय उन आवश्यकताओं से है जिनके उपभोग करने की व्यक्ति को आदत होगई है। किसी समाज या व्यक्ति का जीवन-स्तर सदैव सापेक्षिक होता है तथा यह एक तुलनात्मक अध्ययन का विषय है।

यह एक सर्वमान्य वात है कि भारतीयों का जीवन-स्तर काफी निम्न-स्तर का है। ऐसा क्यों है ?—इसके कारण निम्नलिखित हैं:-

(१) भारतीयों की प्रति व्यक्ति आय (Income per capita) बहुत कम है;—मनुष्य के जीवन-स्तर का सम्वन्ध उसकी आय से रहता है। अधिक आय के विना ऊंचा जीवन-स्तर कायम करना संभव नहीं। भारत-वासियों की प्रति व्यक्ति आय अन्य प्रगतिशील देशों के निवासियों की तुलना में काफी कम है। अमेरिका ७२६५ रु०, फ्रांस २४१० रु०, जापान ५०० रु० और भारत की आय २५५ रु० है। देश की प्रति व्यक्ति आय कम होने

के कारण औसत व्यक्ति अपनी तमाम आवश्यकताओं को तृप्त नहीं कर सकता और ऐसी परिस्थितियों में उनका जीवन-स्तर का निम्न होना स्वाभाविक है।

(२) राष्ट्रीय राय कम है;—भारत एक विशाल देश होने पर भी उसकी राष्ट्रीय आय अन्य देशों की तुलना में अत्यन्त कम है। संयुक्त राष्ट्र संघ के १९४९ के अनुमान के अनुसार अमेरिका की राष्ट्रीय आय विश्व की आय का ४२% है और भारत की केवल ४% है।

(३) राष्ट्रीय आय का वितरण;—भारत की राष्ट्रीय आय का वितरण भी ठीक नहीं है। कुछ व्यक्तियों का अनुमान यह है कि देश के करीब ६ लाख परिवारों की आय १ लाख रुपया वार्षिक है, करीब १ लाख ६० हजार परिवारों की औसत आय ५०० रु० वार्षिक है और कई परिवारों की १ हजार रुपया वार्षिक से भी कम है। इससे यह स्पष्ट विदित है कि अधिकतर लोगों की आय काफी कम है और यदि इस कारण जीवन-स्तर निम्न श्रेणी का हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

(४) असंतुलित अर्थ व्यवस्था:—भारत एक कृषि प्रधान देश है और उसकी जनसंख्या का लगभग ७०% भाग इस पर निर्भर है। उद्योगों में केवल १४% लोग ही संलग्न हैं। इसका परिणाम यह होता है कि देश के प्राकृतिक साधनों का उचित और पूर्ण शोषण नहीं हो पाता जिसके कारण राष्ट्रीय आय कम रहती है। यह सर्वमान्य तथ्यहै कि विदेशों की राष्ट्रीय आय अधिक होने का मुख्य कारण उनके उद्योगों का अत्यधिक विकसित होना है।

(५) कृषि का पिछड़ा होना:—देश का मुख्य व्यवसाय कृषि है परन्तु वह भी विकसित अवस्था में नहीं है। प्रति एकड़ पर मिश्र में भारत से ५ गुनी तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में दुगनी कपास उत्पन्न होती है। यही अवस्था अन्य कृषि पैदावार की है। कृषि का उत्पादन कम होने के कारण आय कम रहती है जिसके कारण जीवन-स्तर भी नीचा रहता है।

(६) कम उत्पादन;—अन्य देशों की तुलना में भारतीय कारखानों की उत्पत्ति काफी कम रहती है। भारतीय कारखानों में आधुनिक मशीनों का प्रयोग नहीं किया जाता। इसका प्रभाव राष्ट्रीय आय पर पड़ता है।

(७) भारतीय श्रमिक कार्य-कुशल नहीं है:—अन्य देशों की तुलना में भारत का श्रमिक कम कार्य-कुशल है। प्रति श्रमिक उत्पादन कम होने के फलस्वरूप श्रमिकों को वेतन भी कम मिलता है और इस कारण उनका जीवन-स्तर भी काफी निम्न स्तर का रहता है।

(८) भारतीय अशिक्षित हैं;—देश में लगभग १४% लोग ही शिक्षित हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उनमें उन्नति की भावना का अभाव रहता है। वह अपनी वर्तमान अवस्था से प्रसन्न रहते हैं और अपने जीवन-स्तर को उठाने का प्रयत्न नहीं करते। अशिक्षित होने के कारण वे भाग्यवादी हैं और यह मान लेते हैं कि उन्हें जो प्राप्त हो रहा है वे बिलकुल ही उनके भाग्य के अनुसार है और उससे ज्यादा मिलना संभव नहीं हो सकता। वे अशिक्षित होने क कारण समाजिक रूढियों में फंसे रहते हैं। जन्म, मृत्यु, विवाह, नाम-करण आदि संस्कारों पर वह अत्यधिक धन खर्च करने में अभ्यस्त होते हैं। इस तरह वे अपनी आय का एक बहुत बड़ा भाग व्यर्थ में ही सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए व्यय करते हैं। इस कारण वे अपने दैनिक जीवन की आवश्यकताओं को तृप्त नहीं कर पाते।

(९) फैशन;—भारतीय अब ऊपरी दिखावट में विश्वास करने लगे हैं और जिसके लिए वह अपना बहुत सारा धन व्यय करते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप वे अपनी दैनिक जीवन की आवश्यकताओं को संतुष्ट नहीं कर पाते।

(१०) यातायात और सदेश वाहन के साधनों की कमी;—इन साधनों की अवनत दशा होने के कारण देश का व्यापार बढ़ने नहीं पाता। अतः राष्ट्रीय उत्पादन कम रहता है और राष्ट्रीय आय संकुचित रह जाती है।

(११) अत्यधिक जनसंख्या:—भारत की जनसंख्या लगभग ४० करोड़ है और समस्त संसार की जनसंख्या का १५% है। १९४१-५१ के मध्य में जन-संख्या में वृद्धि १३% के लगभग हुई है। इस प्रकार तेजी से बढ़ती हुई जन-संख्या के साथ हमें उत्पत्ति अधिक व्यक्तियों में बांटनी पड़ती है। इस कारण जीवन-स्तर में वृद्धि नहीं होने पाती।

उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि भारतीयों का जीवन-स्तर काफी नीचा है और वह ऐसा क्यों है उनके कारणों की भी विवेचना की जा चुकी

है। उसको उठाने के लिए निम्नलिखित कार्यों को करना चाहिए:—

प्राकृतिक साधनों का उचित शोषण किया जाना चाहिए ताकि देश का उत्पादन बढ़ सके। खेती के तरीकों में सुधार किया जाना चाहिए तथा वेकार पड़ी हुई भूमि को कृषि योग्य बनाया जाये। सिंचाई के साधन उपलब्ध किए जाने चाहिए ताकि कृषि-उत्पादन में वृद्धि हो। कृषि में सुधार अत्यन्त आवश्यक हैं क्योंकि देश कृषि प्रधान होने के कारण उसकी सारी अर्थ-व्यवस्था उस पर निर्भर है। जनसंख्या की वृद्धि पर रोक लगानी चाहिए। शिक्षा का प्रचार किया जाना चाहिए। यातायात और संदेशवाहन के साधनों का विकास किया जाना चाहिए। श्रमिको की कार्य-कुशलता में वृद्धि करनेका यत्न करना चाहिए। इसके लिए स्थान २ पर Technical Schools आदि खोलने चाहिए। श्रमिक की कुशलता पर ही उत्पादन निर्भर है और उसी पर ही राष्ट्रीय आय।

यह एक हर्ष की बात है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकार ने इस ओर ध्यान दिया है। प्रथम दो योजनाओं में कई Technical Schools आरम्भ किए गए हैं। सिंचाई के साधनों का विकास किया गया है। नए कल कारखाने स्थापित किए गए हैं और प्राकृतिक साधनों का उचित शोषण करने का यत्न किया जा रहा है। परिवार नियोजन को महत्व दिया गया है। कुटीर उद्योगों का विकास किया जा रहा है।

—:§:—

१५ भूमि
(Land)

प्रश्न (४१) अर्थशास्त्र में भूमि का क्या अर्थ है ? उत्पत्ति के साधनों में भूमि का क्या महत्व है ? (M. B. 51)

उत्तर—जन साधारण भूमि शब्द का प्रयोग पृथ्वीतल के अर्थ में करते हैं। परन्तु अर्थशास्त्र में इस शब्द का बहुत व्यापक अर्थ लिया जाता है। प्रकृति के उन सभी निर्मूल्य उपहारों (Free Cifts) को भूमि के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है, जो धनोत्पादन में मनुष्य की सहायता करते हैं। प्रो. मार्शल के अनुसार "भूमि का अर्थ केवल ऊपरी सतह से नहीं है बल्कि उन तमाम पदार्थों और शक्तियों से है जो प्रकृति ने भूमि, जल, वायु, प्रकाश तथा गर्मी के रूप में मनुष्य को सहायता के लिए निर्मूल्य प्रदान की है।"

मार्शल की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि भूमि का अर्थशास्त्र में अत्यन्त ही व्यापक अर्थ लगाया जाता है और इससे कई बार भ्रांति उत्पन्न हो जाती है। इस कारण कई अर्थशास्त्री, भूमि के स्थान पर प्रकृति शब्द का प्रयोग करने का समर्थन करते हैं। प्रो, रुद्र के अनुसार ,भूमि वह शक्तियां हैं जो प्रकृति द्वारा निःशुल्क प्रदान की जाती हैं।" मोरलैंड और अधिकतर अर्थ-शास्त्री भूमि के स्थान पर प्रकृति शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं समझते। उनके मत के अनुसार निम्नलिखित वस्तुएं भूमि के अन्तर्गत आती हैं:—(१) पृथ्वीतल और उसके विभिन्न रूप-मैदान, पर्वत, पठार आदि (२) नदी, झील, समुद्र, जलाशय इत्यादि (३) वायु, गर्मी, जलवायु, प्रकाश (४) प्राकृतिक वनस्पति-घास, वन (५) जमीन के अन्दर पाए जाने वाले विभिन्न खनिज पदार्थ-कोयला, लोहा, तांबा, सोना आदि (६) समुद्रतट एवं प्राकृतिक

बन्दरगाह (७) वायु-शक्ति, जल-शक्ति, ज्वारभाटा पैदा करने वाली शक्ति, चुम्बक-शक्ति और सौर-शक्ति (Solar energy)

महत्व:—मानव-सभ्यता का इतिहास प्रकृति एवं मानव के संघर्ष की एक लम्बी कहानी है। मनुष्य के पास आज जो कुछ सम्पति के रूप में मौजूद है वह उसे मूलतः प्रकृति से ही प्राप्त हुई है। भूमि को उत्पति का मौलिक तथा प्राथमिक साधन स्वीकार किया गया है। बिना भूमि के किसी प्रकार की उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती। किसी भी देश की आर्थिक संपन्नता वहां पर उपलब्ध होने वाले प्राकृतिक साधनों पर निर्भर करती है। जिस देश के प्राकृतिक साधन जितने विशाल होते हैं और उनका जितना अधिक उचित और पूर्ण शोषण होता है वह देश उतना ही अधिक आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होता है। इसके विपरीत जिस देश के प्राकृतिक साधन जितने अधिक सीमित होते हैं वह देश आर्थिक सम्पन्नता में उतना ही अधिक पिछड़ा हुआ रहता है।

प्राथमिक उद्योग में (Primary Indusstries) का विकास मुख्यतः भूमि पर ही निर्भर होता है-कृषि, खान-खुदाई, वन-व्यवसाय, मछली पकडने का उद्योग, शिकार करना आदि प्राकृतिक देनों पर ही अवलम्बित है। जिन देशों में कृषि योग्य भूमि, वन, खान इत्यादि पर्याप्त मात्रा में मौजूद होते हैं, उन देशों में प्राथमिक उद्योग स्वाभाविक रूप से ही उन्नत अवस्था में होते हैं। कनाड़ा, रूस आदि देशों में वन-व्यवसाय का उन्नत होने का मुख्य कारण यह है कि वहां आर्थिक दृष्टि से विकास योग्य वन क्षेत्रों को पर्याप्त रूप से विस्तृत होने का अवसर मिलता है।

गौण-धन्धों और कल-कारखानों का विकास किसी देश में उसी समय संभव हो सकता है जब वहां पर उसके लिए आवश्यक प्राकृतिक साधन उपलब्ध हों। औद्योगिक विकास कोयला, पैट्रोल, जल-शक्ति तथा पर्याप्त खनिज सम्पत्ति (लोहा, मैंगनीज), वन सम्पत्ति आदि की सुलभता पर निर्भर है यह सब प्रकृति की ही देन है। अतः यह कहना सर्वथा उचित होगा कि देश का औद्योगिक विकास भूमि पर निर्भर रहता है।

व्यापारिक सुविधाएं भूमि पर ही निर्भर करती हैं। यातायात तथा देश-वाहन साधनों का विकास धरातल की बनावट पर निर्भर रहता है।

समतल मैदानों में सरलता और कम व्यय पर उनका विकास किया जा सकता है। परन्तु पहाड़ी क्षेत्रों में ऐसा होना संभव नहीं। जलवायु और वायु मार्ग के चलने-फिरने तथा रहने के लिए भी भूमि के धरातल की नितान्त आवश्यकता रहती है।

अतः समस्त आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा औद्योगिक कार्य भूमि की सतह पर रह कर भूमि की सहायता से किए जाते हैं। यह कहना उचित ही है कि भूमि भौतिक समृद्धि का मूल स्रोत है। वर्तमान युग में हालांकि धनोत्पत्ति में पूंजी, साहस, श्रम आदि साधनों का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है फिर भी भूमि धनोत्पत्ति का एक मौलिक और अनिवार्य साधन होने के कारण उसके महत्व को किसी भी अवस्था में कम नहीं किया जा सकता।

प्रश्न (४२) विस्तृत और गहरी खेती पर टिप्पणी लिखिए। "यह दोनों हर देश में साथ २ चलती हैं।" स्पष्ट कीजिए।

(U. P. 45, 46, 48, 53)

उत्तर:—प्रो० ऐली का कथन है कि अर्थशास्त्र में हमें प्रकृति की वाह्य वस्तुओं में सबसे अधिक काम भूतल से ही पड़ता है। भूतल का प्रमुख उपयोग कृषि है जो खाद्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए की जाती है। प्रत्येक देश को खाद्य पदार्थों की आवश्यकता सदैव एक समान नहीं रहती। जनसंख्या में वृद्धि होने पर उनकी आवश्यकता में भी वृद्धि होती है। इस कारण कृषि की उपज बढ़ानी पड़ती है। इसके लिए सामान्यतः दो रीतियों को काम में लाया जाता है—(१) विस्तृत खेती (२) गहरी खेती।

विस्तृत खेती:—जब कृषि कार्य में भूमि के विस्तृत क्षेत्र का उपयोग किया जा रहा हो तथा श्रम और पूंजी का विनियोग अपेक्षाकृत कम हो तो ऐसी खेतीको विस्तृत खेती (**Extensive Cultivation**) कहते हैं। उन देशों में जहां पर भूमि की मात्रा अधिक होती है और जो बेकार पड़ी रहती है, आवश्यकतानुसार उपज में वृद्धि करने के लिए खेती का क्षेत्रफल बढ़ा दिया जाता है। आस्ट्रेलिया, कनाड़ा आदि देशों में विस्तृत खेती का विशेष प्रचार है। भारत में उन प्रदेशों में जहां पर वर्षा पर्याप्त मात्रा में न होने के कारण कृषि नहीं की जाती थी, उन पर भी खेती करना सिंचाई के साधनों की उप-

लब्धि के साथ प्रारम्भ हो गया है। जैसलमेर जो एक रेगिस्तानी भाग है उस प्रदेश की भूमि को भी कृषि के अन्तर्गत लाया जायेगा जब राजस्थान नहर का निर्माण कार्य पूरा हो जायेगा और कृषि के लिए आवश्यक जल प्राप्त होगा।

गहरी खेती:—जब कृषि-कार्य के लिए भूमि का क्षेत्र सीमित हो और श्रम और पूंजी का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग किया जाय तब इस प्रकार की कृषि को गहरी खेती (**Intensive Cultivation**) कहते हैं। इस प्रकार की खेती में किसान भूमि के हर इन्च का अधिक प्रयोग करेगा और आधुनिकतम कृषि साधनों का प्रयोग कर, अच्छे २ खाद, बीज और श्रमिकों की संख्या में उचित वृद्धि कर वह अधिकतम उपज प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार की खेती प्रायः उन देशों में की जाती है जहां की जनसंख्या अत्यधिक हो और भूमि की मात्रा काफी सीमित हो। जर्मनी, इंगलैंड, चीन तथा भारत आदि देशों में गहरी खेती का प्रचार है।

उपरोक्त विवेचना से दोनों प्रकार की खेती के तरीकों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इनमें से किस रीति को अपनाना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर देते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि विचाराधीन देश की परिस्थितियां किस प्रकार की हैं। देश में जनसंख्या, भूमि की मात्रा, कृषि का उत्पादन-व्यय आदि बातों को ध्यान में रख कर किसान, "इन दोनों में से किस रीति को अपनाना चाहिए" उसका निर्णय करता है। किसी मात्रा को उत्पन्न करने में यदि विस्तृत खेती में गहरी खेती की अपेक्षा कम उत्पादन व्यय लगता है तो उस अवस्था में किसान विस्तृत खेती को प्रयोग में लायेगा अन्यथा गहरी खेती को। जब किसी देश में जनसंख्या अत्यधिक हो और प्रति व्यक्ति भूमि की मात्रा अत्यन्त सूक्ष्म हो तब ऐसी हालत में विस्तृत खेती के अनुकूल वातावरण नहीं रहता और यदि देश में वैज्ञानिक विकास नहीं हो पाया है तब सीमित भूमि होने पर भी वहां विस्तृत खेती चलती रहेगी। जब किसी देश में सिंचाई के साधनों का विकास हो जाता है, आधुनिकतम कृषि औजारों तथा अच्छे बीज और खाद प्राप्त होने लगते हैं तो गहरी खेती के लिए उचित वातावरण तैयार हो जाता है। जिन देशों में जनसंख्या कम है और

भूमि की मात्रा अधिक है वहां पर भूमि सस्ती होती है और इस कारण वहां के किसान को अन्य साधनों पर व्यय अधिक नहीं करना चाहिए। वे विस्तृत खेती प्रणाली को ही अपनाना पसन्द करेंगे।

इस प्रकार गहरी और विस्तृत खेती में से कौन सी रीति को अपनाया जायेगा, यह प्रचलित परिस्थितियों पर निर्भर करता है। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि एक देश केवल एक ही प्रणाली विशेष को अपनाता है। प्रायः दोनों प्रकार की खेती साथ साथ चलती रहती है। किस देश में किस प्रणाली का अधिक मात्रा में प्रचार होगा यह उसकी स्वयं की परिस्थितियों विशेष पर निर्भर करता है। परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर उनके प्रचलन में भी परिवर्तन होता रहता है।

प्रश्न (४३) अर्थशास्त्र में भूमि का क्या अभिप्राय है? भूमि का उत्पादन में क्या महत्व है? तथा उसके लक्षणों का भी उल्लेख करिए।

(U. P. 42. 58, Raj. 50, M B. 51, Sagar 50)

उत्तरः—अर्थशास्त्र में भूमि का अभिप्राय तथा भूमि का उत्पादन में क्या महत्व है इसके लिए देखिए प्रश्न नं० (४१)

उत्पत्ति के साधन के रूप में भूमि की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जो उत्पत्ति के अन्य साधनों में विद्यमान नहीं होती।

(१) प्रकृति का निर्मूल्य उपहारः—भूमि के अन्तर्गत सम्मिलित की जाने वाली तमाम वस्तुएँ मनुष्य को प्रकृति की ओर से निर्मूल्य (**Free Gifts**) प्राप्त होती हैं। उनके निर्माण में उसे कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता।

(२) भूमि का परिमाण निश्चित तथा सीमित हैः—भूमि की मात्रा को न तो बढ़ायी जा सकती है और न ही उसमें किसी प्रकार से कमी करना ही संभव है। उसकी मात्रा निश्चित और सीमित होती है। भूमि के क्षेत्रफल, खनिज पदार्थो, वर्षा आदि के परिमाण को नहीं बदला जा सकता।

(३) भूमि की स्थिति स्थिर हैः—भूमि के किसी टुकड़े अथवा जलवायु आदि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना संभव नहीं है। भूमि में भौगोलिक गतिशीलता का अभाव है। भूमि उत्पत्ति का अचल साधन है।

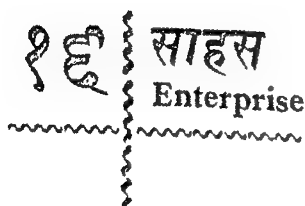
(४) भूमि एक निष्क्रिय साधन है–भूमि स्वयं अपने आप धनोत्पत्ति नहीं कर सकती। मनुष्य इस पर श्रम और पूंजी लगाकर धनोत्पत्ति करता है।

(५) भूमि की उर्वरता भिन्न २ होती है:—सभी भूमि की उपजाऊ शक्ति एक समान नहीं होती। किसी स्थान की भूमि यदि अत्यधिक उपजाऊ होती है तो किसी स्थान की भूमि बंजर।

(६) विविधता:–जिस प्रकार उर्वरता में विभिन्नता पाई जाती है उसी प्रकार से उसमे अन्य प्रकार की विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। यदि एक स्थान पर खनिज पदार्थ पाए जाते है तो दूसरे स्थान पर समुद्र। किसी स्थान की मिट्टी काली होती है तो किसी की लाल या रेतीली। कोई भूमि समतल होती है तो कोई ऊबड़-खाबड़।

(७) अक्षयता:—भूमि को किसी भी अवस्था में बिलकुल नष्ट नहीं किया जा सकता। भूकम्प आने के कारण भूमि के स्थान पर पानी और पानी के स्थान पर भूमि हो जाती है। इससे भूमि का अस्तित्व नष्ट नहीं होता। यह तो केवल उसका रूपांतर है जो काफी नगण्य होता है।

—:❀:—



प्रश्न (४४) अर्थशास्त्र में साहस का क्या अर्थ है ? एक साहसी के क्या कार्य हैं ? **(Nagpur 55. M. P. 49)**

Ans. साहस से हमारा अभिप्राय व्यवसाय में विद्यमान 'जोखिमों' से है। प्रत्येक व्यवसाय में कुछ न कुछ जोखिम और अनिश्चितता रहती है। कम

या अधिक जोखिम रहे बिना धनोत्पत्ति कार्य असंभव है। आधुनिक युग की औद्योगिक व्यवस्था में उत्पादन कार्य अत्यधिक जटिल हो गया है। अब उपभोक्ता की सार्वभौमिकता (Consumer's Sovereignty) नहीं रह गई है। उत्पत्ति की मात्रा अनुमान द्वारा तय की जाती है। हो सकता है कि फैशन में परिवर्तन होने पर उसकी मांग में कमी हो जाय। इस प्रकार के कई जोखिम और अनिश्चितताओं का एक उत्पादक को सामना करना पड़ता है। इस अनिश्चितता और जोखिम को झेलने के कार्य को अर्थशास्त्र में साहस कहते हैं और इसे जो व्यक्ति झेलता है वह साहसी कहलाता है।

प्रो० एफ. एस. नाइट ने अनिश्चितताबहन को साहस कहा है।

आधुनिक उत्पत्ति में साहसी का बहुत महत्व है। वह उन्नति के क्षेत्र में बहुत आवश्यक और महत्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करता है। प्रो. बेनहम ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का उल्लेख किया है।

(१) व्यवसाय का चुनाव:—जब कोई व्यक्ति साहसी का कार्य करने का निश्चय करता है तो सर्व प्रथम उसे यह तय करना होता है कि वह किस व्यवसाय का जोखिम अपने पर ले। वह इस प्रकार सबसे पहले किसी विशेष व्यवसाय को प्रारम्भ करने का निर्णय करता है। उसी व्यवसाय की आरम्भ से अन्त तक की पूर्ण योजना तैयार करता है।

(२) उत्पत्ति के स्थान का चुनाव:—व्यवसाय का चुनाव करने के बाद वह यह निश्चित करता है कि उस व्यवसाय को किस स्थान पर आरम्भ किया जाय। इसका निर्णय करते समय वह सभी आवश्यकताओं को जैसे यातायात के साधनों की उपलब्धता, शक्ति के साधन तथा बाजार की निकटता आदि का ध्यान रखता है।

(३) उत्पादन के पैमाने का निर्णय.—साहसी स्वयं इस बात को भी तय करता है कि उसके द्वारा आरम्भ किए जाने वाले उद्योग किस पैमाने का हो—बड़े या छोटे। वह इसका निर्णय उत्पन्न की जाने वाली वस्तु की मांग को देख कर करता है।

(४) व्यवसाय का निर्देशन, निरीक्षण तथा नियन्त्रण:—आधुनिक युग में प्रायः मिश्रित कम्पनियां ही होती हैं। इनका प्रबन्ध (Routine

work) वेतन पाने वाले संचालकों और अधिकारियों को सौंप दिया जाता है। परन्तु आवश्यक बातों का निर्णय साहसी स्वयं करता है। व्यवसाय का अन्तिम नियन्त्रण वह स्वयं करता है। समय २ पर वह उसका निरीक्षण कर आवश्यक निर्देशन भी प्रदान करता है।

(५) पुरस्कारों का वितरण:—वह भूमि के मालिक को भूमि का किराया, मजदूरों को उनकी मजदूरी, अधिकारियों को उनका वेतन तथा पूंजीपतियों को उनकी पूंजी का व्याज देता है और सब प्रकार के व्यय को देने के बाद जो कुछ रह जाता है उस 'शेष' को वह अपने लाभ के रूप में रख लेता है।

(६) जोखिम उठाना:—व्यवसाय सम्बन्धी समस्त निर्णय वह स्वयं करता है। अनुमान गलत हो जाने पर जो कुछ भी हानि होती है वह उसे सहन करनी पड़ती है। इस प्रकार एक साहसी लाभ या हानि का एक बहुत बड़ा जोखिम उठाता है।

साहसी के उपरोक्त कार्यों को ध्यान में रखते हुए यह कहना कोई अतिशयोक्ति न होगी कि आधुनिक उत्पादन व्यवस्था में साहस का एक महत्वपूर्ण स्थान है। कोई भी उत्पादन कार्य तब तक आरम्भ नहीं हो सकता जब तक कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह उस व्यवसाय में निहित जोखिम को झेलने के लिए तत्पर न हो। आधुनिक युग में मिश्रित कम्पनियों के विकास ने उनके (साहसी के) महत्व को बहुत हद तक सीमित कर दिया है।

१७ श्रम
(Labour)

प्रश्न (४५) श्रम की परिभाषा लिखिए। क्या निम्न कार्यों में श्रम शामिल है ? कारण दीजिए [a] क्रिकेट का मैच खेलना। [b] मेगजीन में छपवाने को कविता बनाना और [c] किसी अधिवेशन में भाग लेने को यात्रा करना।

(Nagpur 50)

उत्तरः—साधारण बोलचाल की भाषा में श्रम का अभिप्राय उस प्रयत्न से है जो किसी कार्य को करने के लिए किया जाता है। यह श्रम का बहुत ही अधिक व्यापक अर्थ है। अर्थशास्त्र में 'श्रम' शब्द का प्रयोग अत्यन्त सीमित अर्थ में किया जाता है।

अर्थशास्त्र में श्रम शब्द का प्रयोग श्रम-शक्ति के अर्थ में किया जाता है।

प्रो० थोमस (Thomas) के कथनानुसार "श्रम मनुष्य का वह शारीरिक व मानसिक प्रयत्न है जो किसी प्रतिफल की आशा से किया जाता है।"

मार्शल के अनुसार "श्रम का अर्थ मनुष्य का काम है, (आर्थिक) चाहे वह हाथ से किया जाय या दिमाग से।"

सरल शब्दों में यह कह सकते हैं कि मनुष्य द्वारा किए जाने वाले समस्त मानसिक और शारीरिक प्रयत्न जो मनोरंजन के लिए नहीं बल्कि धनोपार्जन के लिए किए जाते हैं, श्रम कहलाते हैं। प्रो० स्द्रा का मत भिन्न है। उनके अनुसार "मनुष्य का वह शारीरिक परिश्रम जो धनोत्पत्ति में सहायता प्रदान करता है श्रम है।" यह मत सही नहीं माना जाता।

श्रम में केवल मनुष्यों द्वारा किए गए प्रयत्न ही सम्मिलित किए जाते

हैं। मनुष्य के शारीरिक और मानसिक प्रयत्न जिनका उद्देश्य धन कमाना हो श्रम है।

यदि कोई व्यक्ति क्रिकेट का मैच केवल अपने मनोरंजन के लिए खेलता है तो वह श्रम नहीं है परन्तु यदि वह धनोत्पत्ति के उद्देश्य से उसमें भाग लेता है तो अवश्य वह श्रम है।

यदि मेगजीन में छपवाने के लिए कविता लिखने वाले को कुछ पारिश्रमिक दिया जाता है तब उसका वह कार्य श्रम माना जायगा परन्तु कुछ आर्थिक लाभ न मिलने पर उसे श्रम के अन्तर्गत शामिल नहीं किया जा सकता।

यदि कोई व्यक्ति किसी आर्थिक लाभ की दृष्टि से अधिवेशन में भाग लेने रेल यात्रा करता है या अधिवेशन में भाग लेने के बदले में उसे कुछ आर्थिक पारिश्रमिक दिया जाता है तो वह श्रम है अन्यथा नहीं।

प्रश्न (४६) माल्थस के जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त का उल्लेख करके सावधानी से आलोचना कीजिए। इष्टतम (सर्वोत्तम) जनसंख्या क्या होती है?

(Raj 1954, 57., U. P. 45. 58. 50, Ajmer 43. Pre. U. 60)

उत्तर—जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला प्रथम व्यक्ति इंग्लैंड का पादरी माल्थस था। माल्थस एक निराशावादी नवयुवक था। उसके अनुसार भविष्य अन्धकारमय है। उसने अपने विचार "An Essay on Principles of Population" में व्यक्त किए। माल्थस ने अपने सिद्धान्त में तीन बातें कही हैं :—

यदि कोई प्रतिबन्ध न हो तो देश की जनसंख्या वहां उत्पन्न होने वाली खाद्य-सामग्री की अपेक्षा काफी तेजी से बढ़ती है। (Population tends to outgrow the means of subsistenee).

इस कारण मानव-जनन शक्ति है। वह इतनी अधिक है कि यदि कोई रुकावट मौजूद न हो तो किसी देश की जनसंख्या २५ वर्षों में दुगनी हो जाती है। उसके अनुसार यदि जनसंख्या ज्यामितिक वृद्धि अर्थात् २, ४, ८, १६, ३२ के अनुसार बढ़ती है तो खाद्य-सामग्री अङ्क गणित-वृद्धि के हिसाब (१, २, ३,

४) से बढ़ती है। इस प्रकार वृद्धि होने पर एक समय ऐसा आता है जब किसी देश की खाद्य-सामग्री वहां की सम्पूर्ण जनसंख्या के लिए कम पड़ जाती है।

माल्थस का कहना है कि बढ़ती हुई जनसंख्या को दो तरह से रोका जा सकता है। [i] नैसर्गिक रोक (Postive checks) [ii] प्रतिबन्धक रोक (Preventive checks).

नैसर्गिक प्रतिबन्ध वह होते हैं जो प्रकृति की ओर से प्रयोग में लाये जाते हैं। जनसंख्या में आवश्यकता से अधिक वृद्धि होने पर प्रकृति द्वारा वह काम में लाए जाते हैं जिसके कारण मृत्यु दर बढ़ जाती है और जनसंख्या कम हो जाती है। इसमें प्लेग, बाढ़, अकाल, भूकम्प और युद्ध आदि शामिल हैं।

प्रतिबन्धक (निवारक) रोकः—इसमें वह प्रतिबन्ध सम्मिलित होते हैं जो जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए मनुष्य के स्वयं के द्वारा प्रयोग में लाए जाते हैं। यह जन्म-दर को कम कर जनसंख्या को कम करते हैं। जैसे, बड़ी उम्र में विवाह करना, Birth control, संयम आदि।

यदि इन्हें काम में नहीं लाया जाय तो प्रकृति की ओर से रोक लगाई जाती है। माल्थस कहता है, जिस अनुपात में मानव जाति पशुओं की अवस्था से ऊँची उठती है, जनसंख्या (खाद्य-पदार्थों के) अभाव से नहीं, बल्कि अभाव के भय से सीमित रहती है।

माल्थस ने पहले अपने देशवासियों को जनसंख्या कम करने के साधनों का उपयोग करने की सलाह दी थी। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि ऐसा न करने पर प्रकृति मृत्यु संख्या में वृद्धि करने वाले नैसर्गिक प्रतिबन्ध लगा देगी।

माल्थस ने पहले अपने सिद्धान्त में केवल नैसर्गिक रोक का ही उल्लेख किया था परन्तु कड़ी आलोचना किए जाने पर उसने संशोधन कर प्रतिबन्धक रोक को सम्मिलित किया।

माल्थस के सिद्धान्त में कई त्रुटियां हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि वह आनेवाले उन्नतिशील वर्षों के विषय में कुछ भी नहीं सोच पाया था इसके सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधार पर की जाती है—

(१) गणित का आधारः—माल्थस ने जनसंख्या सिद्धान्त को समझाने के लिए गणित का गलत प्रयोग किया था। किसी भी देश में जनसंख्या तथा खाद्य

सामग्री में वृद्धि ज्यामितिक और अङ्कगणित वृद्धि के हिसाब से नहीं होती। किसी भी देश की जनसंख्या २५ वर्ष में दुगनी नहीं हो जाती।

(२) देहशास्त्रीय दलील:—देहशास्त्र यह बतलाता है कि जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य होता जाता है वैसे-वैसे उसकी प्रजनन-शक्ति कम होती जाती है। माल्थस ने इस तथ्य की अपने सिद्धान्त में पूर्णतया अवहेलना की है।

(३) यातायात में विकास:—माल्थस एक निराशावादी व्यक्ति था। उसे यह आशा न थी कि भविष्य में यातायात के साधनों में इतना अधिक विकास हो सकता है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर खाद्य-सामग्री को आसानी से पहुँचाया जा सकता है। वर्तमान समय में इंगलैंड जैसा औद्योगिक देश लगभग पूर्ण रूप से अपनी खाद्य-सामग्री के लिए दूसरे देशों पर निर्भर है।

(४) खेती के तरीकों में सुधार:—माल्थस ने यह गलत अनुमान लगाया था कि खेती में वृद्धि Diminishing Returns के अनुसार ही होती रहेगी। उसे यह आशा न थी कि खेती के तरीकों में सुधार कर और यन्त्रों के प्रयोग द्वारा कृषि की उत्पत्ति की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि की जा सकेगी। बंजर भूमि को खेती योग्य बनाया जा सकेगा।

(५) मानसिक विकास:—सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्यों के विचारों में भी बहुत बड़ा परिवर्त्तन आ जाता है। वह बड़े परिवारों के स्थान पर छोटे परिवार चाहने लगता है और विवाह भी काफी बड़ी उम्र में करता है।

(६) जीवन स्तर में वृद्धि:—आधुनिक समय में मनुष्य ऊँचे से ऊँचा जीवन-स्तर बनाए रखना चाहता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब आय अधिक हो और परिवार छोटा। इस कारण मनुष्य यह प्रयत्न करता है कि परिवार छोटा रहे।

माल्थस इस बात को भूल गया था कि जो मनुष्य इस संसार में आता है वह दो हाथ और बुद्धि लेकर आता है। प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ कार्य अवश्य करता है जिससे उसका जीवन निर्वाह हो सके। वर्तमान समय में इस सिद्धान्त को कोई भी व्यक्ति स्वीकार करने को तैयार नहीं है और न ही यह

किसी देश पर लागू होता है। अब केवल उसका ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है।

सर्वोत्तम (आदर्श) जनसंख्या सिद्धान्त आधुनिक सिद्धान्त है। इसका प्रतिपादन प्रो० कैनन तथा कार सोन्डर्स ने किया है।

प्रो० कार सोन्डर्स के अनुसार किसी देश में किसी समय-विशेष पर आदर्श जनसंख्या वह है जिससे प्रति व्यक्ति आय (Income Per c-pita) अधिकतम हो तथा जिसमें तनिक भी वृद्धि या कमी होने पर प्रति व्यक्ति आय कम हो जाय।

आदर्श (इष्टतम) जनसंख्या का सिद्धान्त यह बतलाता है कि देश के प्राकृतिक साधनों (Natural Resources) का उचित रूप से शोषण करने के लिए उत्पत्ति के साधनों की एक निश्चित मात्रा में आवश्यकता होती है। उत्पत्ति के साधनों में 'श्रमिक' भी एक साधन है। जनसंख्या की वह मात्रा जिससे देश के प्राकृतिक साधनों का उचित रूप से शोषण हो सके तथा जिस कारण देश की प्रति व्यक्ति आय अधिकतम हो जाय, आदर्श जनसंख्या कहलाती है। इसमें तनिक भी वृद्धि या कमी होने पर प्रति व्यक्ति आय कम हो जाती है।

प्रश्न (४७) श्रम की कार्य-क्षमता को प्रमाणित करने वाली बातों को समझाइये। (Raj. 51, 53, Aj. 49, U. P. 46, M. B. 53, Sagar 52)

उत्तर—श्रम की कार्य-क्षमता (दक्षता) से हमारा अभिप्राय उसकी उत्पादन कुशलता से है। किसी एक विशेष निश्चित समय में तथा एक ही समान अवस्थाओं में, मात्रा में ज्यादा या गुण में अच्छी या दोनों प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न करने की शक्ति को ही श्रम की कार्य-क्षमता कहते हैं।

यह साधारण ज्ञान की बात है कि कोई श्रमिक अधिक कुशल होता है और कोई कम। दो श्रमिकों के कार्यों की तुलना किए बिना किसी एक की कुशलता की व्याख्या नहीं की जा सकती।

कार्य-क्षमता शब्द का प्रयोग तुलनात्मक रूप में किया जाता है। मान लो यदि एक श्रमिक एक ही समान अवस्थाओं में दूसरे श्रमिक से दुगना उत्पादन

करता है तो इसका अर्थ होगा कि वह दूसरे की अपेक्षा दुगना कार्य-कुशल है। यह इसलिए होता है क्योंकि दोनों की कार्य करने की शक्ति भिन्न-भिन्न है। श्रमिकों की कार्य-क्षमता पर निम्नलिखित बातों का प्रभाव पड़ता है।

श्रमिक के व्यक्तिगत गुणः—किसी भी श्रमिक की कार्य-कुशलता पर उसके अपने स्वयं के गुणों का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

(१) जातीय गुणः—श्रमिकों की कार्य-दक्षता पर उनकी जाति, उनके परिवार का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। किसी श्रमिक की देर तक कार्य करने की शक्ति या अच्छा काम करने की योग्यता उसके स्वास्थ्य, शरीर के गठन आदि पर निर्भर है। एक पठान एक मारवाड़ी की तुलना में अधिक कठिन परिश्रम कर सकता है।

(२) पैतृक गुणः—यह एक साधारण ज्ञान की बात है कि बालक पर उसके परिवार के सदस्यों का प्रभाव पड़ता है। प्रायः एक योग्य व्यक्ति का पुत्र योग्य होता है। अधिकतर एक बालक अपने पिता के व्यवसाय को ही अपनाता है। जिसकी शिक्षा उसे बचपन से ही मिलती रहती है। अपने पूर्वजों से अत्यन्त प्रभावित होने के कारण स्विटजरलैंड के घड़ी निर्माता संसार में प्रसिद्ध हैं। जयपुर के मूर्तिकार भी ज. वर्षों से यही कार्य करते आये हैं, अपनी कुशलता के लिए प्रसिद्ध हैं।

(३) शिक्षाः—सामान्य शिक्षा मनुष्य की अविकसित योग्यताओं को जागृत कर देती है। उसकी बुद्धि का विकास हो जाता है और इस कारण उसकी योग्यता में वृद्धि होती है। वह कार्य को अब आसानी से सीख लेता है और उसमें विचार करने की तथा निर्णय लेने की शक्ति आ जाने के कारण उसकी कुशलता में वृद्धि होती है।

उस श्रमिक की कार्य-कुशलता किसी भी अवस्था में एक विशिष्ट शिक्षा प्राप्त श्रमिक की अपेक्षा अधिक नहीं हो सकती।

(४) रहन-सहन का स्तरः—उन श्रमिकों की कार्य-कुशलता अधिक होती है जिनका जीवन-स्तर ऊंचा होता है। नीचा जीवन होने पर उनकी

कार्य-क्षमता कम हो जायेगी। इस कारण कई वार कहा जाता है कि सस्ती मजदूरी महंगी और महंगी मजदूरी सस्ती होती है।

(५) नैतिक गुण:—उन मजदूरों की दक्षता किसी भी हालत में अधिक नहीं हो सकती जिनमें नैतिक गुण का अभाव है। या जो अपने उत्तरदायित्व को ईमानदारी से नहीं निभाते। प्रायः यह देखा जाता है कि श्रमिक केवल उसी समय कार्य करते हैं जब उन पर निरीक्षण करने वाला व्यक्ति उनके पास मौजूद है। उसकी अनुपस्थिति में वह कार्य करना वन्द कर देते हैं। परन्तु इसके विपरीत उन श्रमिकों की कार्य-क्षमता अधिक होती है जिनमें नैतिक गुण होते हैं अर्थात् जो अपने उत्तरदायित्व को प्रत्येक अवस्था में ईमानदारी से निभाते हैं।

काम करने की अवस्था—श्रमिक का सम्वन्ध उस स्थान से जहां पर वह कार्य करता है वहुत ही घनिष्ठ होता है जिसका प्रभाव निस्संदेह उसकी कार्य-कुशलता पर पड़ता है।

(१) कारखानों की अवस्था:—श्रमिकों की कार्य-दक्षता पर कारखानों की अवस्था का प्रभाव पड़ता है। उन कारखानों के श्रमिकों की जहां पर हवा का अभाव होता है कार्य-क्षमता कम होती है। इसके विपरीत जहां का वातावरण अच्छा होता है वहां के श्रमिकों की कार्य-कुशलता अधिक होती है।

(२) काम करने का समय:—कुछ वर्षों पहले यह मान्यता थी कि श्रमिकों से जितनी अधिक देर कार्य लिया जायेगा उतना ही अधिक उत्पादन होगा। आधुनिक समय में किए गए प्रयोगों ने उपरोक्त धारणा को गलत साबित कर दिया है। श्रमिक की कार्य-क्षमता पर काम करने की अवधि तथा उसके बीच में उसे कितना अवकाश मिलता है इसका प्रभाव पड़ता है। इस कारण वर्तमान समय में श्रमिकों के हितों को ध्यान में रखकर फैक्ट्री एक्ट वनाये गये हैं।

(३) भविष्य में उन्नति की आशा:—यदि श्रमिक को यह उम्मीद है कि उसके कार्य के कारण भविष्य में उसकी उन्नति हो सकती है तो वह मन लगाकर कार्य करेगा और अपने तत्कालीन उत्तरदायित्व को ईमानदारी से निभाने का यत्न करेगा। इस स्थिति में उसकी कुशलता में अवश्य वृद्धि

(४) प्रतिफल की पर्याप्तता, समीपता तथा प्रत्यक्षता:—श्रमिक को जब तक उसके कार्य का पर्याप्त प्रतिफल नहीं मिलेगा तब तक वह असंतुष्ट रहेगा और वह मन लगा कर कार्य नहीं करेगा। इस कारण उसकी कार्य-कुशलता कम होगी। अतः उसे पर्याप्त प्रतिफल मिलना चाहिए।

श्रमिक को उसके परिश्रम का प्रतिफल शीघ्र ही मिलना चाहिए। यदि उसमें देर हुई तो उसकी रुचि पर उसका प्रभाव पड़ेगा जिसके कारण उसकी कुशलता कम हो सकती है।

जहां तक हो सके उसे प्रतिफल धन के रूप में मिलना चाहिए। यदि प्रतिफल अन्य प्रकार की सुविधाओं के रूप में मिलता है तो उनका उस पर कोई विशेष प्रभाव न होगा।

(५) प्रोत्साहन के लिए बोनस:—आधुनिक समय में श्रमिकों को अधिक कार्य के लिए इस नीति को अपनाया जाता है। औसतन श्रमिक नीति को अपनाया जाता है। औसतन श्रमिक की कार्य-क्षमता के आधार पर श्रमिक के उत्पादन की मात्रा निश्चित कर दी जाती है। यदि कोई श्रमिक इस निर्धारित मात्रा से अधिक उत्पादन करता है तो उसे इस अधिक मात्रा के लिए विशेष प्रतिफल दिया जाता है। इस प्रकार प्रोत्साहन देने की रीति का प्रभाव उसकी कार्य कुशलता पर पड़ता है।

(६) काम करने की स्वतन्त्रता:—श्रमिकों की कार्य-क्षमता कम हो जाती है यदि उनके कार्यों मे बार २ हस्तक्षेप किया जाय।

देश और समाज का वातावरण:—श्रमिकों की कार्य क्षमता पर उस स्थान की जलवायु तथा समाज, जिसमें वह रहता है, के वातावरण का प्रभाव पड़ता है।

(१) जलवायु—उस देश के श्रमिकों की कार्य क्षमता अधिक होती है जहाँ का जलवायु न तो अधिक गर्म होता है और न ही अधिक सर्द। भारत के श्रमिकों की कुशलता गर्म जलवायु के कारण कम है।

[२] सामाजिक और राजनैतिक वातावरण:—हमारे देश में कई बार जाति-प्रथा के कारण व्यक्तियों के व्यवसाय जन्म से ही तय हो जाते हैं

इसका प्रभाव कार्य-क्षमता पर ही पड़ता है। एक बढ़ई का पुत्र अधिकतर अपने जाति व्यवसाय को ही अपनाता है चाहे उसमें अन्य किसी कार्य करने की विशेष क्षमता मौजूद हो।

उस देश के श्रमिकों की कार्य-क्षमता अधिक होती है जहां पर सरकार उनके हितों के लिए फैक्ट्री नियम बनाती है। एक गुलाम देश के श्रमिकों की कार्य-क्षमता उन श्रमिकों की कार्य-कुशलता से जो आजाद देश के हैं, की तुलना में कम होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि गुलाम देश के निवासियों का प्रायः नैतिक पतन हो जाता है।

[३] धर्म:—उन श्रमिकों की कार्य-क्षमता जो भाग्यवादी होते हैं कम होती है जिनका लक्ष्य कम खाना और गम करना होता है। वह जो कुछ उन्हें मिल जाता है उससे संतुष्ट रहते हैं और उससे अधिक प्राप्त करने का यत्न ही नहीं करते। इस प्रकार का (भाग्यवादी) धार्मिक विचार उन्हें आगे नहीं बढ़ने देता।

[४] प्रबन्ध करने की योग्यता:—किस प्रकार से उत्पत्ति के साधनों का उचित प्रयोग किया जा सकेगा इसका प्रबन्ध प्रबन्धकर्ता की योग्यता पर निर्भर है। वही श्रमिकों के कार्यों को निश्चित करता है और नीति निर्माता भी वही है। कारखानों की व्यवस्था भी उसके हाथों में होती है। यदि प्रबन्धकर्ता उचित प्रबन्ध करता है जिसके कारखानों का वातावरण आदर्श बना रहताहै तो श्रमिक संतुष्ट रहेंगे और उनकी कार्य-कुशलता में वृद्धि होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रमिकों की कार्य—क्षमता पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है। उनमें से प्रमुख उनकी व्यक्तिगत योग्यता होती है। परन्तु वह उसी समय बनी रह सकती है जब जहां पर वह कार्य करता है वहां का वातावरण आदर्श हो और उसका प्रबन्ध ठीक ढंग से किया जाता हो।

१८ पूंजी
(Capital)

प्रश्न (४८) पूंजी की परिभाषा लिखिए। यह धनोत्पादन में किस प्रकार सहायक होती है? भारत में "पूंजी का संचय कम होने के क्या कारण हैं? (Raj. 49, U. P. 35)

उत्तर:—साधारण बोलचाल में "पूंजी (Capital) का अर्थ धन या सम्पत्ति (Wealth) से लिया जाता है। अर्थशास्त्र में इसका प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया जाता है। पूंजी की परिभाषा भिन्न २ प्रकार से दी गई है:—

मार्शल के अनुसार "सब प्रकार की सम्पत्ति, प्रकृति की निःशुल्क देनों को छोड़ कर, जिनसे आय प्राप्त होती है, पूंजी कहलाती है।"

सिल्वर मेन के अनुसार, "पूंजी उस धन को कहते हैं, जो अधिक उत्पादन करने के लिए रखा जाता है।"

सरल शब्दों में केवल उसी धन को पूंजी कहते हैं जो और अधिक धन उत्पन्न करने के काम में लाया जाता है। अर्थशास्त्र में अतः सब धन को पूंजी नहीं माना जाता। (परन्तु प्रो० बैन्टम सभी प्रकार की वस्तुओं को पूंजी मानता है।)

भूमि तथा श्रम की भांति पूंजी उत्पादन का कोई मौलिक साधन नहीं है। वह भूमि और श्रम का संयुक्त उत्पादन है। भूमि और श्रम से जो कुछ उत्पन्न होता है वह सब पूंजी नहीं है।

वर्तमान समय में पूंजी का अत्यधिक महत्व है। आजकल हर तरह के उत्पादन में चाहे वह बड़ा हो या छोटा सभी में पूंजी की आवश्यकता होती

है। इस कारण वर्तमान युग को पूंजी का युग कहते हैं। पूंजी अनेक प्रकार से धनोत्पादन में सहायक होती है ।

[१] श्रमिकों की मजदूरी—किसी वस्तु के उत्पादन कार्य के आरम्भ और समाप्त होने में कुछ समय लगता है। श्रमिक निर्धन होते हैं और वह उस दिन का इन्तजार नहीं कर सकते हैं जबकि माल बिकने पर उन्हें मजदूरी मिलेगी। अतः उत्पादनकर्ता को उन्हें माल की खपत के पहले ही मजदूरी देनी पड़ती है। यह वह पूंजी में से देता है।

[२] यन्त्रों का, मशीनों का क्रय—उत्पादन चाहे किसी भी पैमाने पर क्यों न किया जाय, उसके लिए कुछ यन्त्र, औजार आदि की आवश्यकता होती है। इसके बगैर उत्पादन कार्य आरम्भ नहीं हो सकता। तथा समय २ पर नये २ साधनों को खरीदना पड़ता है। वह सब पूंजी में से खरीदे जाते हैं।

[३] कच्चे माल का क्रय—उत्पादन कार्य के लिए कच्ची सामग्री की आवश्यकता होती है जिसको खरीदने के लिए रुपया भी चाहिए। पूंजी की सहायता से ही कच्चा माल प्राप्त किया जा सकता है।

इसी प्रकार उत्पादन के अन्य साधनों को प्राप्त करने या निर्माण करने में (फैक्ट्री के लिए मकान बनाना आदि) पूंजी सहायक होती है। इस तरह पूँजी का कार्य मनुष्य की धनोत्पादन शक्ति को बढाना है।

जब मनुष्य अपनी वर्तमान आय में से कुछ धन भविष्य की आवश्यकताओं की संतुष्टि करने के लिए बचाए और उसका प्रयोग और अधिक धन उत्पन्न करने में करे तब इसे हम पूंजी का संचय कहते हैं।

भारतवासियों में धन संचय करने की शक्ति बहुत कम होती है। देश के अधिकतर लोग गरीब हैं। वह बड़ी कठिनाइयों से अपने दिन गुजारते हैं और मुश्किल से अपना भरण–पोषण कर पाते हैं। उनकी प्रति–व्यक्ति आय काफी कम है। देश का मुख्य व्यवसाय कृषि है परन्तु कृषक अभी भी लकीर के फकीर बने हुए हैं। इस कारण कम उत्पत्ति होती है और उनकी आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय है।

देश में कुशल व्यापारियों का अभाव है। देश के प्राकृतिक ––––
उचित शोषण नहीं हो पाया है।

भारतवासी अधिकतर निर्धन और अशिक्षित हैं और वह भविष्य की ओर विशेष ध्यान नहीं देते। इस कारण वह धन के संचय को नहीं करते। जो लोग भविष्य के महत्व को समझते हैं वह बचाने का प्रयत्न करने पर भी बहुत कम बचा पाते हैं इसका कारण उनकी कम आय है।

देश में बड़े २ उद्योगों की, बैंकों आदि की कमी है जिस कारण लोगों को धन बचाने के लिए प्रोत्साहन नहीं मिल पाता।

स्वतन्त्रता के बाद स्थिति में काफी परिवर्तन हुआ है। सरकार तथा अन्य व्यापारियों की ओर से पूंजी की मांग की जाने लगी है। Savings certificate आरम्भ किए गए हैं। धन बचाने के लिए प्रोत्साहन दिया जा रहा है। कई बैंक स्थापित किए गए हैं। इन सब बातों का यह परिणाम हुआ है कि अब देश में धन का संचय होने लगा है और देश में हो रही प्रगति के साथ साथ संचय की शक्ति और इच्छा में भी वृद्धि होगी।

प्रश्न (४६) पूंजी की परिभाषा दीजिए और उसके स्वरूप को समझाइये। आपकी परिभाषा के अनुसार निम्नलिखित वस्तुएँ पूंजी है या नहीं :

(अ) साहुकारों को दिया हुआ ऋण।

(आ) वह घर जिसमें मालिक स्वयं रहता है।

(इ) श्रमिक को उसके श्रम के बदले में दिया हुआ अनाज।

(ई) कृषक का स्वयं का उपयोग किया हुआ अनाज।

(Nagpur 1957)

उत्तर—पूंजी की परिभाषा के लिए देखिए प्रश्न नं० ४८

भूमि और श्रम की भांति पूंजी उत्पादन का कोई मौलिक साधन नहीं है। पूंजी धनोत्पादन का गौण साधन है। पूंजी के बिना भी धन का उत्पादन संभव है।

उदाहरण के लिए असभ्य अवस्था में मनुष्य बिना पूंजी के फल तोड़कर या पशुओं का शिकार कर अपनी भूख मिटाया करता था। परन्तु बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लिए पूंजी का होना नितान्त आवश्यक है।

पूंजी उत्पादन का निष्क्रिय साधन है। पूंजी स्वयं विना भूमि और श्रम की सहायता से और अधिक धन उत्पन्न नहीं कर सकती। पूँजी मानव श्रम द्वारा उत्पन्न होती है और वह मानव बचत का ही प्रतिफल है। रुपय बचाने में उसे जितना अधिक कष्ट होगा उतना ही अधिक वह व्याज की दरा चाहेगा। इस कष्ट के कारण वह प्रतिफल की आशा रखता है और जो प्रतिफल वह ऋणी से लेता है उसे सूद कहते हैं।

पूंजी की घट बढ उत्पत्ति के अन्य साधनों की अपेक्षा बहुत ही शीघ्र होजाया करती है।

पूंजी नाशवान है। चल पूंजी का नाश शीघ्र हो जाता है परन्तु अचल पूंजी का नाश धीरे २ होता है। मशीन का प्रयोग कितनी ही सावधानी से क्यों न किया जाय, वह कालान्तर में बेकार हो जाती है और उसके स्थान पर नई मशीन लगानी पडती है। इसे पूंजी का मूल्य ह्रास कहते हैं।

पूंजी भूमि की तरह प्रकृति दत्त वस्तु नहीं बल्कि मनुष्य कृत वस्तु है।

साहुकारों को दिया हुआ ऋण धन है और उसके बदले में उनसे व्याज प्राप्त होता है इस कारण वह पूंजी है। ऋण दिया हुआ धन और अधिक धन उत्पन्न करता है।

वह घर जिसमें मालिक स्वयं रहता है, धन है परन्तु पूंजी नहीं है क्योंकि इससे और अधिक धन की उत्पत्ति नहीं होती।

श्रमिक को उसके श्रम के बदले में दिया गया अनाज धन है पूंजी नहीं क्योंकि वह सीधा उसके उपभोग के काम में आता है न कि और अधिक धन कमाने के।

कृषक पर भी यही बात लागू होती है।

प्रश्न (५०) चल और अचल पूंजी के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। पूंजी का संचय किन २ बातों पर निर्भर है ?

(Raj, 58, Ajmer 48, 52, Nagpur 51)

उत्तर—पूंजी उस धन को कहते हैं जो और अधिक धन उत्पन्न करने में लगाया जाता है। सब धन पूंजी नहीं होता है।

चल पूंजी वह है जो वार वार धनोत्पादन के कार्य में काम नहीं ाती। वह एक ही वार में थोड़े से समय के लिए काम में आती है और एक ार के उपयोग से ही समाप्त हो जाती है उसे चल पूंजी कहते हैं। प्रो. मिल के कथानुसार चल पूंजी वह है जो उत्पादन सम्बन्धी तमाम कार्य एक ही वार में पूरा कर देती है। जैसे वीज, कच्चा माल, श्रमिकों को दिया जाने वाला वेतन, रंग आदि।

अचल पूंजी उसे कहते हैं जो वहुत समय तक काम आती है तथा एक ही वार उपयोग में खर्च नहीं हो जाती। प्रो. मिल के कथानुसार, "अचल पूंजी वह है जो टिकाऊ होती है तथा जिससे आय कुछ समय तक वरावर प्राप्त होती रहती है।" जैसे कारखाने की इमारत, मशीन, औजार आदि।

जब मनुष्य अपनी वर्तमान आय में से कुछ धन भविष्य की आवश्यकताओं की संतुष्टि करने के लिए वचाए और उसका प्रयोग और अधिक धन उत्पन्न करने में करे तव इसे हम पूंजी का संचय कहते हैं। पूंजी के संचय को प्रभावित करने वाली वातें निम्नलिखित हैं—

(i) संचय करने की शक्ति।

(ii) संचय करने की ~~योग्यता~~।

(iii) संचय करने की सुविधा।

(i) संचय करने की शक्ति:—संचय करने की शक्ति केवल उसी अवस्था में उत्पन्न होती है जव उपभोग की अपेक्षा उत्पादन अधिक होता हो। किसी व्यक्ति को वचत करने की शक्ति उसके व्यय की अपेक्षा उसकी आय के अधिक होने पर निर्भर है। यदि एक मनुष्य जितना धन कमाता है और वह सारा व्यय कर देता है तो संचय असंभव है। संचय शक्ति को वढ़ाने के लिए उत्पादन में वृद्धि और उपभोग में मितव्ययता की आवश्यकता होती है। किसी देश के नागरिकों की संचय करने की शक्ति उनके आय और व्यय के सम्वन्ध पर निर्भर है। इस पर निम्नलिखित वातों का प्रभाव पड़ता है—

[१] प्राकृतिक साधन:—जिस देश में प्राकृतिक साधन अधिक होते हैं, उसके निवासियों को संचय करने को शक्ति साधारणतया अधिक होती है।

[२] आर्थिक विकास की अवस्था:—उस देश के निवासियों की संचय शक्ति कम होती है जहां पर प्राकृतिक साधनों का उचित शोषण नहीं होता है।

[३] धन का वितरण:—जब देश में धन का वितरण असमान होता है तब प्रायः संचय शक्ति अधिक होती है।

[४] कर नीति:—सरकार की कर नीति भी संचय शक्ति को प्रभावित करती है। कर–भार अधिक होने पर संचय करने की शक्ति कम हो जाती है।

(ii) सचय करने की इच्छा:—जब मनुष्य की आय उसके व्यय से अधिक हो और वह धन को संचय करने की इच्छा रखता हो तब ही धन का संचय संभव है। मनुष्य में किन कारणों से यह इच्छा जागृत होती है वे निम्नलिखित हैं –

[१] दूरदर्शिता :—जो व्यक्ति विवेकी और दूरदर्शी होता है वह भविष्य के लिए अपनी आय में से कुछ न कुछ रुपया अवश्य बचाकर अलग रखता है। यह वह भविष्य में आने वाले किसी प्रकार के संकट का सामना करने के लिए करता है। जो मनुष्य जितना अधिक दूरदर्शी होता है उसमें भविष्य के कष्टों के लिए धन संचय करने की इच्छा उतनी ही अधिक होती है।

[२]कुटुम्ब का स्नेह:–कई मनुष्य पारिवारिक स्नेह के कारण भी धन का संचय करते हैं। वह स्वयं कष्ट उठाकर अपनी संतान के लिए धन, संपत्ति छोड़ जाना अधिक हितकर मानते हैं।

[३] सामाजिक सम्मान और राजनैतिक शक्ति:—प्रत्येक मनुष्य यह चाहता है कि समाज में उसका सम्मान हो और कई मनुष्यों में राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने की प्रबल लालसा होती है। जब कभी जहां पर धनिकों का समाज में सम्मान किया जाता है तब मनुष्य में सम्मान प्राप्त करने की अभिलाषा को संतुष्ट करने के लिए धन संग्रह करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। वर्तमान समय में धनिक वोट खरीद कर चुनाव जीत जाते हैं। अतः वह मनुष्य जो राजनैतिक शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, धन का संग्रह करना प्रारम्भ कर देते हैं।

[४] व्याज कमाने की इच्छाः—कई मनुष्य सूद कमाने की इच्छा से ही प्रेरित हो धन का संचय करना चाहते हैं।

[५] स्वभावः—कुछ मनुष्यों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि उन्हें धन बचाने की आदत होती है। ऐसे मनुष्य धन का संचय कर पाते हैं।

(iii) संचय की सुविधाः—संचय की शक्ति और इच्छा के साथ २ संचय की सुविधा का होना भी आवश्यक होता है।

[१] शान्ति और सुरक्षाः—जब देश में सुव्यवस्थित शासन प्रबन्ध होता है और जन धन की सुरक्षा होती है तब मनुष्य में संचय करने की शक्ति और इच्छा अधिक पाई जाती है। जब उसे यह विश्वास होगा कि उसका जुड़ा हुआ धन उसके पास सुरक्षित रह सकेगा केवल उसी अवस्था में वह धन बचाने का प्रयत्न करेगा। अशान्ति की अवस्था में धन बचाने की इच्छा और शक्ति कम रहती है।

[२] सुयोग्य व्यापारीः—यदि देश में ईमानदार और सुयोग्य व्यापारी हैं तब ही लोगों में धन की इच्छा होती है और उसके लिए उन्हें प्रोत्साहन मिलता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्य ऋणी को उसकी साख के आधार पर ही रुपया उधार देता है।

[३] पूंजी लगाने के साधनों की सुविधाः—यदि पूंजी लगाने के सुरक्षित और लाभदायक साधन न हों तो संचय शक्ति और इच्छा रहने पर भी लोगों को बचाया हुआ धन अनुत्पादक रूप में रखना पड़ेगा। इस प्रकार धन का अपसंचय होगा। यदि देश में बैंक, अच्छी कम्पनियां आदि हों तो अवश्य लोगों को धन बचाने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा।

[४] मुद्रा—जिस देश में मुद्रा का मूल्य स्थिर रहता है वहां धन संचय की सुविधा में वृद्धि हो जाती है।

[५] प्राकृतिक स्थिति—जिस देश में समय २ पर भूकम्प, बाढ़ आदि आते रहते हैं वहां के निवासियों की संचय शक्ति कम होती है और इच्छा भी कम होती है क्योंकि उन्हें धन के नष्ट हो जाने का भय बना रहता है।

प्रश्न (५१) मशीनों से लाभ व हानियों का वर्णन करो।
(Raj. 51, M. B. 55, U. P. 41, Pre. U. 60 R. U. 60)

उत्तर—प्राचीन काल में मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं का उत्पादन स्वयं अपने हाथों से करता था। सभ्यता के विकास के साथ २ उसने अपनी आत्म-निर्भरता की अवस्था को त्याग दिया। १९ वीं शताब्दी में इंगलैंड तथा यूरोप के अन्य देशों में औद्योगिक क्रांति हुई। इसके बाद मशीनों से ही उत्पादन किया जाने लगा। बड़े कल कारखाने स्थापित हुए। कई औद्योगिक नगर बसे। २० वीं शताब्दी अब मशीन का युग बन गई है। इस महान् परिवर्तन का समाज पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। मशीनों से कई लाभ और हानियां हैं जो निम्नलिखित हैं :—

मशीनों से लाभ—

१. कठिन और विशाल कार्य को करने में सुगमता—कई ऐसे कार्य जो मनुष्य मशीनों के अभाव में सरलता और सुगमता से नहीं कर सकता था अब मशीनों के कारण आसानी से कर सकता है। उदाहरण के लिए क्रेन की सहायता से बहुत ही भारी सामान आसानी से एक स्थान से दूसरी जगह पर रखे जा सकते हैं।

२. कार्य क्षमता में वृद्धि—मशीनों की सहायता से उन कार्यों को जल्दी करना संभव हो गया है जिन्हें पूरा करने में काफी समय की आवश्यकता होती थी। मशीनों ने उत्पादन शक्ति को बढ़ा दिया है।

३. प्राकृतिक शक्तियों का पूर्ण प्रयोग—मशीनों की सहायता से हम प्राकृतिक साधनों का पूर्ण रूप से हमारे लाभार्थ शोषण कर सकते हैं। जल का प्रयोग विद्युत उत्पन्न करने में हो सकता है।

४. बड़े पैमाने में उत्पत्ति और श्रम विभाजन—मशीनों के कारण श्रम विभाजन प्रणाली को आसानी से प्रयोग में लाया जा सकता है। इससे उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है जिसके कारण उत्पादन लागत कम हो जाती है और वस्तुएँ सस्ती मिलने लगती हैं।

५. समय और दूरी पर विजय—मशीनों की सहायता से उस कार्य को जिसे करने में काफी समय लगता था, आसानी से अपेक्षाकृत कम समय में किया जा सकता है। मशीनों ने दूरी पर भी विजय प्राप्त [illegible] मीलों की यात्रा अब कुछ ही घण्टों में तय की जा सकती है।

६. श्रमिकों की गतिशीलता में वृद्धि—मशीनों के प्रयोग में वृद्धि होने के साथ श्रमिकों की गतिशीलता में भी वृद्धि हो गई है। हर वस्तु की उत्पत्ति में लगभग एक ही तरह की मशीनों का प्रयोग किया जाता है और इस कारण एक व्यवसाय का श्रमिक दूसरे उद्योग में जा सकता है।

७. बुद्धि और काल्पनिक शक्ति का विकास—मशीनों को चलाने के लिए ऐसे व्यक्ति चाहिए जो बुद्धि और उत्तरदायित्व से कार्य कर सकें। मशीनों के प्रयोग से श्रमिक चतुर बन जाता है और उसकी बुद्धि का विकास होता है।

८. एक नमूने और समान उत्तमता का सामान बनना सम्भव—मशीनों की सहायता से एक ही प्रकार की और समान गुण तथा उत्तमता वाली वस्तु बनाई जा सकती है। मशीनों द्वारा अच्छी वस्तुओं का निर्माण किया जा सकता है क्योंकि ठीक उसी प्रकार का पुर्जा बाजार में उपलब्ध होता है।

मशीनों से हानियां—जहां मशीनों से समाज को कई लाभ प्राप्त होते हैं वहां उससे कुछ हानियां भी होती हैं।

१. बेकारी का बढ़ना—मशीनों के प्रयोग से सबसे बड़ी हानि यह होती है कि इससे श्रमिकों में बेकारी फैलती है क्योंकि एक मशीन कई श्रमिकों का कार्य कर लेती है।

कुछ विद्वानों का मानना है कि उक्त विचार मिथ्या है। यह हो सकता है कि प्रारम्भिक अवस्था में कुछ श्रमिकों को बेकार रहना पड़े परन्तु उत्पादन मशीनों द्वारा किए जाने पर उनका लागत मूल्य कम हो जाता है और वह सस्ती बिकने लगती है जिसके कारण उसकी मांग में काफी वृद्धि होती है। इस बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए नए कल कारखाने स्थापित किए जाएंगे जो बेरोजगारी को दूर कर देंगे।

२. शिल्प कला को हानि—मशीनों के कारण वस्तुएं समान और कम मूल्य पर बनने लगी हैं और शिल्पकार इस प्रतियोगिता का मुकाबला नहीं कर पाते। इस कारण शिल्प कला की अवनति होती है। हस्तकला और घरेलू उद्योग धन्धों को काफी हानि होती है।

३. श्रमिकों का शारीरिक और नैतिक पतन—मशीनों के कारण उद्योग-धन्धों का स्थानीयकरण हो जाता है। इससे शहर का वातावरण गन्दा और खराब हो जाता है जिसका प्रभाव श्रमिकों के स्वास्थ्य पर पड़ता है। कई अवगुण भी उत्पन्न होते हैं जैसे शराब का प्रयोग करना जूआ खेलना आदि। इससे उनका नैतिक पतन होता है।

४. अत्युत्पत्ति का डर—मशीनों द्वारा उत्पादन काफी बड़ी मात्रा में किया जाता है। यदि किसी कारण वस्तु की उत्पत्ति बहुत अधिक हो जाती है और उसकी मांग कम हो जाती है तब ऐसी अवस्था में कई कल कारखाने बन्द हो जाते हैं जिसके कारण बेकारी फैलती है और देश में आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाते हैं।

५. बच्चे और स्त्रियां भी कारखानों में काम करने लगते हैं—मशीनों के कारण बच्चों और स्त्रियों को कारखानों में काम करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। इससे उनका शारीरिक और मानसिक पतन होता है।

६. सम्पत्ति कुछ हाथों में केन्द्रित हो जाती है—मशीनों के प्रयोग के कारण बड़े २ कल कारखाने स्थापित हो जाते हैं। धनिक और अधिक धनी और गरीब और अधिक गरीब बन जाते हैं।

७. वर्ग संघर्ष—मशीनों के प्रयोग से वर्ग संघर्ष बढ जाता है। पूंजीपति अपने लाभार्थ श्रमिकों का आर्थिक शोषण करते हैं। इस संघर्ष के कारण कई बार तालाबन्दी और हड़ताल की नौबत आ जाती है। इससे द्वेषता बढती है और समाज का वातावरण अशान्त बन जाता है।

८. मशीनों के साथ कार्य करने वाला मनुष्य स्वयं मशीन का एक निर्जीव पुर्जा बन जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मशीनों के प्रयोग के दो पहलु हैं पहला लाभकर और दूसरा हानिकारक। परन्तु इसके प्रयोग से समाज को हानि के बजाय लाभ अधिक प्राप्त होते हैं। हमें इसके प्रयोग से होने वाली हानियों को दूर करने का यत्न करना चाहिए ताकि हमें उससे और अधिक लाभ प्राप्त हो सके।

१६ श्रम--विभाजन
(Division of Labour)

प्रश्न (५२) श्रम–विभाजन का अर्थ समझाइये और इसके विभिन्न रूपों को उदाहरण सहित समझाइये।

(Raj. 1950, U. P. 31)

उत्तर:—किसी एक कार्य को अनेक उप विभागों में बांटा जाय और प्रत्येक उप विभाग को अलग २ व्यक्तियों अथवा व्यक्ति समूहों द्वारा किए जाने की क्रिया को ही अर्थशास्त्र में श्रम विभाजन कहते हैं।

वाटसन के अनुसार "किसी उत्पादन क्रिया को सूक्ष्म क्रियाओं में बांटना विशिष्ट साधनों (व्यक्तियों) को उपक्रियाओं को करने के लिए देना और फिर सब साधनों के प्रयत्नों को सम्मिलित कर आवश्यक वस्तु के उत्पादन करने को श्रम विभाजन कहते हैं।"

चैपमेन के अनुसार "कार्यों का विशिष्टीकरण ही श्रम विभाजन है।"

सरल शब्दों में जब किसी काम को कई भागों या उपभागों में विभक्त करके श्रमिकों से उनकी योग्यता और रुचि के अनुसार काम कराया जाता है तब इसे श्रम–विभाजन कहते हैं।

प्राचीन काल में मनुष्यों की आवश्यकताएं बहुत ही कम होने के कारण स्वयं प्रत्येक व्यक्ति अपनी, आवश्यकताओं की वस्तुओं का उत्पादन कर लिया करता था। यह आत्मनिर्भरता की अवस्था थी। परन्तु जब धीरे २ सभ्यता का विकास हुआ, तब मनुष्य की आवश्यकताओं में वृद्धि हो गई। ज्ञान के विकास होने पर उसे यह भी ज्ञात हो गया कि उसके लिए अधिक उचित

यही होगा कि वह केवल उसही वस्तु का उत्पादन करे जिसमें वह अधिक निपुण है। उसे यह भी ज्ञात हो चुका था कि स्वयं अकेला वह अब अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकेगा। अब आत्म-निर्भरता की अवस्था पारस्परिक-निर्भरता में परिवर्तित हो गई और यहीं से श्रम-विभाजन का उदय हुआ। मनुष्य की प्रगति के साथ २ वह अधिक से अधिक जटिल बनता गया।

श्रम विभाजन के कई रूप होते हैं जो निम्नलिखित हैं:—

(१) साधारण श्रम विभाजन—प्रारम्भ में मनुष्य आत्म निर्भर था। अपनी आवश्यकताओं की तमाम वस्तुओं का उत्पादन वह स्वयं किया करता था। परन्तु कालान्तर में वह केवल उसी वस्तु का उत्पादन करने लगा जिसमें वह सबसे अधिक निपुण था। इस प्रकार उसका पेशा निश्चित बन गया। इस कारण पेशेवर श्रम विभाजन भी कहते हैं।

प्रो. टोमस के अनुसार, "जब एक ही प्रकार से कार्य करने वाले दो या उससे अधिक मनुष्य मिलजुल कर सहयोग से कार्य इसलिए करते हैं क्योंकि वह अकेले एक मनुष्य द्वारा नहीं किया जा सकता, तब इस प्रकार के श्रम विभाजन को साधारण विभाजन कहते हैं।" उदाहरण, भारी वजन का उठाना।

(२) जटिल श्रम विभाजन—प्रो० टोमस का कहना है कि जब मिल-कर कार्य करने वाले विभिन्न मनुष्यों में से प्रत्येक केवल एक विशिष्ट कार्य करता है जो वस्तु तैयार करने में सहायक होता है, तब इस प्रकार के श्रम विभाजन को जटिल श्रम विभाजन कहते हैं।

(a) पूर्ण क्रिया में श्रम-विभाजन—जब कोई व्यवसाय अनेक क्रियाओं में विभाजित कर दिया जाय और प्रत्येक श्रमिक समूह को अलग २ क्रिया दी जाय और किसी एक समूह द्वारा निर्मित वस्तु दूसरे समूह के लिए कच्ची सामग्री के रूप में प्रयोग में लाई जाय तब इसे पूर्ण क्रिया में श्रम विभा-जन कहते हैं। उदाहरण के लिए कपड़े की उत्पादन क्रिया। इस क्रिया को क[illegible] भागों में विभक्त किया जा सकता है—रुई में से बिनोले निकालना, रुई कात[illegible] रंगना तथा बुनाई आदि।

(b) अपूर्ण क्रिया में श्रम विभाजन—जब किसी व्यवसाय को कई क्रियाओं में विभक्त कर दिया जाय और फिर उसके बाद प्रत्येक क्रिया को कई उप क्रियाओं में विभक्त कर दिया जाय और प्रत्येक उप क्रिया अलग २ श्रमिक समूह द्वारा की जाये तब उसे अपूर्ण क्रिया में श्रम-विभाजन कहते हैं। उदाहरण के लिए जूते बनाने वाले कारखाने में मान लो एक समूह चमड़े के टुकड़े में से जूते का ऊपरी भाग ही काटता है और दूसरा समूह उसे साफ कर ठीक ठाक करता है आदि इन क्रियाओं को पूर्ण करने पर ही एक क्रिया पूरी होती है।

(३) प्रादेशिक श्रम विभाजन—इसे स्थानीयकरण भी कहते हैं। भिन्न भिन्न स्थानों पर कुछ विशेषताओं के कारण अलग २ उद्योगों के केन्द्रित हो जाने को ही अर्थशास्त्र में प्रादेशिक श्रम विभाजन कहते हैं। उदाहरण के लिए बम्बई और अहमदाबाद में उपयुक्त जलवायु, यातायात के साधनों की उपलब्धि, शक्ति के प्राप्त होने के कारण कपड़े के कारखाने केन्द्रित हो गए हैं।

प्रश्न (५३) श्रम विभाजन का क्या अभिप्राय है ? इसके लाभ व हानि का वर्णन कीजिए।

(Ajmer 48, M. P. 55)

श्रम विभाजन का अर्थ देखिए प्रश्न (५२)

उत्तर—श्रम विभाजन के कई लाभ हैं जिन्हें हम (a) उत्पादक को लाभ (b) श्रमिकों को लाभ, भागों में विभाजित कर सकते हैं:—

उत्पादक को लाभ—उत्पादन की दृष्टि से श्रम विभाजन के कई लाभ हैं जो निम्नलिखित हैं—

(१) उत्पत्ति में वृद्धि—श्रम विभाजन के कारण मशीनों का प्रयोग अधिक मात्रा में किया जाने लगा है और इस कारण उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

(२) यन्त्रों का अधिक प्रयोग—श्रम विभाजन का मशीनों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्रम-विभाजन के कारण एक क्रिया अनेक क्रियाओं में विभक्त कर दी जाती है जिसे मशीनों द्वारा आसानी से किया जा सकता है। इस से मशीनों के प्रयोग को प्रोत्साहन मिलता है।

(१) उत्पादित वस्तु की श्रेष्ठता—जब प्रत्येक कार्य मशीन द्वारा किया जाता है तब निस्सन्देह वस्तु अच्छी बन जाती है।

(२) उत्पादन व्यय में कमी—श्रम विभाजन के कारण उत्पादन बड़े पमाने पर करना संभव हो गया है। बड़े उत्पादन में आन्तरिक लागत कम हो जाती है।

(३) आविष्कारों को प्रोत्साहन—लगातार एक ही मशीन पर कार्य करते रहने के कारण श्रमिक अपनी साधारण बुद्धि से यह जान लेता है कि उसमें क्या २ सुधार किए जा सकते हैं और वह आसानी से कार्य करने के लिए कई नए सुझाव दे सकता है।

(४) यन्त्रों और औजारों के उपयोग में मितव्ययता—जब एक श्रमिक केवल एक ही तरह का एक विशेष कार्य करता है तब उसे बहुत ही कम औजारों की आवश्यकता रहती है। परन्तु यदि वह उत्पादन की सारी क्रिया को स्वयं करने लगे तो अधिक औजारों की आवश्यकता होगी और एक विशेष कार्य जब किया जायेगा तब बाकी काम न आने वाले औजार पड़े रहेंगे। ठीक यही बात यंत्रों पर भी लागू रहती है। इसके अलावा जब यंत्र और औजार एक ही हाथों में रहेंगे तो उनकी बरबादी भी कम होगी।

(५) समय की बचत—जब सारी क्रियाएँ एक ही मजदूर द्वारा की जाती हैं तब उसे कई औजारों और यंत्रों से कार्य लेना पड़ता है। उन्हें लेने या उन पर कार्य करने को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना पड़ता है जिससे समय की बरबादी होती है परन्तु श्रम विभाजन में एक स्थान पर रह कर एक ही क्रिया करनी पडती है जिसमे समय की बचत होती है।

श्रमिकों को लाभ—

(१) निपुणता में वृद्धि—जब कोई मनुष्य एक ही उप क्रिया को लगातार करता रहता है तो वह उसमे इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसकी निपुणता में कई गुणी वृद्धि होती है। इस कारण उत्पादन बढता है।

(२) योग्यतानुकूल कार्य—श्रम-विभाजन के कारण एक व्यक्ति को उसको रुचि और योग्यतानुसार कार्य दिया जा सकता है।

(३) काम सीखने के समय में कमी—जब मनुष्य को एक वस्तु के उत्पादन की सारी क्रियाएँ सीखनी पड़ती हैं तो उसमें समय अधिक लगता है परन्तु जब उसे एक ही उप-क्रिया करनी पड़ती है तब वह उसे बड़ी आसानी से थोड़े से समय में सीख लेता है।

(४) गतिशीलता में वृद्धि—श्रम-विभाजन के कारण यन्त्रों का प्रयोग अधिक होने लगा है और प्रत्येक कारखाने में प्रायः एक ही प्रकार की मशीनों का प्रयोग होता है। इस कारण एक कारखाने का श्रमिक दूसरे में आसानी से जा सकता है। इस कारण उनकी गतिशीलता बढ़ती है।

(५) कम शारीरिक परिश्रम—मशीनों द्वारा ही आजकल सारा कार्य किया जाता है। मजदूर केवल उसके पास खड़ा रह कर उस पर नियंत्रण करता है। इसमें उसे कोई विशेष शारीरिक परिश्रम नहीं करना पड़ता।

(६) श्रमिकों में संगठन—श्रम-विभाजन के कारण बड़े २ कल कारखाने स्थापित हो जाते हैं और उद्योगों का स्थानीयकरण होता है। एक ही जगह काम करते रहने के कारण श्रमिकों में सहयोग और एकत्व की भावना बढ़ती है।

श्रम विभाजन से हानियां—

श्रम विभाजन के कारण श्रमिकों तथा समाज को हानियां भी होती हैं।

श्रमिकों को हानियां—

(१) कार्य को नीरसता—श्रम विभाजन के कारण एक क्रिया को कई कई उप-क्रियाओं में विभक्त किया जाता है और प्रत्येक उप-क्रिया एक ही श्रमिक के द्वारा की जाती है। एक ही प्रकार की क्रिया सदा करते रहने के कारण उसका कार्य बड़ा नीरस बन जाता है।

(२) कार्य क्षमता में कमी—जब श्रमिक एक ही प्रकार की क्रिया करता रहता है तो वह अवश्य उस क्रिया में अत्यधिक निपुण बन जाता है परन्तु वह अन्य दूसरी क्रियाओं के विषय में कुछ भी नहीं जानता और इस कारण उसकी कार्य-क्षमता कम हो जाती है। मशीनों द्वारा जब सब प्रकार की क्रिया कर ली जाती है तब श्रमिकों को कार्य-क्षमता बढ़ाने का अवसर नहीं मिलता।

(३) आनन्द का लोप:—जब सारी क्रियाएँ एक ही व्यक्ति द्वारा की जाती हैं तब उसके निर्माण में उसे आनन्द आता है और वह उसके लिए गर्व अनुभव करता है। परन्तु श्रम-विभाजन होने पर इस आनन्द का लोप हो जाता है।

(४) उत्तरदायित्व की कमी—कई उप-क्रियाएँ जब विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा की जाती हैं तब यदि वस्तु खराब हो जाये तो यह बताना कठिन होता है कि दोष किस व्यक्ति या मशीन का था। इस कारण श्रमिकों में उत्तरदायित्व की कमी होती है।

समाज को हानि—

(१) स्त्रियों और बच्चों का शोषण—श्रम विभाजन के कारण क्रियाएँ कई उप-क्रियाओं में विभक्त कर दी जाती हैं जिसके कारण उत्पादन-कर्ता बहुत ही कम मजदूरी पर स्त्रियों और बच्चों को रख लेते हैं। इससे उनका शोषण होता है।

(२) शहरों का वातावरण खराब—श्रम-विभाजन के कारण कई बड़े कल-कारखाने स्थापित होते हैं और उद्योगों का स्थानीयकरण हो जाता है। ऐसे स्थान पर लाखों श्रमिक रहते हैं। शहर का वातावरण धुएँ के कारण गन्दा बन जाता है तथा श्रमिकों का नैतिक पतन भी होने लगता है।

(३) अनुचित निर्भरता—जब एक ही कार्य को कई उप-क्रियाओं में विभक्त किया जाता है तब यह आवश्यक हो जाता है कि इनको करने वाले एक ही साथ कार्य करें। यदि ऐसा नहीं होगा तो वस्तु का उत्पादन कार्य समाप्त नहीं हो पायेगा।

(४) वर्ग-संघर्ष—श्रम विभाजन के कारण पूंजीवादियों को प्रोत्साहन मिलता है और वह अपने आर्थिक लाभ के लिए श्रमिकों का अनुचित रूप से शोषण करते हैं। इस कारण श्रमिकों और मील मालिकों में संघर्ष चलता रहता है जिसके कारण कई बार हड़ताल और तालाबन्दी की नौबत आ जाती है।

(५) अधिक उत्पादन का भय—जब श्रम विभाजन के कारण मशीनों के प्रयोग में वृद्धि होती है और बड़े बड़े कारखाने स्थापित होते हैं तब ऐसी

ी अधिक मात्रा में होने लगता है। यदि वस्तु का उत्पादन
ा अधिक होता है तब मन्दी की अवस्था उत्पन्न हो जाती
द हो जाने पर बेरोजगारी की समस्या आती है।

इस प्रकार जहां श्रम विभाजन से कई लाभ हैं वहां उससे हानियां भी होती हैं परन्तु हानियों की अपेक्षा लाभ अधिक हैं। श्रम विभाजन के कारण श्रम-शक्ति का उचित प्रयोग करना सम्भव हो सकता है और वस्तुएं सस्ती बनने लगती हैं।

प्रश्न (५४) धन्धों के स्थानीयकरण के कारण, लाभ तथा हानि समझाकर लिखिए।

(U. P. 51. 47, Nagpur 53, Sagar 48)

उत्तर—कई बार एक ही प्रकार का उद्योग कुछ विशेष कारणो और सुविधाओं के फलस्वरूप एक ही स्थान पर केन्द्रित हो जाता है। इस प्रवृति को ही स्थानीयकरण कहते हैं। जैसे अहमदाबाद में कपड़े का उद्योग, फिरोजाबाद में चूडियां का उद्योग आदि।

इस प्रवृति को बढावा देने वाली बातों (कारणों) को हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) प्राकृतिक कारण (२) आर्थिक कारण (३) राजनैतिक कारण और (४) अन्य कारण।

(१) प्राकृतिक कारण:—

(१) कच्चे माल का मिलना:—जिस स्थान पर किसी विशेष उद्योग के लिए जो कच्ची सामग्री चाहिए वह यदि उपलब्ध होती है तो वहां पर वह उद्योग केन्द्रित हो जाता है। जैसे बिहार में लोहे की खानों के कारण लोहे के उद्योग का स्थानीयकरण हो गया है।

(२) शक्ति के साधन की प्राप्ति:—उद्योग धन्धे केवल उसी स्थान पर केन्द्रित होते हैं जहां पर शक्ति आसानी से शीघ्र ही कम मूल्य पर प्राप्त होती है।

(३) अनुकूल जलवायु:—कुछ उद्योग ऐसे होते हैं जिनके उत्पादन कार्य के लिए एक खास प्रकार के जलवायु की आवश्यकता होती है। कपड़े के

उद्योग के लिए नम जलवायु चाहिए। बम्बई और अहमदाबाद में यह उद्योग केन्द्रित इसलिए हो गया है क्योंकि वहां का जलवायु नम है।

(२) आर्थिक कारण:—

(१) बाजार की समीपता:—उद्योग उसी स्थान पर केन्द्रित होता है जहां पर उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की मांग होती है। मांग का क्षेत्र समीप होने पर यातायात व्यय काफी कम होता है।

(२) कुशल श्रमिकों की पर्याप्त पूर्ति:—कई बार कुछ विशेष उद्योग धन्धे एक ही स्थान विशेषकर इसलिए केन्द्रित हो जाते हैं क्योंकि वहां पर उसके लिए आवश्यक कुशल श्रमिकों की पूर्ति आसानी से होती है। जयपुर में मूर्ति उद्योग इसलिए केन्द्रित हो गया है क्योंकि यहां पर कुशल मूर्तिकारों की पूर्ति होती है।

(३) यातायात और संदेशवाहनों की सुविधा:—उस स्थान पर उद्योग धन्धे केन्द्रित हो जाते हैं जहां पर यातायात और संदेशवाहन के साधन सुलभ होते हैं। यही कारण है कि कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर आदि स्थानों पर उद्योगों का केन्द्रियकरण हो गया है।

(४) पूंजी की प्राप्ति:—बड़े २ उद्योगों के लिए काफी पूंजी की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति एक व्यक्ति द्वारा नहीं की जा सकती। इसके लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस कारण कभी २ एक स्थान पर उद्योग इसलिए केन्द्रित हो जाते हैं क्योंकि वहां पर पूंजी आसानी से प्राप्त हो जाती है।

(३) राजनैतिक कारण:—

कुछ स्थानों पर उद्योगों का स्थानीयकरण होने का कारण यह होता है कि वहां सरकार उन्हें आवश्यक प्रोत्साहन, संरक्षण या आर्थिक सहायता देती है। जब सरकार पूंजीपतियों को आर्थिक सहायता देती है तब वह उसके कारण सरकार के आदेश के अनुसार किसी स्थान पर उद्योग स्थापित करते हैं। कभी २ सरकार उन्हें प्रोत्साहन देने के लिए आयात कर बढ़ा देती है या चुंगी कर माफ कर देती है। जैसे जयपुर में उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए तत्कालीन सरकार ने (Customs Duty) माफ कर दी थी।

(४) अन्य कारण:—

(१) धन्धों के शीघ्र प्रारम्भ होने की सम्भावना:—उद्योग धन्धे केवल उसी स्थान पर केन्द्रित होते हैं जहां पर उन्हें कई प्रकार की सुविधाएं मिलें और उसके शीघ्र प्रारम्भ होने की आशा हो।

(२) सहायक उद्योग:—जब किसी स्थान पर कोई एक विशेष प्रकार का उद्योग केन्द्रित हो जाता है तब उससे सम्बन्धित अन्य सहायक और पूरक उद्योग भी उसी स्थान पर स्थापित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए—कपड़े की मीलें जहां होती हैं उसके आसपास बोबिन फैक्ट्रियां स्थापित हो जाती हैं।

उपरोक्त कारणों के फलस्वरूप उद्योग किसी एक विशेष क्षेत्र, प्रदेश या स्थान पर केन्द्रित हो जाते हैं।

स्थानीयकरण से लाभ:—

(१) स्थान की प्रसिद्धि:—जब किसी स्थान पर किसी एक विशेष उद्योग का स्थानीयकरण हो जाता है तब वह स्थान उसके लिए प्रसिद्ध हो जाता है और वहां पर बनी हुई वस्तुएं उस स्थान के नाम से ही बिक जाती हैं। उदाहरण के लिए अलीगढ़ के ताले।

(२) श्रमिक की कुशलता में वृद्धि—जब किसी स्थान पर कोई विशेष उद्योग का स्थानीयकरण होजाता है तब वहां के श्रमिकों की निपुणता बढ जाती है। यह इसलिए होता है क्योंकि श्रमिक के परिवार के बच्चे प्रारम्भ से ही उस व्यवसाय से भली भांति परिचित रहते हैं।

(३) कुशल श्रमिकों की पर्याप्त पूर्ति—लगातार एक ही व्यवसाय में काम करने के कारण श्रमिक कुशल बन जाते हैं। केन्द्रित उद्योग के स्थान के आसपास के मजदूर भी कुशल होते हैं और आवश्यकता पड़ने पर वह पर्याप्त पूर्ति करते हैं।

(४) उद्योगपतियों में सहयोग—जब एक ही प्रकार का उद्योग एक स्थान पर केन्द्रित हो जाता है तब इसमें लगे उद्योगपतियों में आपसी सम्पर्क के कारण सहयोग बढता है और वह सम्मिलित रूप से अपने व्यवसाय की उन्नति

के लिए प्रयत्न करते हैं। कभी २ ये सामूहिक रूप से विज्ञापन करके लागत में भी वचत कर लेते हैं।

(५) पूरक उद्योग की स्थापना—स्थानीयकरण हो जाने के कारण उस उद्योग से सम्बन्धित अन्य पूरक उद्योग भी वहां पर पनपने लगते हैं। जैसे अहमदाबाद में कपड़े के उद्योग के स्थानीयकरण के कारण वोवीन फेक्ट्रियों की स्थापना हो गई है।

(६) व्यापारिक यन्त्रों का विकास—जिस स्थान पर कोई विशेष स्थानीयकरण होजाता है वहां उद्योगों के विकास के लिए आवश्यक अन्य सुविधाओं में भी स्वाभाविक तौर पर वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए उद्योगों के कारण उस स्थान पर यातायात, संदेशवाहन, बैंकिंग आदि की सुविधाओं में अत्यधिक वृद्धि होती है।

(७) आविष्कारों की संभावना—जब एक स्थान पर कोई विशेष उद्योग केन्द्रित हो जाता है तब उस उद्योग के विकास के लिए उद्योगपति सामूहिक रूप से यत्न करते हैं। इसके लिए वह शोध कार्य कराते हैं और उसका लाभ सबको मिलता है।

(८) पूंजी की पर्याप्त पूर्ति—स्थानीयकरण होजाने पर उस स्थान पर पूंजीपति निवास करने लगते हैं। वहां पर बैंक आदि खुल जाते हैं। वे सब उद्योगों के लिए समय २ पर आवश्यक पूंजी की पूर्ति करते हैं।

हानियां—

(१) मानवीय वृद्धि और कुशलता का एक तरफा विकास:—स्थानीयकरण के कारण एक स्थान पर एक ही प्रकार का उद्योग पनपता है। वहां के श्रमिक अपने जीवन का सारा भाग उस व्यवसाय में ही लगा देते हैं जिस कारण उनका केवल एक तरफा विकास होता है। उनकी कुशलता संकुचित रह जाती है।

(२) आर्थिक आपत्ति का भय:—स्थानीयकरण के फलस्वरूप एक स्थान उस उद्योग पर सम्पूर्ण रूप से निर्भर होजाता है जब किसी कारण वहां पर उत्पादित वस्तुओं की मांग कम हो जाती है तब उस स्थान की आर्थिक

स्थिति डावांडोल होजाती है। यदि कुछ कारखाने बन्द होजाते हैं तो बेरोजगारी की भयंकर समस्या उत्पन्न होजाती है।

(३) दूषित वातावरण:—स्थानीयकरण के कारण समाज का नैतिक पतन होता है और अनेक दोष उत्पन्न होजाते हैं। मीलों के धुएं के कारण नगर का वातावरण गन्दा होजाता है जिसका प्रभाव वहां रहने वालों के स्वास्थ्य पर पड़ता है।

सुरक्षा की दृष्टि से घातक:—वर्तमान समय में युद्ध एक स्थान पर केन्द्रित नहीं रहते। आक्रमणकारी अपने दुश्मन की सारी उत्पादन शक्ति को नष्ट कर देना चाहता है। इस कारण उन स्थानों को जहां पर उद्योग होते हैं युद्ध के समय आक्रमण का भय बना रहता है।

आधुनिक समय में स्थानीयकरण के दोषों के कारण यह महसूस किया जाने लगा है कि उद्योगों की विकेन्द्रियकरण की नीति अपनाई जानी चाहिए ताकि देश के तमाम स्थानों का उचित विकास होसके।

—:❀:—

२० उत्पत्ति की मात्रा

(Scale of Production)

प्रश्न (५५) बडी और छोटी मात्रा में उत्पत्ति के भेद को बताइये। आपकी राय में कौन सा भारत के लिए सबसे उपयुक्त है?

(M. B. 56)

उत्तर:—किसी वस्तु की उत्पत्ति चाहे वह कम की जाय या अधिक, दो प्रकार से की जा सकती है। प्राचीन समय में वस्तुओं का उत्पादन छोटे पैमाने (**Small Scale**) पर किया जाता था। छोटी मात्रा में उत्पादन

उत्पत्ति के बहुत कम साधनों की सहायता से किया जाता है। इस प्रकार के उत्पादन में उत्पादक अपनी भूमि पर अपने स्वयं के परिश्रम या पूंजी की सहायता से उत्पादन कार्य करता है।

आधुनिक युग में उत्पादन काफी बड़े पैमाने पर किया जाता है। इसमें उत्पादन उत्पत्ति के कई साधनों के सम्मिलित प्रयत्नों से होता है। १६ वीं शताब्दी में इंगलैंड और यूरोप के अन्य देशों में औद्योगिक क्रांति हुई जिसका प्रभाव कालान्तर में विश्व के अन्य देशों पर भी पड़ा। इसके बाद श्रम विभाजन जटिल बन गया और मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा। साथ में यातायात और संदेशवाहन के साधनों का भी विकास हुआ। वस्तुओं के बाजार विस्तृत बन गए। बाजार विस्तृत होजाने के कारण उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करने के लिए अधिक संख्या में श्रमिकों को लगाया जाने लगा। इनके कारण बड़े २ कारखाने स्थापित हो गये।

जिसका प्रबन्ध करने के लिए अनुभवी और योग्य प्रबन्धक रखे जाने लगे। इन सबका संयुक्त परिणाम बड़े पैमाने पर वस्तु का उत्पादन है। अतः संक्षेप में यह हम कह सकते हैं कि जब उत्पत्ति के सब साधनों को बड़ी मात्रा में एक साथ लगाकर काफी अधिक मात्रा में धनोत्पत्ति की जाती है तब इसे बड़े पैमाने की उत्पत्ति **(Large Scale Production)** कहते हैं।

बड़े पैमाने के उत्पादन में छोटे पैमाने की उत्पादन की अपेक्षा ज्यादा अधिक लाभ प्राप्त होते हैं। उसमें आन्तरिक तथा बाह्य बचत प्राप्त होती है।

बाह्य बचत:—वह बचत जो किसी उत्पत्ति इकाई के बाहर वाले कारणों के फलस्वरूप प्राप्त होती है उसे बाह्य बचत कहते हैं। इसका कारखानों की भीतरी व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। अधिकतर यह उद्योगों के स्थानीयकरण के कारण उपलब्ध होती है। जैसे यातायात और संदेशवाहन के साधनों की सुविधा, कुशल श्रमिकों की पर्याप्त पूर्ति और विज्ञापन की सरलता आदि।

आन्तरिक बचत:—यह बचत केवल एक ही इकाई को प्राप्त होती है और यह उसके आन्तरिक प्रबन्ध से सम्बन्धित होती है। जैसे उत्पा[illegible] जब अधिक मात्रा में कच्ची सामग्री खरीदी जाती है तब कमीशन

मिलता है, अधिक काम हो जाने पर आफिस में क्लर्कों की संख्या बहुत अधिक नहीं करनी पड़ती। काम को दुगना होजाने पर उनकी संख्या दुगनी नहीं की जाती। प्रत्येक कारखाने में कुछ न कुछ मात्रा में वेस्ट निकलता है। छोटे कल-कारखानों में यह वेकार चला जाता है परन्तु बड़े कारखानों में उनका उचित प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए कपड़े की मील में कई छोटी २ रुई की गांठें रह जाती हैं उनका प्रयोग कागज बनाने में किया जाता हैं। जब वस्तुयें काफी मात्रा में एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजी जाती हैं तब ट्रांस-पोर्ट कम्पनियां आदि अपनी दर भी कम कर देती हैं। इसके अतिरिक्त पेकिंग, विज्ञापन आदि के व्यय में भी कमी होती है।

यह बचतें हमें छोटे पैमाने के उत्पादन में नहीं मिल पाती। हालांकि छोटे उत्पादन से हमें वह लाभ और बचत प्राप्त नहीं हो पाती परन्तु फिर भी उसका महत्व है। भारत में दो प्रकार के उत्पादन के पैमाने की आवश्यकता है। देश के प्राकृतिक साधनों का उचित प्रयोग करने के लिए वड़े २ कल कार-खानों की आवश्यकता है। वड़े २ कल कारखानों के साथ २ छोटे उद्योगों की भी आवश्यकता है। भारत में जहां पूंजी का अभाव है उसका महत्व और भी वढ जाता है क्योंकि उसका प्रबन्ध और संचालन आसानी से मितव्ययता से हो सकता है। भारत में कुछ ऐसी वस्तुओं का उत्पादन होता है जिनके उत्पादन का कार्य बड़े पैमाने पर नहीं किया जा सकता। जैसे मूर्ति कला उद्योग। भारत एक खेती प्रधान देश है। किसान वर्षों के कुछ दिनों के अति-रिक्त बेकार रहते हैं। छोटे उद्योगों के होने पर उन्हें पूरे वर्ष के लिए रोजगार प्राप्त हो सकता है।

आधुनिक युग में मनुष्यों का जीवन-स्तर ऊंचा उठाना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब वस्तुएँ सस्ती मिलें और आवश्यकता की तमाम वस्तुओं की पूर्ति की जाय। इस कारण वड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाना चाहिए।

इस प्रकार दो प्रकार के उत्पादन के तरीके एक दूसरे के विरोधी नहीं परन्तु पूरक हैं। प्रत्येक देश में इन दोनों की आवश्यकता होती है तभी देश का आर्थिक ढांचा ठीक प्रकार से रह सकता है।

—:❀:—

२१ उत्पत्ति के नियम
(Laws of Production)

प्रश्न (५६) उत्पत्ति ह्रास नियम किसे कहते हैं ? यह नियम निम्न बातों में किस पर लागू होता है ? (a) उपज के मूल्य पर या उसकी मात्रा पर (b) कुल उपज या सीमान्त उपज पर और (c) शुरू से या कुछ समय बाद।

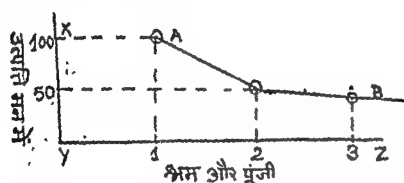
उत्तर:—उत्पत्ति ह्रास नियम विशेषकर कृषि पर लागू होता है। मार्शल ने इस नियम की परिभाषा इस प्रकार से दी है—"यदि खेती के तरीकों में कोई सुधार न किया जाय तो भूमि पर उपयोग की गई पूंजी और श्रम की मात्रा में वृद्धि होने से सामान्यतया, कुल उपज में अनुपात से कम वृद्धि होती है।"

सरल शब्दों में खेती पर श्रम की समान अतिरिक्त मात्रा लगाने से वास्तव में घटता हुआ प्रतिफल मिलता है।

उदाहरण—मान लीजिये एक व्यक्ति के पास एक भूमि का खेत है और वह उस पर जो इकाई लगाता है उनमें से प्रत्येक की लागत खर्च १०० रु० के बराबर है। १ इकाई लगाने पर उसे १०० मन गेहूं मिलता है। २ इकाई लगाने पर उसे १५० मन गेहूं मिलता है और तीसरी इकाई लगाने पर उसे १६० मन गेहूं मिलता है। इससे स्पष्ट है कि जैसे २ इकाइयों में वृद्धि की गई, कुल उत्पत्ति में वृद्धि होती गई परन्तु प्रत्येक आने वाली इकाई की अपनी निजी उपज क्रमशः घटती गई।

म पूंजी की इकाई	कुल लागत	गेहूं की कुल उत्पत्ति	गेहूं की सीमान्त उत्पत्ति
१	१०० रु०	१०० मन	१०० मन
२	२०० रु०	१५० ,,	५० ,,
३	३०० रु०	१९० ,,	४० ,,

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि पहली इकाई लगाने पर १०० मन गेहूं प्राप्त होता है और पहली तथा दूसरी इकाई की सम्मिलित उत्पत्ति १५० मन है। अतः दूसरी इकाई को निजी उत्पत्ति १५० १००=५० मन है। इस प्रकार तीसरी इकाई की निजी उत्पत्ति ४० मन है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जैसे २ इकाई की संख्या बढाई जाती है वैसे २ कुल उत्पत्ति में वृद्धि होती है परन्तु सीमान्त उत्पत्ति घटती जाती है। इस तथ्य को हम रेखा चित्र द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं।



YZ रेखा पर श्रम और पूंजी की इकाई, **XY** रेखा पर गेहूं की उत्पत्ति मनों में मानली है। तालिका में दी हुई प्रत्येक इकाई की उत्पत्ति को हम जब अंकित कर उनके विभिन्न बिन्दुओं को मिलाते हैं तब हमें **AB** रेखा प्राप्त होती है जिससे हमें यह ज्ञात होता है कि जैसे २ इकाई बढाई जाती है वैसे २ प्रत्येक नई इकाई की निजी उत्पत्ति घटती जाती है। यह रेखा क्रमागतः उत्पत्ति नियम की प्रवृति को प्रदर्शित करती है।

(a) उत्पत्ति ह्रास नियम उपज के मूल्य पर नहीं परन्तु उपज की मात्रा में लागू होता है। यदि मूल्य के आधार पर इस नियम को समझाया जाये तब यह गलत हो जायेगा। मूल्य में वृद्धि होने पर यदि उत्पादन में श्रम और पूंजी की इकाई बढ़ाई जाती है तब कुल आय अधिक हो सकती है।

(b) ह्रास नियम का विचार कुल उपज के आधार पर परन्तु सीमान्त उपज के आधार पर किया जाता है। श्रम और पूंजी को इकाइयों में वृद्धि

कराने पर कुल उपज में वृद्धि होती है परन्तु सीमान्त उपज कम होती जाती है।

(c) यह नियम कुछ व्यवसायों में प्रारम्भ से लागू हो सकता है और कुछ में देर से। जहाँ पर उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का मेल आदर्श अनुपात में करना संभव है वहां पर इसको स्थगित किया जा सकता है परन्तु जब उन साधनों में से एक को सीमित या स्थिर कर दिया जाये तब यह नियम लागू होगा।

प्रश्न (५७) क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास नियम की व्याख्या कीजिए। यह कृषि पर कैसे लागू होता है? क्या यह कारखानों पर भी लागू होता है?

(M. B. 54, Nagpur 56, Sagar 51, Ajmer 53)

उत्तर:—यदि किसान से यह पूछा जाय कि क्या वह उपज अधिक प्राप्त करने के लिए भूमि पर श्रम और पूंजी की इकाइयों में वृद्धि करता रहेगा? तो वह ऐसा न करने के लिए कहेगा। क्यों? इसका कारण स्पष्ट है। उसके अनुभव ने यह बतला दिया है कि जैसे २ इकाइयों में वृद्धि की जाती है वैसे २ कुल उपज अवश्य बढ़ती जाती है परन्तु सीमान्त उपज कम हो जाती है। यह स्वाभाविक है कि वह उत्तरोत्तर इकाइयों के प्रयोग से हानि उठाना मंजूर नहीं करेगा।

मार्शल ने इस प्रवृत्ति पर आधारित नियम की परिभाषा इस प्रकार से दी है—

परिभाषा तथा उदाहरण के लिए देखिए प्रश्न नं० (५६)

मार्शल की परिभाषा में नियम की दो सीमाएँ स्पष्ट रूप से व्यक्त हैं—

(१) सामान्यतया:—यह नियम केवल साधारणतः लागू होता है। परन्तु यदि कोई नई भूमि पर कृषि की जाये और आरम्भ में उस पर इतना कम श्रम और पूंजी लगाई जाये कि उसकी सम्पूर्ण उत्पादन शक्ति का पूर्ण [illegible] न हो पाए तो कुछ और श्रम और पूंजी की इकाई लगाने पर [illegible] का नियम लागू नहीं होगा। कुछ समय बाद अवश्य यह नियम [illegible]।

(२) खेती के तरीकों में सुधार न किया जाये—

तरीकों में सुधार किया जाता है अर्थात अच्छे बीज, अच्छे औजार और खाद का प्रयोग किया जाता है तब यह नियम लागू नहीं होगा। कृषि में वैज्ञानिक खोजों ने उत्पत्ति ह्रास नियम को आगे के लिए हटा दिया है। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार यह नियम अनिश्चित काल तक के लिए स्थगित नहीं किया जा सकता। एक अवस्था के बाद वह निस्संदेह लागू हो जाता है।

मार्शल के अनुसार यह नियम केवल कृषि पर ही लागू होता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि मार्शल का विचार गलत है। उनके अनुसार यदि उत्पादन के सब साधनों को आवश्यक मात्रा में बढाया जाय और उनमें आदर्श मेल स्थापित किया जाय तो यह नियम क्रियाशील नहीं हो सकता। इनका कहना है कि उत्पादन की किसी भी क्रिया में चाहे वह कृषि हो या कोई उद्योग जब उत्पत्ति का कोई एक साधन विशेष को स्थिर कर दिया जाता है अवश्य उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होगा।

—:❀:—

२२ विनिमय

(Exchange)

प्रश्न (५८) वस्तु-विनिमय का स्थान मुद्रा द्वारा क्रय-विक्रय की प्रणाली ने क्यों ले लिया है?

उत्तर:—जब किसी वस्तु या सेवा का विनिमय किसी अन्य वस्तु या सेवा से किया जाता है तब उसे वस्तु विनिमय या अदल-बदल **(Barter)** कहते हैं। प्राचीन काल में यही प्रथा प्रचलित थी।

उदाहरण:—जब कोई व्यक्ति उसके द्वारा उत्पादित वस्तु (कपड़ा) दूसरे व्यक्ति को जिसने शक्कर का उत्पादन किया है, देता है और उससे शक्कर

प्राप्त करता है तब इसे वस्तु विनिमय कहते हैं। यहां पर दोनों ने एक दूसरे को अपनी २ वस्तुएं देकर अपनी आवश्यकता की वस्तु प्राप्त कर ली है।

आरम्भ में यह वस्तु विनिमय की प्रणाली सभी स्थानों पर प्रचलित थी परन्तु इसके कारण विनिमय में कई कठिनाइयां अनुभव होने लगी। सभ्यता और आर्थिक जीवन में उन्नति होने के कारण उन कठिनाइयों में अत्यधिक वृद्धि हो गई। इस कारण सभ्य समाज ने इस प्रथा को त्याग कर उसके स्थान पर क्रय-विक्रय प्रणाली को अपना लिया है। क्रय-विक्रय उसे कहते हैं जब मुद्रा के बदले में कोई वस्तु या सेवा ली या दी जाती है। जिन कठिनाइयों के कारण क्रय-विक्रय ने वस्तु विनिमय का स्थान लेलिया है वह निम्नलिखित हैं:—

(१) दुहरे संयोग का अभाव:—Lack of Double concidence)–अदल–बदल (वस्तु विनिमय) के लिए यह आवश्यक है कि दो पक्ष जो एक दूसरे की वस्तुएँ लेने के लिए तैयार हों। मान लीजिए किसी मनुष्य के पास कपड़ा है और वह उसके बदले में गेहूँ चाहता है तो उस व्यक्ति को खोज निकालना होगा जो उसके कपड़े को लेकर उसे अपना गेहूं देने के लिए तैयार हो। ऐसे व्यक्ति को जो दूसरे की वस्तु के बदले में अपनी वस्तु देने को तैयार हो खोज निकालने में काफी समय और शक्ति लगानी पड़ती है और यदि ऐसा व्यक्ति न मिले तो अदल बदल सम्भव नहीं है।

(२) विभाजन की कठिनाई:—कभी २ ऐसी वस्तुओं की अदल-बदल करनी पडती है जिनका विभाजन नहीं किया जा सकता। मान लीजिए एक व्यक्ति के पास भैंस है और वह उसके बदले में कुछ कपड़ा, गेहूं चाहता है। उसे यह वस्तुएँ तभी मिल सकती हैं जब कोई व्यक्ति इसे वह दोनो वस्तुएँ देकर उसकी भैंस लेने को तैयार हो। मुद्रा के उपयोग से यह कठिनाई दूर हो जाती है। वह अपनी वस्तु बेचकर मुद्रा प्राप्त कर इसके द्वारा अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है।

(३) सर्वमान्य मूल्य के माप की कमी:—वस्तु विनिमय में जितनी वस्तुओं तथा सेवाओं का आपस में परिवर्तन करना पड़ता है, हमें उनके विषय में यह जानना और याद रखना पड़ता है कि अमुक वस्तु के बदले किस वस्तु की कितनी मात्रा लेनी है या देनी है। हम वस्तु विनिमय में वस्तुओं के मूल्य

की तुलना नहीं कर सकते। इस प्रकार की सूची जिसमें एक वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तुओं में दर्शाया गया हो बनाना बहुत कठिन है। प्रत्येक वस्तु का दूसरी वस्तुओं में क्या मूल्य है यह याद रखना सरल नहीं है परन्तु मुद्रा को विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग करने पर कठिनाई नहीं रहती। ऐसी स्थिति में प्रत्येक वस्तु का मुद्रा में मूल्य याद रखना होगा।

(४) धन संचय के साधन का अभावः—अदला बदली की प्रथा में धन संचय करने में काफी कठिनाई होती है। यदि कोई व्यक्ति अपनी वस्तुओं का संचय करना चाहे तो उसे काफी बड़े स्थान की आवश्यकता होगी और यदि वस्तु ऐसी है जो शीघ्र नष्ट हो सकती है तो उसको अधिक समय तक नहीं रखा जा सकता। वस्तुओं के मूल्य में द्रव्य की अपेक्षाकृत बहुत अधिक और शीघ्र ही परिवर्तन हुआ करता है जिस कारण संचित की गई वस्तु का मूल्य बदल जाता है। उत्तम मुद्रा के प्रयोग करने पर इन असुविधाओं का सामना नहीं करना पड़ता। मुद्रा कम स्थान घेरती है, नष्ट नहीं होती और उसका मूल्य स्थिर रहता है।

अदल बदल की इन कठिनाइयों के कारण मनुष्य ने इस असुविधाजनक प्रथा को त्याग दिया है और उसके स्थान पर क्रय-विक्रय की सरल और सुविधाजनक प्रथा को अपनाया है।

—:०:—

२३ बाजार
(Market)

प्रश्न (५६) बाजार की परिभाषा दीजिए । बाजार के विस्तृत होने की क्या दशाएं है ? निम्नलिखित वस्तुओं का बाजार का विस्तार कहां तक है ? (a) आम (b) हिन्दी में लिखी पुस्तकें ।

(Sagar 52)

अथवा

मण्डी की परिभाषा लिखिये । ऐसे कौन से कारण हैं जो किसी वस्तु की मण्डी को विस्तृत करते हैं ? ३–३ ऐसी वस्तुओं के नाम बतलाइये जिनकी मण्डी विस्तृत और संकुचित है ।

(Raj 53, M. B. 52, Nagpur 52, Pre. U. 60)

उत्तर:—साधारण बोलचाल की भाषा में बाजार या मण्डी शब्द का अर्थ किसी ऐसे स्थान विशेष से लिया जाता है जहां पर विक्रेता अपनी वस्तुएं बेचने के लिए रखता है और जहां क्रेता स्वयं जाकर उनकी जांच-पड़ताल कर उनका क्रय विक्रय करते हैं । अर्थशास्त्र में बाजार शब्द का प्रयोग दैनिक जीवन में प्रयोग किए जाने वाले बाजार के अर्थ से भिन्न रूप में किया जाता है ।

मार्शल द्वारा उद्धृत कुरनों की परिभाषा के अनुसार, "अर्थ-शास्त्र में बाजार का अर्थ किसी स्थान विशेष से नहीं होता, जहां वस्तुओं का क्रय–विक्रय होता हो वरन् उस समस्त क्षेत्र का बोध होता है जिसमें बेचने वालों और क्रेताओं में इस तरह का प्रतियोगिता पूर्ण स्वतन्त्र सम्बन्ध हो ताकि उस सारे क्षेत्र में एक ही प्रकार की वस्तु की कीमत की प्रवृत्ति सुगमता और शीघ्रता से एक होने की हो ।"

सिजविक के मतानुसार, "बाजार का आशय व्यक्तियों के एक समूह से है जिनमें ऐसे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हैं कि प्रत्येक व्यक्ति सरलता से यह ज्ञात कर लेता है कि विभिन्न वस्तुएँ किस कीमत पर बदली जाती हैं।"

चेपमेनके मतानुसार "यह जरूरी नहीं कि 'बाजार' शब्द किसी स्थान विशेष का बोध करे। वह सदैव वस्तु या वस्तुओं और उनके खरीदने वालों और बेचने वालों से सम्बन्धित है जिनमें प्रत्यक्ष रूप से आपस में प्रतियोगिता होती हो।"

प्रत्येक वस्तु का अपना एक विशेष बाजार होता है। किसी का विस्तृत और किसी का संकुचित। आधुनिक समय में प्रत्येक वस्तु का बाजार विस्तृत होता जा रहा है। इसके कई कारण हैं। इन कारणों को जिनके फलस्वरूप ... विस्तृत बन जाता है हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) देश की आंतरिक स्थिति।

(२) वस्तु के गुण।

(१) देश की आंतरिक दशाएँ:—किसी देश में कुछ कारण ऐसे होते हैं जिनका प्रभाव वस्तु के बाजार पर पड़ता है। वे कारण निम्नलिखित हैं:—

(क) यातायात और संदेशवाहन के साधन:— इनका वस्तु के बाजार के विस्तार पर काफी प्रभाव पड़ता है। यदि रेल, मोटर आदि परिवहन के साधनों की सुविधाएँ प्राप्त हों तो माल एक स्थान पर आसानी से कम व्यय में काफी कम समय में भेजा जा सकता है। इससे बाजार विस्तृत हो जाता है। संदेशवाहन के साधनों (टेलीफोन, तार, रेडियो) की सुविधा होने पर भिन्न २ स्थानों के भाव आसानी से ज्ञात हो सकते हैं और सौदे तय किए जा सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि यह साधन वस्तुओं के बाजार को विस्तृत करते हैं।

(ख) शान्ति, व्यवस्था और सुरक्षा:—बाजार का विस्तार केवल उसी अवस्था में सम्भव है जब देश में शान्ति, सुव्यवस्था और सुरक्षा हो। शान्ति के समय में ही व्यापारी बिना किसी प्रकार के भय के माल विदेशों से

मंगवा या भेज सकते हैं। अगर देश में सुव्यवस्था नहीं है और भ्रष्टाचार का साम्राज्य छाया हुआ है और व्यापारियों को कीमत न मिलने का डर बना है तो ऐसी अवस्था में वस्तु का बाजार संकीर्ण रहेगा।

(ग) द्रव्य की स्थिरता और उत्तम बैंकिंग:—जिस देश की मुद्रा में स्थिरता होती है वहां पर वस्तुओं का बाजार विस्तृत हो जाता है। अगर मुद्रा का मूल्य अस्थिर है तो बाजार के विस्तार में कठिनाई होगी।

बैंकिंग की उत्तम व्यवस्था भी बाजार को विस्तृत करने में सहायक होती है। विश्वसनीय बैंकों से रुपया उचित सूद पर उधार लिया जा सकता है। माल की कीमत चैक, हुन्डी आदि द्वारा चुकाई जा सकती है। इन सब सुविधाओं के उपलब्ध होने पर वस्तु का बाजार विस्तृत हो जाता है।

(घ) क्रय-विक्रय का आधुनिक एवं वैज्ञानिक तरीका:—व्यापारिक वर्ग को व्यापार करने के आधुनिक ढंग का इस्तेमाल करने पर अधिक लाभ होता है। वह वस्तुओं का आर्डर उनके विज्ञापन के आधार पर देता है। यदि वह स्वयं देख-परख के सौदा तय करना चाहता है तो उसे गोदाम तक जाना होगा। इससे बाजार संकीर्ण बन जायेगा। विज्ञापन धीरे २ वस्तु के बाजार का क्षेत्र विस्तृत कर देता है।

(ङ) सरकार की नीति:—यदि किसी देश की सरकार ने वस्तुओं के आयात तथा निर्यात पर काफी कर लगा रखे हैं तो ऐसी अवस्था में उनका बाजार विस्तृत नहीं हो पायेगा।

(२) वस्तु के गुण:—किसी वस्तु के बाजार का विस्तार बढाने में न केवल देश की आंतरिक परिस्थितियां प्रभाव डालती हैं बल्कि उसके स्वयं के गुण भी प्रभाव डालते हैं। केवल उन्हीं वस्तुओं का बाजार विस्तृत होता है जिनमें निम्नलिखित गुण पाए जाते हों:—

(क) विस्तृत मांग:—किसी वस्तु का बाजार उसी समय विस्तृत हो सकता है जब उसकी मांग भी विस्तृत हो। धोतियों का बाजार विस्तृत नहीं हो सकता क्योंकि उनका प्रयोग केवल एक देश विशेष में किया जाता है और अन्य देशों में उसकी मांग न होने के कारण उसका बाजार राष्ट्रीय रह जाता है।

(ख) वहनीयता:—जो वस्तुएँ सरलता और सुगमता से बहुत कम व्यय पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जायी जा सकती हैं अर्थात् जिनका आकार और वजन उनके मूल्य के अनुपात में अपेक्षाकृत कम हो तव उसका बाजार विस्तृत बन जाता है। उदाहरण: पेन, घडियां, सोना आदि।

(ग) टिकाऊपन:—यदि वस्तु ऐसी है जो शीघ्र ही सड–गल जाती है या उसके शीघ्र नष्ट होने का भय है तो उसका बाजार सीमित रहेगा। फल और सब्जी के बाजार विस्तृत नहीं हो पाते क्योंकि वह शीघ्र खराब हो जाते हैं। परन्तु पैंकिग के तरीकों ने और यातायात के साधनों के विकास ने उनका बाजार काफी हद तक विस्तृत कर दिया है।

(घ)वस्तु की पर्याप्त पूर्ति—किसी वस्तु का बाजार कभी भी विस्तृत नहीं हो सकता यदि उसकी पूर्ति पर्याप्त नहीं है। यदि वस्तु की मांग अधिक है और पूर्ति कम, तव उसके उपभोक्ताओं को निराश होना पड़ेगा। वह उसके स्थान पर दूसरे पदार्थों का उपभोग आरम्भ कर देगा। इस प्रकार पर्याप्त पूर्ति के अभाव में उसकी मण्डी सीमित बन जायेगी।

(ङ) वस्तु को ग्रेड में बांटे जाने की सुविधा:— जिस वस्तु को सरलता से ग्रे ड में बांटा जा सकता है उसका बाजार उतनी ही आसानी से विस्तृत किया जा सकता है। इस प्रथा की उपलब्धि में खरीदने वाले वस्तु का नमूना देखकर सौदा तय कर सकते हैं।

[a] आम:—आम का बाजार स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय भी हो सकता है। यदि आम बहुत अधिक पक रहा है तव ऐसी हालत में उसका बाजार स्थानीय रहेगा परन्तु वह ऐसी स्थिति में है कि वह कुछ और दिनां तक नष्ट नहीं हो सकता तो उसका बाजार राष्ट्रीय हो सकता है। आमों को अच्छे पैकिंग में वन्द करने पर उनका बाजार अन्तर्राष्ट्रीय हो सकता है।

[b] हिन्दी में लिखीं पुस्तकें:—इसका बाजार राष्ट्रीय रहेगा क्योंकि इनको पढने वाले एक ऐसे विशेष देश में रहते हैं जहां पर ही यह भाषा बोली और लिखी जाती है। परन्तु यदि विदेशों में इनके पढने वालां की संख्या बढ़ जाती है और यह मंगवाई जाती है तव उनका बाजार अन्तर्राष्ट्रीय हो जाता है।

[C] विस्तृत बाजार निम्नलिखित वस्तुओं का होता है— (१) सोना (२) चांदी (३) गर्म कपड़ा।

संकीर्ण बाजार— (१) धोती (२) चूडियां और (३) फल।

प्रश्न (६०) पूर्ण और अपूर्ण बाजार के अन्तर को बताइये। कारण सहित समझाइए कि क्या निम्नलिखित वस्तुओं और सेवाओं का बाजार पूर्ण होता है ?

(i) स्थावर सम्पत्ति (ii) मुद्रा के ऋण (iii) श्रम सेवाएं (iv) उपभोग की वस्तुएँ। (Raj. 51)

उत्तर—बैनहेम के अनुसार, "बाजार वह क्षेत्र है जहा क्रेताओं और विक्रेताओं में प्रयत्क्ष अथवा व्यापारियों के द्वारा इतना निकट सम्बन्ध हो कि बाजार के एक भाग में प्रचलित मूल्यों का अन्य भागों में दिये जाने वाले मूल्यों पर प्रभाव पडता हो।"

उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र में बाजार किसी स्थान विशेष को नहीं कहते वरन् इस शब्द से उस क्षेत्र का बोध होता है जिसमें क्रेता और विक्रेताओं में इस प्रकार का स्वतन्त्र सम्बन्ध हो कि उस सारे क्षेत्र में एक वस्तु का मूल्य सर्वत्र समान हो जाय।

प्रतियोगिता के आधार पर बाजार के दो भेद किए जातेहै —(१) पूर्ण एवं (२) अपूर्ण बाजार।

पूर्ण बाजार:—जिस बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता प्रचलित हो उसे अर्थशास्त्र में पूर्ण बाजार कहते है। प्रो० बेनहेम के मतानुसार 'किसी बाजार को पूर्ण तब माना जाता है जब सब संभावनीय क्रेता तथा विक्रेताओं को जिन कीमतों पर सौदे होते है और अन्य क्रेता और विक्रेता जो प्रस्ताव रखते हैं उन सबको तुरन्त जानकारी मिलती हो और जहां कोई क्रेता किसी विक्रेता से खरीद सकता हो और कोई विक्रेता किसी क्रेता को बेच सकता हो। पूर्ण प्रतियोगिता होने पर पूर्ण बाजार में एक ही मूल्य प्रचलित होगा। कीमत की समानता, पूर्ण बाजार की आवश्यक शर्त, लक्षण और निशानी है।"

अपूर्ण बाजार:—जब बाजार में प्रतियोगिता स्वतन्त्र रूप से नहीं होती है तब वह अपूर्ण बाजार होता है। बैनहेम के मतानुसार जब कुछ क्रेता

या विक्रेता या दोनों अन्य क्रेताओं या विक्रेताओं के रखे हुए प्रस्तावों से अनभिज्ञ होते हैं तो बाजार अपूर्ण होता है। संक्षेप में एक सी वस्तुओं की कीमत में भिन्नता, यातायात व्यय को निकालकर बाजार की अपूर्णता बतलाती है।

(१) स्थावर सम्पत्तिः—यह साधारणतः पूर्ण बाजार होता है। इसका व्यापार विशिष्ट ज्ञान वाले एजेन्टों द्वारा किया जाता है और खरीदने वाले अपना धन इसमें लगाने के पहले पर्याप्त और पूर्ण जानकारी प्राप्त करते हैं।

(२) मुद्रा के ऋण—व्याज की दर में कई कारणों से काफी विभिन्नता पाई जाती है। जहां पर सुव्यवस्थित बैंकिंग प्रथा है और यदि ऋण की अन्य परिस्थितियां समान हैं तो व्याज की दर एक सी होगी। भारत में मुद्रा बाजार अपूर्ण है क्योंकि साहुकार ऋण लेने वालों की अज्ञानता का लाभ उठाकर तथा परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न व्यक्तियों से विभिन्न व्याज की दर वसूल करते हैं।

(३) श्रम सेवाएं—इनका बाजार अपूर्ण होता है क्योंकि श्रम की गतिशीलता कम होती है। अपनी निर्धनता और अज्ञानता के कारण मजदूर सौदा करने में कमजोर होता है। वह अधिकतर यह नहीं जानता कि उसे अधिकतम कितनी मजदूरी मिल सकती है।

(४) उपभोग की वस्तुएं:—इनका बाजार अपूर्ण होता है क्योंकि विभिन्न दुकानदार भिन्न २ मूल्य लेते हैं।

२४ मुद्रा
(Money)

प्रश्न ६१ मुद्रा की परिभाषा दीजिये और उसके कार्यों का वर्णन कीजिए।

(Raj. 51, 53, 54, Ajmer 52, M. B 50)

उत्तर:—जहां ६ अर्थशास्त्री होते हैं वहां सात परिभाषाएं होती हैं। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की भिन्न २ परिभाषाएं दी हैं। व्यापक अर्थ में मुद्रा में धातु मुद्रा, पत्र मुद्रा तथा साख मुद्रा सम्मिलित होते हैं। संकीर्ण अर्थ में मुद्रा में केवल धातु के सिक्के ही होते हैं और सही अर्थ में धातु मुद्रा और पत्र मुद्रा भी होते हैं।

व्यापक अर्थ में मुद्रा=धातु मुद्रा (धातु के सिक्के)
पत्र-मुद्रा (करेन्सी नोट)
साख-मुद्रा (चेक, प्रोनोट, हुंडी आदि)

संकीर्ण अर्थ में मुद्रा=धातु-मुद्रा

सही अर्थ में मुद्रा=धातु मुद्रा+पत्र मुद्रा

जी० डी० एच० कोल के अनुसार "मुद्रा क्रय शक्ति है—कुछ ऐसी चीज है जो वस्तुओं के खरीदने के काम आती है।"

यह परिभाषा काफी व्यापक है। हार्टले विदर्स के अनुसार, "मुद्रा वह पदार्थ है जिससे हम वस्तुएं खरीदते और बेचते हैं।"

क्राउथर के अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जो विनिमय में माध्यम सर्वमान्य हो अर्थात जिससे ऋणों का निपटारा किया जा सके और साथ

हैं। इस हालत में उसे चार विभिन्न व्यक्तियों से या उनसे सम्बन्ध स्थापित करना होगा जिनके पास वह मिल जाये। परन्तु यदि वह मुद्रा उधार लेता है तो वह और अधिक सुविधाजनक होगा। उसकी सहायता से वह अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएँ खरीद सकता है।

विशेष कार्यः—

(१) राष्ट्रीय आय का वितरणः—आधुनिक युग में आत्म-निर्भरता की अवस्था नहीं है। यहां पर उत्पादन कई व्यक्तियों के सामूहिक प्रयत्नों से होता है। अतः प्रत्येक को उसके कार्य का प्रतिफल देना होता है। वस्तु से प्राप्त मूल्य को आसानी से विभिन्न साधनों में वितरित किया जा सकता है।

(२) अधिकतम संतुष्टि का साधनः—मनुष्य अपनी आय को मुद्रा की सहायता से इस प्रकार खर्च करता है कि वस्तुओं से मिलने वाली कुल उपयोगिता अधिक से अधिक हो। यह तभी सम्भव है जब वह मुद्रा को इस प्रकार व्यय करे कि वस्तुओं से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता समान या लगभग बराबर हो।

(३) साख का आधारः—आधुनिक साख-प्रणाली को बनाये रखने के लिए यह जरूरी है कि चैक, हुण्डियों आदि का भुगतान करने के लिए कुछ रोकड़ संचिति (**Cash Reserve**) रखी जाय। इस संचिति के कारण ही आर्थिक स्थिरता कायम रहती है और साख के प्रति जनता का विश्वास बना रहता है। यदि साख पत्रों के बदले में मुद्रा न मिले तो उनका चलन बन्द हो जायेगा।

(४) पूँजी की गतिशीलता में सहायकः—मुद्रा के रूप में जो पूँजी संग्रहित की जाती है वह अत्यन्त गतिशील होती है अर्थात् उसे एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाया जा सकता है और एक व्यक्ति उसे दूसरे व्यक्ति को दे सकता है। यह पूँजी उसमें लगाई जाती है जहां सर्वाधिक उत्पादन सम्भव होता है। इस प्रकार मुद्रा पूँजी को अधिक गतिशील बना देती है।

(५) पूँजी को तरल बनाने में सहायकः—कीन्स का कहना है कि मुद्रा अपनी सर्वमान्यता के कारण पूँजी को तरल बना देती है। अन्य वस्तुओं

को लेने से व्यक्ति मना कर सकता है परन्तु मुद्रा को सहर्ष स्वीकार कर लेता है। इस तरलता के कारण ही मुद्रा की मांग है।

प्रश्न (६२) मुद्रा के कार्यों का वर्णन कीजिए। मुद्रा के लिए बहु-मूल्य धातुओं का प्रयोग क्यों किया जाता है? (Raj. 1949)

उत्तरः—मुद्रा के कार्यों के लिए देखिए प्रश्न (६०)

निम्नलिखित कारणों के फलस्वरूप कीमती धातुओं का प्रयोग मुद्रा के लिए किया जाता है:—

(१) उपयोगिता (Utility)—मुद्रा पदार्थ ऐसा होना चाहिये जिसे सभी स्वीकार करने को तैयार हों। यह तभी सम्भव है जब मुद्रा में अङ्कित और यथार्थ मूल्य भी हो अर्थात् उसमें उपयोगिता विद्यमान हो। सोने और चांदी में यह मौजूद है।

(२) वहनीयता (Portability)--अगर भारी वस्तु का प्रयोग मुद्रा के लिए किया जाता है तो उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने ले जाने में असुविधा होगी। वस्तु जिसे मुद्रा बनाया जाये इस प्रकार की होनी चाहिये कि उसका वजन कम हो परन्तु मूल्य अधिक हो ताकि लाने-ले जाने की सुविधा हो। अन्य पदार्थों की तुलना में यह गुण सोने चांदी में अपेक्षाकृत अधिक है।

(३) विभाजकता (Divisibility)—मुद्रा के लिए ऐसी वस्तु का प्रयोग किया जाना चाहिये जिसे छोटे-छोटे भागों में विभाजित किया जा सकता हो। सोना और चांदी ऐसी धातुएं हैं जिन्हें विभक्त किया जा सकता है और इसके मूल्य पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

(४) टिकाऊपन (Indestructibility)--जिस धातु का प्रयोग मुद्रा के लिए किया जाय उसमें टिकाऊपन विद्यमान होना चाहिए। वह शीघ्र नष्ट नहीं होनी चाहिए। धातु शीघ्र घिस नहीं जानी चाहिए। सोने चांदी में यह विशेषता है।

(५) स्थिरता (Stability)--मुद्रा वस्तु का मूल्य स्थिर रहना चाहिए। जिस वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होता रहता है वह मूल्य का माप, मूल्य का भण्डार या लेन-देन के मान के योग्य नहीं है। संग्रहित मुद्रा

तो भावी भुगतान किया जाता है। अतः यह आवश्यक है कि मुद्रा का मूल्य स्थिर रहे। संसार में सोना बहुत कम प्राप्त होता है अतः उसका मूल्य प्रायः स्थिर रहता है।

(६) सजातीयता (**Homogenity**)—जिस धातु का प्रयोग मुद्रा के लिए किया जाय उसमें यह गुण होना चाहिये कि उसके सब भाग गुण, रूप और मूल्य में समान रहें। ऐसा गुण सोने और चांदी में ही मौजूद है।

(७) ढलाऊपन (**Malleability**)—धातु ऐसी होनी चाहिये कि उसे जिस रूप में चाहे ढाला जा सके। हीरे जवाहरात में यह गुण नहीं होता। वह कुडकिले होते हैं।

(८) परिचयता (**Cognizibility**,—जिस धातु का प्रयोग मुद्रा के लिए किया जाता है वह ऐसी होनी चाहिए कि उसे शीघ्र ही सुगमता से पहचाना जा सके। हीरे को सुगमता से नहीं पहचाना जा सकता और न ही उसका मूल्य आंका जा सकता है। सोने चांदी में यह गुण है।

सोने और चांदी में ये समस्त गुण पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं। इस कारण संसार के अधिकतर देशों ने उन्हें मुद्रा या मुद्रा के आधार के रूप में स्वीकार किया है।

प्रश्न (६३) ग्रेशम का नियम समझाइये। इस नियम का क्षेत्र और मर्यादाएँ स्पष्ट रूप से समझाइये। **(Raj. 53, Aj. 53, U.P. 43, 54)**

उत्तर:—ग्रेशम नियम का नाम सर टोमस ग्रेशम जो इंगलैंड का प्रसिद्ध व्यापारी और महारानी एलिजाबेथ प्रथम का आर्थिक सलाहकार था, के पीछे रखा गया है। यह नियम मनुष्य के स्वभाव पर निर्भर है।

ग्रेशम ने यह बतलाया कि जब किसी देश में अच्छी और बुरी मुद्राएं एक स्थान पर प्रचलन में होती हैं तब अच्छी मुद्रा के चलन का लोप हो जाता है। बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को को चलन के बाहर कर देती है।

ग्रेशम के अनुसार "बुरी या निकृष्ट मुद्रा में अच्छी मुद्रा को चलन के बाहर करने की प्रवृत्ति होती है।" (**Bad money tends to drive good money out of circulation**).

बुरी मुद्रा का अर्थ केवल खोटी मुद्रा से नहीं परन्तु उसके अन्तर्गत वह सारी मुद्राएँ हैं जो अपनी जैसी मुद्राओं की अपेक्षा तोल में कम हों अथवा रूप, रंग और आकृति में बुरी हो। इस तरह की बुरी मुद्रा को लोग वस्तुओं को खरीदने के काम में लेते हैं और इसके विपरीत वह अच्छी मुद्राओं का संचय करते हैं। इसका कारण यह है कि अच्छी मुद्रा का धातु के रूप में मूल्य अधिक होता है। वह अच्छी मुद्राओं से धातु प्राप्त करना चाहते हैं। वह उनका प्रयोग विदेशी विनिमय में करते हैं।

मार्शल ने इस प्रवृत्ति को इस तरह नियम के रूप में व्यक्त किया है:- "बुरी मुद्रा यदि मात्रा में सीमित नहीं है तो अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है।"

(१) ग्रेशम का नियम और एक धातुमान प्रणाली—जब किसी राज्य में एक ही धातु के बने सिक्कों का चलन होता है और सभी सिक्कों का अङ्कित मूल्य एक समान होता है तो बुरे सिक्के अच्छे सिक्कों को चलन के बाहर कर देंगे।

(२) ग्रेशम का नियम और द्विधातुमान प्रणाली:—इसके अन्तर्गत जब किसी राज्य में दो विभिन्न धातुओं के सिक्के पृथक-पृथक अनुपात पर प्रचलित हों तो जिस किसी धातु का मूल्य बाजार में बढ़ जाता है तो उस धातु के सिक्के चलन के बाहर हो जाते हैं।

(३) ग्रेशम का नियम और पत्र मुद्रा मान:—जब किसी देश में उसकी आवश्यकता से अधिक पत्र-मुद्रा चलन मे आ जाते हैं तब मूल्यवान धातुओं के सिक्के चलन के बाहर हो जाते हैं। केवल पत्र-मुद्रा ही चलन में रहेगी।

ग्रेशम के नियम की सीमाएँ:—ग्रेशम का यह नियम प्रामाणिक तथा पत्र-मुद्रा के बीच में लागू होता है। यह नियम प्रामाणिक तथा सांकेतिक मुद्रा के बीच में लागू नहीं होता। सांकेतिक सिक्कों का अङ्कित मूल्य वास्तविक मूल्य से अधिक होता है। सांकेतिक-मुद्रा प्रामाणिक सिक्कों की तुलना में बुरी मुद्रा है। इन दोनों में प्रतियोगिता नहीं होती। वह दोनों चलन की ... २

मांगों की पूर्ति करते हैं। अतः सांकेतिक मुद्रा यद्यपि निकृष्ट है फिर भी वह प्रामाणिक सिक्कों को चलन के बाहर नहीं करती।

यदि किसी देश में किसी समय में अच्छी और बुरी दोनों तरह की मुद्राओं की कुल मात्रा देश की तत्कालीन आवश्यकताओं से कम या ठीक बराबर हो तो दोनों तरह की मुद्राओं का प्रचलन जारी रहेगा। बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन के बाहर नहीं करेगी। ग्रेशम का नियम केवल उसी अवस्था में लागू होगा जब दोनों प्रकार की मुद्राओं की पूर्ति आवश्यकता से अधिक होगी।

यदि सारा समाज किसी बुरी मुद्रा को पूर्ण रूप से अस्वीकृत कर दे तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर नहीं कर सकती यदि बुरी मुद्रा इतनी अधिक घिस गई हो कि कोई भी व्यक्ति उसे लेने के लिए राजी न हो तो ग्रेशम का नियम लागू नहीं होगा।

टॉमस के अनुसार यदि बुरी मुद्रा के मूल्य में धीरे-धीरे इस प्रकार से कमी की जाय कि जनता उसे न समझ पाए तो उस अवस्था में यह नियम उस काल तक लागू नहीं होगा जब तक जनता को उसके मूल्य की कमी समझ में न आ जाये।

प्रश्न (६४) प्रामाणिक सिक्का (Standard Coin) और सांकेतिक सिक्का (Token Coin) में अन्तर स्पष्ट कीजिए। यह दिखाइये कि प्रामाणिक सिक्के का अङ्कित मूल्य और उसके धात्विक मूल्य में ढलाई व्यय तथा मुद्रण लाभ के योग से अधिक अन्तर नहीं होना चाहिये। (Fv-Mv=B+S) **(Raj. Inter. 1956)**

उत्तरः—प्रामाणिक सिक्का उसे कहते हैं जिसका अङ्कित मूल्य और और वास्तविक मूल्य एक समान होता है। इसमें जो धातु होती ह उसका मूल्य सिक्के पर अङ्कित मूल्य के बराबर होता है। यह देश का मुख्य सिक्का होता है। यह असीमित कानूनी ग्राह्य होता है और उसकी स्वतन्त्र ढलाई होती है। इसी से अन्य सिक्कों की विनिमय-शक्ति तय की जाती है।

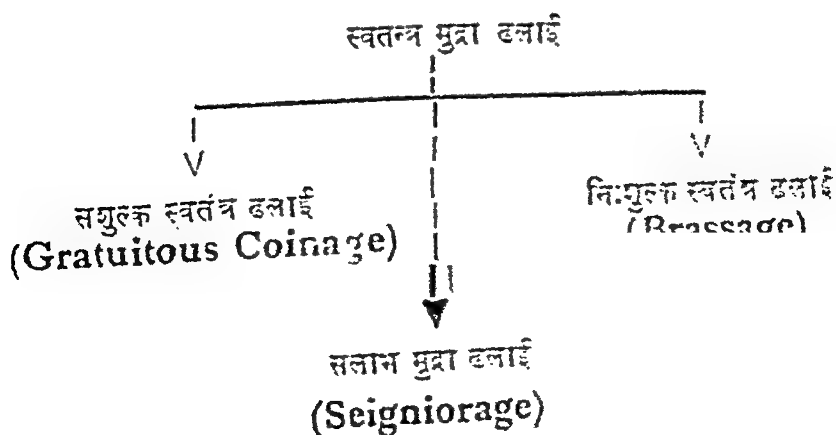
सांकेतिक सिक्का वह है जिसका अंकित-मूल्य वास्तविक मूल्य के समान

न होकर उससे अधिक होता है। यह सहायक सिक्का होता है जो सीमित कानूनी ग्राह्य होता है और उनकी ढलाई स्वतन्त्र नहीं होती। इनके चलन का नियन्त्रण सरकार के द्वारा किया जाता है।

सांकेतिक सिक्का	प्रामाणिक सिक्का
(१) अंकित और वास्तविक मूल्य एक समान।	(१) अंकित मूल्य वास्तविक मूल्य से अधिक।
(२) देश का मुख्य सिक्का।	(२) सहायक सिक्का।
(३) स्वतन्त्र ढलाई।	(३) स्वतंत्र ढलाई नहीं होती।
(४) असीमित कानूनी ग्राह्य।	(४) सीमित कानूनी ग्राह्य।

भारत के रुपये की स्थिति अनोखी है। उसमें सांकेतिक तथा प्रामाणिक सिक्के दोनों के गुण आंशिक रूप से विद्यमान हैं। वह असीमित कानूनी ग्राह्य, मुख्य मुद्रा है और उसका अंकित मूल्य वास्तविक मूल्य से अधिक है तथा उसकी स्वतन्त्र ढलाई नहीं होती।

स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई (**Free Coinage**) उसे कहते हैं जब देश के निवासियों को किसी निर्धारित दर पर अपनी धातु (सोने-चांदी) को सिक्कों में ढलवाने का अधिकार हो। इसके दो प्रकार होते हैं :—



निःशुल्क स्वतन्त्र ढलाईः—उसे कहते हैं जब सरकार के द्वारा जनता से सिक्के ढलवाने के लिए कुछ भी न लिया जाय। यह प्रथा १६३१ तक इंगलैंड मे प्रचलित थी।

सशुल्क मुद्रा ढलाईः—उसे कहते है जब सरकार के द्वारा जनता से सिक्के ढलवाने के लिए व्यय लिया जाता है जो ढलाई खर्च के बिलकुल बराबर होता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति सिक्के ढलवाता है जिस पर सरकार का लागत खर्च १० रु० आता है तो सरकार उससे ढलाई के लिए १० रु० ही लेगी।

सलाभ मुद्रा ढलाईः—उसे कहते है जब सरकार के द्वारा जनता से सिक्के ढलाई के लागत खर्च से अधिक लिया जाय। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति के द्वारा ढलवाए गए सिक्कों पर लागत २० रु० आती है तब सरकार उससे २० रु० से अधिक लेगी।

जब सरकार के द्वारा ढलाई के लिए शुल्क लिया जाता है तब वह उसे जनता से नगद रूप में लेती है या ढलाई व्यय के बराबर के मूल्य की अच्छी धातु सिक्के में से निकाल कर उसके स्थान पर खराब धातु मिला देती है।

जब सिक्के से अच्छी धातु को निकाल कर उसके स्थान पर निम्न धातु को मिलाया जाता है तब ऐसी अवस्था में मुख्य सिक्के के अंकित मूल्य और वास्तविक मूल्य में समानता न रहेगी। उनके अन्तर के लिए कहा जाता है कि वह ढलाई खर्च और ढलाई लाभ दोनों के योग से अधिक नहीं होना चाहिए। इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया जाता है।

Fv– M v = B + S

Face value Mettalic value Brassage Seigniorage

अगर ढलाई व्यय और ढलाई लाभ दोनों के योग से अधिक अन्तर अंकित तथा वास्तविक मूल्य में रखा जाता है तो जनता सिक्कों को गलाकर बेचने लगेगी।

उदाहरण के लिए मान लो कि एक रुपये को ढालने में सरकार का व्यय २ आने आता है और वह जनता से ढलाई लाभ १ आना लेती है। इस प्रकार एक रुपये की ढलाई के लिए ३ आने लिए जाते हैं। सरकार यह ३ आने नकद रूप में न लेकर, उसके बराबर के मूल्य की चांदी रुपये से कम कर उसके स्थान पर निम्न किस्म की धातु मिला देती है। इस कारण अब रुपये का अंकित मूल्य १६ आने के बराबर है परन्तु वास्तविक मूल्य १३ आने के बराबर है। यह सिक्का चलता रहेगा और उसमें जनता का विश्वास भी बना रहेगा।

अब यदि सरकार ३ आने के बराबर चांदी निकालने के बजाय ५ आने के बराबर चांदी निकाल लेती है तो अधिक मात्रा में हल्की धातु मिलाने के कारण उसमें से जनता का विश्वास समाप्त हो जायेगा। इस परिस्थिति में चलन व्यवस्था खराब हो जायेगी। इसी कारण प्रामाणिक सिक्के का अंकित मूल्य और उसके धात्विक मूल्य में ढलाई व्यय तथा मुद्रण लाभ के योग से अधिक अन्तर नहीं होना चाहिये।

मूल्य का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस कारण अस्थाई संतुलन उत्पन्न होता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि वाजार भाव, मांग और पूर्ति के अस्थाई संतुलन द्वारा तय होता है। हालांकि मांग और पूर्ति सम्मिलित रूप से मूल्य निर्धारण करते हैं परन्तु वाजार भाव को तय करने में मांग का प्रभाव अधिक रहता है। इसका कारण यह है कि समय इतना कम होता है कि माँग के अनुसार उत्पादन की मात्रा को नहीं वढाया जा सकता।

उदाहरण---वाजार में किसी एक विशेष दिन किसी वस्तु विशेष की मांग चाहे अधिक हो या कम, पूर्ति की मात्रा को न तो घटाया जा सकता है और न ही उसमें वृद्धि की जा सकती है।

मानलो किसी एक दिन वाजार में ५० मन दूध विकने के लिए आता है। यह पूर्ति एक नगर की मांग के अनुसार है। अव मानलो किसी परिस्थिति के कारण दूध की मांग को पूरा करने के हेतु उसकी पूर्ति में उस समय वृद्धि करना असम्भव है तव इसका परिणाम यह होगा कि उस दिन मांग की अपेक्षा पूर्ति कम होने पर दूध का मूल्य वढ जायेगा। इसका नतीजा यह होगा कि कुछ खरीदने वाले जिसे उसकी अधिक आवश्यकता नहीं है उसे नहीं खरीदना चाहेंगे और उन व्यक्तियों को वढे हुए मूल्य पर दूध प्राप्त होगा जिन्हें उसकी अत्यधिक आवश्यकता है।

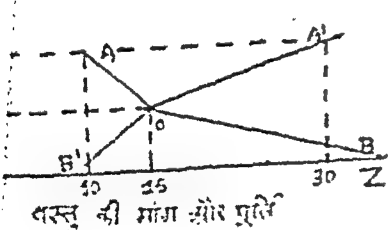
उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु का मूल्य उसकी मांग और पूर्ति की दो शक्तियों के आपसी प्रभाव द्वारा तय होता है। अर्थात सीमान्त उपयोगिता क्रेता की तरफ से वस्तु के मूल्य की अधिकतम सीमा तय करती है। इसी प्रकार पूर्ति की तरफ से उत्पादन लागत विक्रेता के लिए मूल्य की न्यूनतम सीमा निर्धारित करती है। इन दोनों सीमाओं के वीच ही मूल्य निश्चित होता है।

यदि मांग का प्रभाव अधिक है और क्रेता भाव-ताव करने में अधिक निपुण है तो मूल्य विक्रेता की न्यूनतम सीमा के लगभग होगा। यदि पूर्ति का प्रभाव ज्यादा है और विक्रेता भाव-ताव करने में अधिक निपुण है तो मूल्य क्रेता के ही अधिकतम सीमा के आसपास होगा।

मार्शल के मतानुसार "मूल्य इन दोनों सीमाओं के मध्य बैडमिन्टन क की भांति घूमता रहता है।" मांग और पूर्ति में प्रतियोगिता है अर्थात उतार चढाव होता रहता है और वास्तविक मूल्य उन ाय होता है जहां पर मांग तथा पूर्ति में सम्बन्ध स्थापित होता है। को संतुलन विन्दु (**Equilibrium Point**) कहते हैं। मार्शल ो संतुलन विन्दु तथा मिल 'साम्य मूल्य' कहता है।

की मांग	वस्तु का मूल्य	वस्तु की पूर्ति
१०	१० रु.	३०
१५	५ रु.	१५
३०	१ रु.	१०

उपरोक्त उदाहरण से हमें यह ज्ञात होता है कि जब वस्तु का मूल्य १० ब उसकी पूर्ति ३० और मांग १० थी। पूर्ति मांग की अपेक्षा अधिक होने ण मूल्य कम होगा। जब मूल्य ५ रु. हो जाता है तब मांग और पूर्ति हो जाते हैं। मूल्य जब और अधिक कम होता है तो मांग और पूर्ति का स्थापित होना सम्भव नहीं है। इसका नतीजा यह होगा कि वस्तु का (रु पर स्थिर होगा।



वस्तु की मांग और पूर्ति

YZ पर वस्तु की मांग और पूर्ति तथा **XY** पर वस्तु का मूल्य लिया गया है। **AB** रेखा वस्तु की मांग की रेखा है और **A' B'** वस्तु की पूर्ति की। यह दोनों रेखा **O** पर दूसरे को काटती हैं। इन विन्दु (इसे संतुलन विन्दु कहते हैं) पर वस्तु की (१५) और पूर्ति (१५) बराबर है। यहां पर ही वस्तु की कीमत रु.) तय होगी।

—:o:—

२६ बैंक
(Bank)

प्रश्न (६८) व्यापारिक बैंक क्या होते हैं ? इनके प्रधान कार्य क्या हैं ? भारत में काम करने वाले चार प्रसिद्ध बैंकों के नाम बताइये।

(Raj. 52, Aj. 50, Sagar 49, 51 Pre. U 60)

उत्तर:—बैंक वह संस्था है जो मुद्रा और साख का लेन देन करती है और जहां रुपया जमा किया जाता है, कर्ज दिया जाता है एवं धन सम्बन्धी अनेक व्यवहार होते हैं।

वाल्टर लीफ के अनुसार "बैंक उस व्यक्ति या संस्था को कहते हैं जो जनता से चैक द्वारा मांग करने पर चुकाई जाने वाली जमा प्राप्त करता है।"

सैलिगमैन के मतानुसार "प्राचीन समय में बैंक केवल नकद जमा का लेन देन करते थे, आधुनिक समय में ये मुख्यतः साख जमा का लेन देन करतेहैं।"

बैंकों के कार्यों को हम दो भागों में विभिक्त कर सकते हैं।

A. प्रमुख कार्य **B.** अन्य कार्य।

(A) प्रमुख कार्य—

(१) ऋण लेना—जनता से रुपया जमा लेना आधुनिक बैंकों का प्रमुख कार्य है। बैंक में वह व्यक्ति रुपया जमा कराते हैं जो अपने आवश्यकता से अधिक रुपया होने पर उससे सूद कमाना चाहते हैं या उसे सुरक्षित रखना चाहते हैं। बैंक में रुपया कई खातों में जमा कराया जा सकता है जैसे चालू खाता, स्थायी खाता और बचत खाता।

...मे ह्रास	आवश्यक बातें	
... अपरिवर्तित ...शेष किसी ... का जितना ... में वृद्धि होने ... की सीमान्त ... है।" ...त होने वाली इकाई १० ८ ५ २	नियम तभी लागू होता है जब : (i) वस्तु तथा उनके प्रतिस्थापन की वस्तु का मूल्य स्थिर रहे। (ii) उपभोक्ता की मानसिक अवस्था समान रहे। (iii) वस्तु की इकाई गुण, परिमाण और उत्त-मता में एक समान हो। (iv) उपभोग का समय एक हो। (v) उपभोक्ता की आमदनी, स्वभाव, फैशन व आदत अपरिवर्तित रहे।	और... आवे... है।

(२) ऋण देना—बैंक अपने पास जमा रुपयों के आधार पर ही ऋण देनेका सामर्थ्य प्राप्त करता है। जो व्यक्ति या संस्थाएं अपने व्यवसाय को चलाने के लिए आवश्यक पूंजी की कमी अनुभव करते हैं वह बैंक से ऋण लेते हैं। बैंक इस ऋण के लिए उनसे व्याज लेता है। ऋण देते समय जमानत, ऋण की अवधि और उधार लेने वालों की साख आदि बातों को बैंक ध्यान में रखता है।

(B) अन्य कार्य--

(१) नोट चलानाः—यह कार्य साधारण बैंक नहीं करती। नोट चलाने का अधिकार प्रायः देश की केन्द्रीय बैंक को होता है। भारत में यह अधिकार रिजर्व बैंक को प्राप्त है।

(२) विदेशी विनिमयः—बैंक एक देश के चलन को दूसरे देश के चलन से बदलने में सहायता देते हैं। विदेशी मुद्रा और विदेशी बिल आफ एक्सचेंज के क्रय-विक्रय द्वारा विदेश व्यापार की आर्थिक व्यवस्था करते हैं।

(३) चलन की पूर्ति—बैंकों द्वारा ही नोटों के अलावा अन्य सब प्रकार की मुद्राओं का चलन संभव है। यह देश के चलन की पूर्ति करने में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

(४) साख-पत्रों को जारी करना चैक, बैंक ड्राफ्ट, हुण्डी इत्यादि साख पत्रों का लेन-देन इसी के द्वारा किया जाता है। इनके द्वारा मुद्रा एक जगह से दूसरी जगह सरलता से तथा कम व्यय पर भेजी जा सकती है। इस प्रकार वह मुद्रा के अन्तरण (Transfer) में सहायक है।

(५) जेवर इत्यादि बहुमूल्य वस्तुओं की सुरक्षा—बैंकों में बहुमूल्य जेवर, दस्तावेज इत्यादि सुरक्षित रखे जा सकते हैं। बैंक इस सेवा को उपलब्ध करने के बदले में उसके पास वस्तुओं को सुरक्षित रखने वालों से कुछ शुल्क लेता है।

(६) एजेन्सी कार्य—बैंक अपने ग्राहकों के लिए सिक्योरिटीज (प्रतिभूतियां) और शेयर आदि का क्रय-विक्रय करते हैं। यह अपने ग्राहकों के लिए लाभांश (Dividend) तथा व्याज वसूल करता है। बैंक ट्रस्टी और सम्प-

नियम	नाम	परिभाषा व उद
उपयोगिता ह्रास नियम Law of Diminishing Utility.	प्रो. मार्शल	''अन्य परिस्थितिय रहने पर किसी समय मनुष्य के पास किसी वस स्टाक है, उसकी मात्रा पर प्रत्येक अगली इकाई उपयोगिता घटती जाती रोटी की इकाई १ २ ३ ४
उपभोक्ता की बचत Consumer's Surplus	प्रो. पेन्शन	''हम जो देंगे और पड़ता है उसके अन्तर को [illegible] करते हैं।''

(२) ऋण देना—बैंक अपने पास जमा रुपयों के आधार पर ही ऋण देनेका सामर्थ्य प्राप्त करता है। जो व्यक्ति या संस्थाएं अपने व्यवसाय को चलाने के लिए आवश्यक पूंजी की कमी अनुभव करते हैं वह बैंक से ऋण लेते हैं। बैंक इस ऋण के लिए उनसे ब्याज लेता है। ऋण देते समय जमानत, ऋण की अवधि और उधार लेने वालों की साख आदि बातों को बैंक ध्यान में रखता है।

(B) अन्य कार्य--

(१) नोट चलानाः—यह कार्य साधारण बैंक नहीं करती। नोट चलाने का अधिकार प्रायः देश की केन्द्रीय बैंक को होता है। भारत में यह अधिकार रिजर्व बैंक को प्राप्त है।

(२) विदेशी विनिमयः—बैंक एक देश के चलन को दूसरे देश के चलन से बदलने में सहायता देते हैं। विदेशी मुद्रा और विदेशी बिल आफ एक्सचेंज के क्रय-विक्रय द्वारा विदेश व्यापार की आर्थिक व्यवस्था करते हैं।

(३) चलन की पूर्ति—बैंकों द्वारा ही नोटों के अलावा अन्य सब प्रकार की मुद्राओं का चलन संभव है। यह देश के चलन की पूर्ति करने में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

(४) साख-पत्रों को जारी करना चैक, बैंक ड्राफ्ट, हुण्डी इत्यादि साख पत्रों का लेन-देन इसी के द्वारा किया जाता है। इनके द्वारा मुद्रा एक जगह से दूसरी जगह सरलता से तथा कम व्यय पर भेजी जा सकती है। इस प्रकार वह मुद्रा के अन्तरण (Transfer) में सहायक है।

(५) जेवर इत्यादि बहुमूल्य वस्तुओं की सुरक्षा—बैंकों में बहुमूल्य जेवर, दस्तावेज इत्यादि सुरक्षित रखे जा सकते हैं। बैंक इस सेवा को उपलब्ध करने के बदले में उसके पास वस्तुओं को सुरक्षित रखने वालों से कुछ शुल्क लेता है।

(६) एजेन्सी कार्य—बैंक अपने ग्राहकों के लिए सिक्योरिटीज (प्रतिभूतियां) और शेयर आदि का क्रय-विक्रय करते हैं। वह अपने ग्राहकों के लिए लाभांश (Dividend) तथा ब्याज वसूल करता है। बैंक ड्राफ्ट और साख-

पत्र जारी करता है। वह अपने ग्राहकों के चेक, बिल, हुण्डी आदि की राशि वसूल करता है तथा ट्रस्टीज, अटार्नी आदि की भांति अपने ग्राहकों के लिए कार्य करता है।

भारत के प्रमुख चार बैंक:—

(1) Reserve Bank of India

(2) State Bank of India

(3) The Punjab National Bank

(4) The Bank of Baroda

—:※:—

२७ वितरण (Distribution)

प्रश्न (६६) वितरण के अन्तर्गत किसका अध्ययन किया जाता है? राष्ट्रीय आय (**National Dividend**) को पूर्णतया समझाइये। सीमान्त-उत्पादिता सिद्धान्त (**Marginal Productivity Theory**) पर एक संक्षेप नोट लिखिए। **(Raj. Inter. 1959)**

उत्तर—दैनिक जीवन में एवं साधारण बोलचाल में वितरण का अर्थ किसी वस्तु को कुछ व्यक्तियों में विभाजित या बांटने से लिया जाता है। कभी २ वितरण का अर्थ वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान या एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास पहुंचाने से भी लिया जाता है। परन्तु अर्थशास्त्र में वितरण का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया जाता है।

धन की उत्पत्ति के लिए पांच साधनों की आवश्यकता रहती है और वह है—भूमि, श्रम, पूंजी, व्यवस्था तथा साहस। इन पांचों के सम्मिलित

प्रयत्न के कारण ही धनोत्पत्ति होती है। अतः इन्हीं पांचों को कुल उत्पादित धन में से अपना २ भाग प्राप्त करने का अधिकार है और वह इन पांचों में बांटा जाता है। जो भाग भूमि की सेवाओं के बदले में भू-स्वामी को प्राप्त होता है उसे लगान (**Rent**) कहते हैं। जो भाग श्रम को (श्रमिक) प्राप्त होता है उसे मजदूरी (**Wages**) कहते हैं। पूंजी को (पूंजीपति) प्राप्त होने वाला भाग ब्याज (**Interest**) है। जो भाग साहसियों को जोखिम उठाने के लिए प्राप्त होता है उसे लाभ (**Profit**) कहते हैं। अतः वितरण में उन सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है जिनके अनुसार लगान, मजदूरी, ब्याज तथा लाभ तय होता है। संक्षेप में उत्पन्न हुए धन को उत्पादन के विभिन्न साधनों में बांटने की क्रिया को ही वितरण (**Distribution**) कहते हैं। उन सिद्धान्तों को जिनके आधार पर उत्पादित धन को विभिन्न साधनों में बांटा जाता है, अर्थशास्त्र में वितरण के नियम (**Laws of Distribution**) कहते हैं।

यहां इस बात को ध्यान में रखना होगा कि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत कार्याधारित वितरण (**Functional Distribution**) का अध्ययन किया जाता है और न कि व्यक्तिगत वितरण (**Persnoal Distribution**) का।

वितरण की समस्या के निम्नलिखित दो मुख्य प्रश्न हैं:—

(१) किसका वितरण किया जाता है ?

(२) वितरण में प्रत्येक साधन का हिस्सा कैसे निर्धारित किया जाता है ?

वितरण राष्ट्रीय आय (**National Income or National Dividend**) का किया जाता है। व्यापक दृष्टि से किसी देश की कुल वार्षिक उत्पत्ति को अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय आय कहते हैं। प्रो० मार्शल अपनी पुस्तक (**Principles of Economics**) में राष्ट्रीय आय की परिभाषा इस प्रकार देते हैं: —

"किसी देश की पूंजी एवं श्रम का उसके प्राकृतिक साधनों (**Natural Resources**) पर प्रयोग करने पर जो तमाम

(Material) और अभौतिक (Immaterial) पदार्थ (Commodities) और सब प्रकार की सेवाएँ (Services) वास्तव में प्रतिवर्ष उत्पन्न होती हैं उसके जोड़ को राष्ट्रीय आय कहते हैं।"

प्रो० पीगू (Pigou) के अनुसार-"राष्ट्रीय आय, समाज की वास्तविक आय जिसमें विदेशों से प्राप्त होनेवाली आय को भी सम्मिलित किया जाता है का वह भाग है जो मुद्रा के द्वारा मापा जा सकता है।"

जो सेवाएं एक मनुष्य स्वयं अपने लिए करता है या अन्य किसी के लिए करता है या अन्य किसी के लिए निःशुल्क करता है या जो लाभ उसे स्वयं की वस्तुओं या सार्वजनिक वस्तुओं से प्राप्त होते हैं उन्हें राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जाता।

प्रो० फिशर (Fisher) के मतानुसार एक वर्ष में जितना अन्तिम उपभोग होता है वही वास्तव में राष्ट्रीय आय है। उदाहरण के लिए एक घड़ी की कीमत १००) रु० है और वह २० वर्ष तक चलती है तब उसकी कुल कीमत राष्ट्रीय आय में पांचवा भाग अर्थात् ५) रु० ही गिना जायेगा। प्रो० फिशर से अधिकतर अर्थशास्त्री सहमत नहीं हैं और वह प्रो० मार्शल की परि-

Returns) यह बतलाता है कि जब उत्पादन के किसी कार्य में अन्य साधनों की मात्रा अपरिवर्तित रख कर केवल एक साधन की इकाई को बढ़ाया जाता है तो उस साधन का उत्पादन कम होता जाता है। जब यह लगातार किया जाता है तब एक ऐसी अवस्था आती है जहां पर उस साधन की एक और इकाई प्रयोग में लाने पर जो उत्पादन में वृद्धि होती है, उसका मूल्य और उस साधन की इकाई का मूल्य बराबर होता है। इस इकाई को अर्थशास्त्र में सीमान्त इकाई कहते हैं और इस अन्तिम (सीमान्त) इकाई से प्राप्त होने वाली उत्पत्ति को सीमान्त-उत्पादिता कहते हैं। सीमान्त उत्पादिता के अनुसार ही उस साधन की अन्य सभी इकाइयों का प्रतिफल निश्चित किया जाता है।

अगर किसी साधन की कीमत उसकी सीमान्त-उत्पादिता से कम है तो उत्पादक को उस साधन इकाई बढ़ाने पर प्रति इकाई कुछ बचत प्राप्त होती है। इस कारण वह उस साधन की इकाइयों में वृद्धि करेगा और यह तब तक जारी रखेगा जब तक उस साधन की सीमान्त-उत्पादिता और कीमत एक समान न हो जावे। इससे स्पष्ट है कि कोई भी उत्पादक अपने किसी साधन में वृद्धि तब तक करता रहता है जब तक उस साधन की सीमान्त-उत्पादिता उसके मूल्य के बराबर न हो जावे। इसे ही अर्थशास्त्र में सीमान्त-उत्पादिता सिद्धान्त कहते हैं।

—:※:—

(Material) और अभौतिक (Immaterial) पदार्थ (Commodities) और सब प्रकार की सेवाएँ (Services) वास्तव में प्रतिवर्ष उत्पन्न होती हैं उसके जोड़ को राष्ट्रीय आय कहते हैं।"

प्रो० पीगू (Pigou) के अनुसार-"राष्ट्रीय आय, समाज की वास्तविक आय जिसमें विदेशों से प्राप्त होनेवाली आय को भी सम्मिलित किया जाता है का वह भाग है जो मुद्रा के द्वारा मापा जा सकता है।"

जो सेवाएं एक मनुष्य स्वयं अपने लिए करता है या अन्य किसी के लिए करता है या अन्य किसी के लिए निःशुल्क करता है या जो लाभ उसे स्वयं की वस्तुओं या सार्वजनिक वस्तुओं से प्राप्त होते हैं उन्हें राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जाता।

प्रो० फिशर (Fisher) के मतानुसार एक वर्ष में जितना अन्तिम उपभोग होता है वही वास्तव में राष्ट्रीय आय है। उदाहरण के लिए एक घड़ी की कीमत १००) रु० है और वह २० वर्ष तक चलती है तब उसकी कुल कीमत राष्ट्रीय आय में पांचवा भाग अर्थात् ५) रु० ही गिना जायेगा। प्रो० फिशर से अधिकतर अर्थशास्त्री सहमत नहीं हैं और वह प्रो० मार्शल की परिभाषा को ही उचित मानते हैं।

सरल शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि किसी देश में एक वर्ष में जो कुल उत्पादन होता है उसके मूल्य में से चल पूंजी की स्थानपूर्ति तथा अचल पूंजी की घिसावट को बाद करने पर जो बाकी रहता है वही राष्ट्रीय आय है। इसमें विदेशों को जाने वाली आय को कम कर दिया जाता है और विदेशों से प्राप्त होने वाली आय को जोड़ दिया जाता है।

राष्ट्रीय आय का वितरण उत्पादन के विभिन्न साधनों में किया जाता है और प्रत्येक साधन को अपनी सीमान्त उत्पादिता के मूल्य के बराबर भाग प्राप्त होता है। उत्पादन के किसी कार्य में, अन्य साधनों की मात्रा अपरिवर्तित रहने पर और केवल एक साधन की मात्रा में एक सुक्ष्म इकाई की वृद्धि या कमी करने पर कुल उत्पादन में जितनी वृद्धि या कमी होती है, वही उस साधन की सीमान्त–उत्पादिता कहलाती है। उत्पत्ति-ह्रासनियम (Diminisihing

Returns) यह बतलाता है कि जब उत्पादन के किसी कार्य में अन्य साधनों की मात्रा अपरिवर्तित रख कर केवल एक साधन की इकाई को बढ़ाया जाता है तो उस साधन का उत्पादन कम होता जाता है। जब यह लगातार किया जाता है तब एक ऐसी अवस्था आती है जहाँ पर उस साधन की एक और इकाई प्रयोग में लाने पर जो उत्पादन में वृद्धि होती है, उसका मूल्य और उस साधन की इकाई का मूल्य बराबर होता है। इस इकाई को अर्थशास्त्र में सीमान्त इकाई कहते हैं और इस अन्तिम (सीमान्त) इकाई से प्राप्त होने वाली उत्पत्ति को सीमान्त-उत्पादिता कहते हैं। सीमान्त उत्पादिता के अनुसार ही उस साधन की अन्य सभी इकाइयों का प्रतिफल निश्चित किया जाता है।

अगर किसी साधन की कीमत उसकी सीमान्त-उत्पादिता से कम है तो उत्पादक को उस साधन इकाई बढ़ाने पर प्रति इकाई कुछ बचत प्राप्त होती है। इस कारण वह उस साधन की इकाइयों में वृद्धि करेगा और यह तब तक जारी रखेगा जब तक उस साधन की सीमान्त-उत्पादिता और कीमत एक समान न हो जाये। इससे स्पष्ट है कि कोई भी उत्पादक अपने किसी साधन में वृद्धि तब तक करता रहता है जब तक उस साधन की सीमान्त-उत्पादिता उसके मूल्य के बराबर न हो जाये। इसे ही अर्थशास्त्र में सीमान्त-उत्पादिता सिद्धान्त कहते हैं।

—:०:—

२८ लगान (Rent)

प्रश्न (७०) आर्थिक लगान और इकरारी लगान का अन्तर स
कीजिए। पूर्ण प्रतियोगिता में आर्थिक लगान कैसे निर्धारित होता है

(Raj. 49, U. P. 50, M. P. 5(

उत्तर:—साधारण बोलचाल की भाषा में लगान (किराया) श
का अर्थ उस धन राशि से होता है जो एक किरायेदार किसी फर्म या मालि
को देता है। अर्थशास्त्र में लगान का अर्थ सीमित है।

आर्थिक लगान:—यह एक साधारण अनुभव की बात है कि कि
भी देश की समस्त भूमि एक प्रकार की नहीं होती। उनकी उर्वरा शक्ति
विभिन्नता होती है। कोई भूमि ऐसी होती है कि वह इतनी खराब होती है।
उस पर कृषि करने वाले को आय मिलती है वह उसके उत्पादन लागत
समान होती है। अतः इस प्रकार की भूमि पर कृषि करने वाले के पास लगा
देने के लिए कुछ भी बाकी नहीं बचता। इस तरह की भूमि को सीमान्त य
बिना-लगान वाली भूमि कहते हैं। जो भूमि इस सीमान्त भूमि से अच्छी होत
है उस पर अधिक उत्पत्ति होती है और वहां पर लागत निकाल देने पर कुछ
बाकी रह जाता है। सीमान्त भूमि और सीमान्त भूमि से अच्छी भूमि की उप
के अन्तर को ही अच्छी भूमि का आर्थिक लगान कहते हैं।

इकरारी लगान:—इसकी मात्रा एक आसामी से भूस्वामी को भूमि
के उपयोग के बदले में उन दोनों के बीच तय हुई रकम के अनुसार प्राप्त होती
है। दोनों पक्षों में लगान की रकम पहले से तय होने के कारण ही इसे इकरारी
लगान कहते हैं। इस प्रकार आर्थिक लगान के विपरीत यह पूर्व निश्चित होता

है। आर्थिक लगान में वृद्धि या कमी हो सकती है। इकरारी लगान में आर्थिक लगान के बराबर होने की प्रवृत्ति होती है वह आर्थिक लगान से कम या अधिक हो सकता है।

रिकार्डो (Ricardo) के अनुसार "पृथ्वी की उपज का वह भाग जो भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियों के उपयोग के लिए भूस्वामी को दिया जाता है लगान कहलाता है।"

संसार की समस्त भूमि की उर्वरा शक्ति अगर एक समान होती तो लगान का प्रश्न नहीं उठता। भूमि की उर्वरा शक्ति में विभिन्नता होती है। जो भूमि अधिक उपजाऊ होती है उससे जो उपज प्राप्त होती है वह कम उपजाऊ भूमि से मिलने वाली उपज की अपेक्षाकृत अधिक होती है। इस तरह अधिक उपजाऊ भूमि को कम उपजाऊ भूमि पर एक विशेष भिन्नक लाभ मिलता है। इसे ही आर्थिक लगान कहते हैं। रिकार्डो का सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है।

रिकार्डो के अनुसार कुछ ऐसी भूमि होती है जिस पर प्राप्त होने वाली उपज उसके उत्पादन लगान के ठीक बराबर होती है। यह वह सीमान्त भूमि है। इस पर लगान प्राप्त नहीं होता। सीमान्त भूमि से ऊपर की भूमि की उर्वरा शक्ति अधिक होने पर उस पर उपज अधिक होती है। इसे अधि-सीमान्त भूमि कहते हैं। अधि-सीमान्त भूमि और सीमान्त भूमि की उपज का अन्तर ही अधि-सीमान्त भूमि का आर्थिक लगान है।

उदाहरण:—मानलो किसी देश में a, b, c, प्रकार की भूमि पर कृषि की जाती है। a पर जब १००) रु० के बराबर श्रम और पूंजी लगाते हैं तब ५० मन गेहूं प्राप्त होता है। b पर ठीक वह इकाई लगाने पर २० मन और c से १० मन गेहूं मिलता है। c पर से प्राप्त उपज उसकी उत्पादन लागत के बराबर है। c सीमान्त भूमि हुई। अतः a का लगान (५०-१०)=४० होगा और b का (२०-१०)=१० होगा।

इसलिए रिकार्डो का कहना था कि किसी भी देश में सबसे अधिक उपजाऊ भूमि पर कृषि आरम्भ होती है। आवश्यकता बढ़ने पर उससे कम

स्पष्ट होजाता है कि कृषि उपज का मूल्य सीमान्त भूमि के उपज के उत्पादन व्यय के बराबर होता है।

हमें यह भी ज्ञात है कि सीमान्त भूमि पर लगान नहीं मिलता और मूल्य उसके उत्पादन-लागत के बराबर मिलता है तो इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि लगान मूल्य निर्धारण से किसी भी तरह सम्बन्धित नहीं और न ही मूल्य में सम्मिलित होता है।

जब किसी वस्तु की मांग बढ़ जाती है और उसकी पूर्ति कम रहती है तो इसका परिणाम यह होता है कि उसकी कीमत बढ़ जाती है। इससे कृषकों को उपज बढाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है और वह बढी हुई मांग की पूर्ति करने का प्रयत्न करता है। परन्तु जब वह उपज बढाने के लिए (ऊंचे मूल्यों के कारण) विस्तृत या गहरी खेती आरम्भ करता है तो लगान में वृद्धि होती है। अब तक जो भूमि बेकार पड़ी थी अर्थात् अनु-सीमान्त थी उस पर भी कृषि आरम्भ की जाती है। इससे सीमान्त-भूमि अधि-सीमान्त बन जाती है। उस पर लगान मिलने लगता है और पहिले से ही जिन भूमियों पर लगान मिल रहा था उनके लगान में वृद्धि होती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि लगान मूल्य निर्धारित नहीं करता या वह मूल्य के अन्तर्गत नहीं होता परन्तु लगान स्वयं मूल्य पर निर्भर है। इस कारण यदि लगान कम कर भी दिया जावे तो इसका मूल्य पर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि भू-स्वामी लगान लेना बन्द कर दे तब भी उस अवस्था में कृषि उत्पादन-मूल्य वही रहेगा। अतः हम कह सकते हैं कि लगान मूल्य में सम्मिलित नहीं होता परन्तु सीमान्त भूमि का उत्पादन व्यय अवश्य वस्तुओं की कीमत निर्धारित करता है।

—:o:—

र कृषि बन्द कर दी जायेगी जिससे यह अनु-सीमान्त बन जायेगी। लगान कम होगा। यदि कृषि के तरीकों में सुधार का प्रभाव केवल अच्छी पर ही होता है तो सीमान्त और अधि-सीमान्त भूमि के उत्पादन के अन्तर ढ जाने के कारण लगान में वृद्धि होगी। परन्तु यदि सुधार का प्रभाव न खराब भूमि पर ही पड़ता है तब इसका परिणाम विपरीत होगा। ान्त और अधि-सीमान्त भूमि के उपज के अन्तर के कम हो जाने के कारण ान भी कम हो जायेगा।

प्रश्न नं० (७२) "अनाज का मूल्य इसलिए अधिक नहीं है कि गान चुकाया जाता है, वल्कि लगान इसलिए चुकाया जाता है कि नाज का मूल्य अधिक है।" स्पष्ट कीजिए। **(U. P. 41)**

या

प्रश्न नं० (७३) इस कथन की सत्यता स्थापित कीजिए की "लगान उस उत्पादन लागत में सम्मिलित नहीं होता जिसका कीमत पर प्रभाव पड़ता है" **(U. P. 31)**

उत्तर:—रिकार्डो के मतानुसार भूमि के लगान और उसकी उपज के मूल्य में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता है। उसके सिद्धान्त के अनुसार किसी भूमि का आर्थिक लगान उसकी और सीमान्त भूमि की उपज के अन्तर के बराबर होता है। सीमान्त-भूमि बिना लगान-भूमि होती है अर्थात् उस पर होने वाली उपज का मूल्य उसके खेती करने के उत्पादन लागत के बराबर होता है। दूसरे शब्दों में सीमान्त भूमि पर जो उत्पादन लागत आती है वह ठीक उत्पत्ति के मूल्य के बराबर होती है। सीमान्त भूमि पर कृषि प्रारम्भ करने के लिए यह अति आवश्यक है कि बाजार में प्राप्त होने वाली कीमत सीमान्त-भूमि के उत्पादन-लागत के बराबर तो होनी ही चाहिए। यदि वह इससे कम है तो सीमान्त-भूमि पर नुकसान होने लगेगा जिससे उस पर कृषि करना बन्द कर दिया जाएगा। परन्तु यदि बाजार मूल्य सीमान्त-भूमि के उत्पादन लागत से अधिक है तो कृषि को प्रोत्साहन मिलेगा। अनु-सीमान्त भूमि पर कृषि शुरु की जायेगी जिसके परिणाम-स्वरूप सीमान्त-भूमि अधि-सीमान्त बन जायेगी। इससे य

स्पष्ट होजाता है कि कृषि उपज का मूल्य सीमान्त भूमि के उपज के उत्पादन व्यय के बराबर होता है।

हमें यह भी ज्ञात है कि सीमान्त भूमि पर लगान नहीं मिलता और मूल्य उसके उत्पादन–लागत के बराबर मिलता है तो इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि लगान मूल्य निर्धारण से किसी भी तरह सम्बन्धित नहीं और न ही मूल्य में सम्मिलित होता है।

जब किसी वस्तु की मांग बढ़ जाती है और उसकी पूर्ति कम रहती है तो इसका परिणाम यह होता है कि उसकी कीमत बढ़ जाती है। इससे कृषकों को उपज बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है और वह बढ़ी हुई मांग की पूर्ति करने का प्रयत्न करता है। परन्तु जब वह उपज बढ़ाने के लिए (ऊंचे मूल्यों के कारण) विस्तृत या गहरी खेती आरम्भ करता है तो लगान में वृद्धि होती है। अब तक जो भूमि बेकार पड़ी थी अर्थात् अनु–सीमान्त थी उस पर भी कृषि आरम्भ की जाती है। इससे सीमान्त–भूमि अधि-सीमान्त बन जाती है। उस पर लगान मिलने लगता है और पहिले से ही जिन भूमियों पर लगान मिल रहा था उनके लगान में वृद्धि होती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि लगान मूल्य निर्धारित नहीं करता या वह मूल्य के अन्तर्गत नहीं होता परन्तु लगान स्वयं मूल्य पर निर्भर है। इस कारण यदि लगान कम कर भी दिया जाये तो इसका मूल्य पर किसी भी प्रकार का प्रभाव नही पड़ेगा। यदि भू-स्वामी लगान लेना बन्द कर दे तब भी उस अवस्था में कृषि उत्पादन-मूल्य वही रहेगा। अतः हम कह सकते हैं कि लगान मूल्य में सम्मिलित नहीं होता परन्तु सीमान्त भूमि का उत्पादन व्यय अवश्य वस्तुओं की कीमत निर्धारित करता है।

—:※:—

२६ मजदूरी
(Wages)

प्रश्न नं० (७४) "श्रम एक नाशवान वस्तु है।" श्रम की विशेषताएं समझाइये और यह बतलाइये कि इनका प्रभाव मजदूरी निर्धारण पर क्या पड़ता है? (M, B. 57)

उत्तरः—श्रम वह है जो धनोत्पत्ति के उद्देश्य से मनुष्य द्वारा किया जाता है। वह मानसिक तथा शारीरिक भी हो सकता है। श्रम के मूल्य अर्थात् मजदूरी का निर्धारण अन्य जड़ वस्तुओं के मूल्य निर्धारण से भिन्न है। श्रम की कई विशेषताएं हैं जो मजदूरी निर्धारण पर अपना प्रभाव डालती हैं। वह निम्नलिखित हैं:—

(१) श्रम नाशवान है:—दूसरी वस्तुओं की भांति श्रम का संचय नहीं किया जा सकता। जो दिन श्रमिक विना किसी कार्य के खो देता है वह उसके लिए सदैव के लिए वेकार होजाता है। बीता हुआ कल वापिस नहीं आता। वह इस विशेषता को भली भांति जानता है "वेकार से वेगार भली"। वह दिन व्यर्थ जाने देने के वजाय जो कुछ भी मिल जाये उसे स्वीकार करने को तैयार हो जाता है। उत्पादक उसकी इस व्यवस्था से परिचित होने के कारण उसे कम वेतन देते हैं और श्रम की नाशवानता के कारण श्रमिक को कई बार कम वेतन स्वीकार करना पड़ता है।

(२) श्रम को श्रमिक से अलग नहीं किया जा सकता:—श्रम और श्रमिक में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो श्रमिक अपना श्रम बेचना चाहता है उसे वहां जाकर कार्य करना पड़ता है जहां उसके श्रम की आवश्यकता होती है। इस कारण वह मजदूरी के अलावा श्रम के स्थान के जलवायु तथा वातावरण आदि का भी ध्यान रखता है। इन सब के कारण श्रम की गतिशीलता कम होती है।

(३) श्रमिक अपना श्रम बेचता है परन्तु स्वयं अपना स्वामी होता है:—श्रमिक अन्य वस्तुओं की भांति खरीदे और बेचे नहीं जाते हैं। एक वस्तु की कीमत चुका देने पर उसको खरीदने वाला अपनी इच्छानुसार उसका प्रयोग कर सकता है और उसे चाहे जहां ले जा सकता है। श्रमिक केवल अपना श्रम बेचता है न कि अपने आपको। एक श्रमिक की शिक्षा आदि पर जो खर्च वह करते हैं उन्हें उससे कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं होता।

(४) श्रम की पूर्ति धीरे २ घटती बढ़ती है:—अन्य वस्तुओं की तरह श्रम की पूर्ति में जल्दी वृद्धि या कमी नहीं की जा सकती है। उनकी पूर्ति उनकी संख्या और दक्षता पर निर्भर करती है। यदि किसी एक स्थान पर किसी एक विशेष व्यवसाय में मजदूरों की मांग बढ़ जाये और उस स्थान में उनकी पूर्ति करना संभव नहीं तो वहां पर मजदूरी अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक होगी। यदि मांग की अपेक्षा पूर्ति अधिक है तो उस व्यवसाय को छोड़ कर दूसरे व्यवसाय को अपनाने में समय लगेगा। इसका परिणाम यह होगा कि उस स्थान पर अन्य स्थानों की अपेक्षा कम मजदूरी मिलेगी।

(५) श्रमिकों की मोल भाव करने की क्षमता मालिकों की अपेक्षा कम होती है:—ऐसा होने के कई कारण हैं-(१) श्रम की नाशवानता (२) उनकी निर्धनता। श्रमिक निर्धन होने के कारण अधिक समय के लिए बेकार नहीं रह सकता। 'रोज पकाना और रोज खाना' उनका क्रम होता है। इस कारण वह अधिक दिनों तक बेकार नहीं रह सकते। उन्हें जो कुछ भी मिले वह स्वीकार कर लेते हैं। (३) संगठन का अभाव होने के कारण वह सम्मि-लित होकर मालिक से मोल भाव नहीं कर पाते। एक मालिक को एक मजदूर की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती जितनी एक मजदूर को मालिक की। (४) अशिक्षित होने के कारण वह यह नहीं जानते कि किस स्थान पर और किस व्यवसाय में उन्हें अधिक मजदूरी मिल सकती है। (५) जन संख्या में अत्य-धिक वृद्धि होने के कारण उनकी पूर्ति मांग की अपेक्षा अधिक होती है और इस कारण उनमें तीव्र प्रतियोगिता होती है।

(६) श्रम में गतिशीलता कम होती है:—एक श्रमिक अपने निवास स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान पर नहीं जाना चाहता। इस गतिशीलता [illegible]

कमी के कारण श्रमिक अप्रतियोगी दलों में विभिक्त रहते हैं जिस कारण मजदूरी की दरों में विभिन्नता रहती है। गतिशीलता न होने के कारण कई—बार बेकारी का सामना करना पड़ता है।

(७) श्रमिक अपनी इच्छानुसार कार्य करता है:-श्रमिक से उसकी इच्छा के विपरीत कार्य नहीं लिया जा सकता। इस कारण मालिक उसे प्रसन्न रखने के लिए ऊंची मजदूरी तथा जीवन की अन्य सुविधाएं देते हैं। अन्य सुविधाओं के प्राप्त होने पर उसकी असली वास्तविक मजदूरी बढ जाती है।

प्रश्न नं० (७५) वास्तविकता और नकदी मजदूरी का भेद समझाइये। भारत में स्त्रियों की मजदूरी कम होने के क्या कारण हैं?

अथवा

प्रश्न नं० (७६) वास्तविक और नकदी मजदूरी के अन्तर को बतलाइये। वास्तविक मजदूरी पर किन २ बातों का प्रभाव पड़ता है?

(Aj. 50,)

उत्तर—नकद मजदूरी:— जो मजदूरी श्रमिक को मुद्रा के रूप में मिलती है उसे रोकड़ा या नकद (**Money** या **Nominal Wages**) कहते हैं। उदाहरण के लिए किसी एक व्यक्ति को उसकी सेवा के बदले में १ रु. प्रतिदिन या ३० रु. मासिक वेतन मिलता है तो यह उसकी नकद मजदूरी है।

वास्तविक (**Real**) मजदूरी:—वह तमाम वस्तुएं तथा सुविधायें जो एक श्रमिक अपनी नकद मजदूरी से प्राप्त कर सकता है उसकी वास्तविक मजदूरी कहलाती हैं। सर टोमस के मतानुसार वास्तविक मजदूरी से तात्पर्य श्रमिक के धन्धे के वास्तविक लाभों से है अर्थात् अपनी सेवाओं के प्रतिफल में उसे जो जीवन की आवश्यकता तथा विलास की वस्तुएं प्राप्त हो सकती हैं उन्हें वास्तविक मजदूरी कहते हैं। सरल शब्दों में वास्तविक मजदूरी में नकद मजदूरी के अलावा श्रमिकों को अपने मालिक से जो भी सुविधाएं प्राप्त होती हैं वह सब सम्मिलित होती हैं। उदाहरण के लिए रेल में काम करने वाले मजदूरों को फ्री मुफ्त चिकित्सा तथा सस्ते किराये पर मकान का प्राप्त होना।

वास्तविक मजदूरी को निम्नलिखित बातें प्रभावित करती हैं:—

(१) मुद्रा की क्रय शक्ति—रुपये का वास्तविक मूल्य उसकी क्रय
Purchasing Power) है। जब वस्तुओं की कीमत अधिक
तो मुद्रा की क्रय शक्ति कम होती है और इस कारण वस्तुओं को कम
ख़रीदी जाती है। परन्तु यदि वस्तुएँ सस्ती हैं तो क्रय शक्ति अधिक
: वस्तुओं को अधिक मात्रा में ख़रीदा जा सकता है। विभिन्न स्थानों
तुओं की कीमत अलग २ होने के कारण मुद्रा की क्रय शक्ति में भी
: पाई जाती है। नकद मजदूरी समान होने पर वास्तविक मजदूरी
: और स्थान २ पर भिन्न २ होती है। जिस स्थान पर मुद्रा की क्रय
सरे स्थान की अपेक्षाकृत अधिक होती है वहां वास्तविक मजदूरी भी
होती है।

उदाहरण के लिए गांवों में अनाज, घी, दूध आदि काफी सस्ते होते
मकानों का किराया भी अधिक नहीं होता। इसके विपरीत बड़े शहरों में
ी वस्तुओं का मूल्य अधिक होता है। इस कारण गांवों में और शहरों
: मजदूरी यदि समान भी है तो भी गांवों में वास्तविक मजदूरी अधिक

(२) नकद मजदूरी के अलावा अन्य सुविधाएँ :—जो भी सुविधाएँ
को प्राप्त होती हैं इन सबको वास्तविक मजदूरी में सम्मिलित किया जाता
दाहरण के लिए रेल के श्रमिकों को सस्ते किराये पर मकान का
।

(३) शिक्षा काल और उसका व्यय:—बहुत से व्यवसाय इस तरह
हैं जैसे वकालत, डाक्टरी, इंजिनियरिंग आदि जिनमें बहुत साधन और
लगता है परन्तु इसके विपरीत कुछ ऐसे भी व्यवसाय होते हैं जैसे प्राइ-
कूल में अध्यापक का कार्य जिनमें कोई विशेष शिक्षा लेने की आवश्यकता
ती और उनमें अधिक व्यय भी नहीं होता। वास्तविक मजदूरी का
लगाते समय शिक्षा, काल तथा [illegible] पर किये जाने वाला व्यय [illegible]
में रखना चाहिए।

(४) व्यापारिक व्यय:—कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं कि उनमें रहने के लिए उन पर कुछ व्यय करना पड़ता है। उदाहरण के लिए एक वकील या कालेज के अध्यापक को पुस्तकें खरीदनी पड़ती हैं। वास्तविक मजदूरी का अनुमान लगाते समय इस तरह के किए जाने वाले व्यापारिक व्यय को नकद घटाना पड़ता है।

(५) काम की प्रकृति.—वास्तविक मजदूरी को ज्ञात करने के लिए यह भी देखना आवश्यक है कि मजदूर को किस प्रकार का कार्य करना पड़ता है। काम अधिक थकाने वाला या खतरनाक हो तो ऐसे कार्यों में अधिक नकद मजदूरी मिलने पर भी उनकी वास्तविक मजदूरी कम होती है।

(६)काम करने का समय तथा अवकाश:—काम करने का समय और समय २ पर मिलने वाले अवकाश भी वास्तविक मजदूरी को प्रभावित करते हैं। एक कालेज के अध्यापक की तुलना में जिसे दिन में थोड़े समय के लिए काम करना पड़ता है और वर्ष में कई छुट्टियां मिलती हैं, एक उसके समान ही वेतन पाने वाले सरकारी अफसर की वास्तविक आय जिसे दिन में ६ घण्टे काम करना पड़ता है और काफी कम छुट्टियां मिलती हैं, कम ही कहीं जायेंगी।

(७)कार्य की स्थिरता:—कुछ व्यवसाय मौसमी होते हैं। चीनी के कारखाने में वर्ष में केवल ६ महीने ही काम चलता है। इस प्रकार की अस्थिरता होने पर वास्तविक मजदूरी कम हो जाती है।

(८) अतिरिक्त आमदनी:—कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जिनमें अतिरिक्त आमदनी प्राप्त करने की सुविधा होती है और अन्य व्यवसायों में उसका अभाव होता है। उदाहरण के लिए एक अध्यापक विद्यालय के कार्य के बाद ट्यूशन कर या पुस्तकें लिखकर अपनी आमदनी में वृद्धि कर सकता है। अतः अध्यापकों की वास्तविक मजदूरी प्रायः समान वेतन पाने वाले अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक होती है।

(९) आश्रितों को काम मिलने की सुविधा:—कुछ व्यवसाय इस प्रकार के होते हैं कि वहां पर श्रमिक के स्त्री और बच्चों को अन्य कार्य मिल जाते हैं। कारखाने, दफ्तर में काम करने वाला चपरासी अपनी स्त्री को किसी

के लिए अपने स्वामी के यहां नौकर रखा सकता है। इससे मजदूरी में वृद्धि होती है।

(१०) भावी उन्नति की आशा:—जिस व्यवसाय में भावी उन्नति होती है उनमें लोग कम नकद मजदूरी पर भी काम करना स्वीकार । उदाहरण के लिए एक अधिक शिक्षित व्यक्ति दफ्तर में साधारण कार्य स्वीकार कर लेता है यदि उसे यह आशा है कि भविष्य में उन्नति हो सकती है। अतः वस्तुएं समान होने पर भी उस कार्य में मजदूरी अधिक मानी जायेगी जहां उन्नति की आशा हो।

(११) समाज में काम करने की प्रतिष्ठा:—किसी कार्य की वास्तविक मजदूरी को जानने के लिए यह देखना आवश्यक है कि उस कार्य को कितना सम्मान या प्रतिष्ठा प्राप्त है। जिस काम का समाज अधिक होता है उस कार्य की वास्तविक मजदूरी अधिक मानी

(१२) स्वच्छता तथा मनोरंजन का वातावरण:—व्यवसाय का ...ता तथा उसमें मनोरंजन का होते रहना यह सब वास्तविक मजदूरी में ...करते हैं।

स्त्रियों की कम मजदूरी के कारण

(१) स्त्रियों की शारीरिक शक्ति कम होने के कारण कम सीमान्त ...देता:—स्त्रियां अधिक परिश्रम वाला कार्य नहीं कर सकती और न ही ...लगातार अधिक समय तक कार्य कर सकती हैं। इस कारण उनकी उत्पादन ...कम होती है जिसके फलस्वरूप उन्हें कम वेतन दिया जाता है।

(२) स्त्रियों के लिए कुछ व्यवसाय ही सीमित हैं:— सामाजिक ...कानूनी प्रतिबन्धों के कारण वह सब ही प्रकार के व्यवसायों में कार्य नहीं ...सकती। इस तरह की सीमितता के कारण और उनकी पूर्ति मांग से अधिक ...फलस्वरूप उन्हें कम वेतन मिलता है।

(३) स्त्रियों के काम में स्थायित्व का अभाव—भारत में स्त्रियां ...केवल उस समय तक नौकरी करती है जब तक उनका विवाह नहीं हो

(४) व्यापारिक व्यय:—कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं कि उनमें लगे रहने के लिए उस पर कुछ व्यय करना पड़ता है। उदाहरण के लिए एक वकील या कालेज के अध्यापक को पुस्तकें खरीदनी पड़ती हैं। वास्तविक मजदूरी का अनुमान लगाते समय इस तरह के किए जाने वाले व्यापारिक व्यय को नकद घटाना पड़ता है।

(५) काम की प्रकृति:—वास्तविक मजदूरी को ज्ञात करने के लिए यह भी देखना आवश्यक है कि मजदूर को किस प्रकार का कार्य करना पड़ता है। काम अधिक थकाने वाला या खतरनाक हो तो ऐसे कार्यों में अधिक नकद में मजदूरी मिलने पर भी उनकी वास्तविक मजदूरी कम होती है।

(६)काम करने का समय तथा अवकाश:–काम करने का समय और समय २ पर मिलने वाले अवकाश भी वास्तविक मजदूरी को प्रभावित करते हैं। एक कालेज के अध्यापक की तुलना में जिसे दिन में थोड़े समय के लिए कार्य करना पड़ता है और वर्ष में कई छुट्टियां मिलती हैं, एक उसके समान ही वेतन पाने वाले सरकारी अफसर की वास्तविक आय जिसे दिन में ६ घण्टे काम करना पड़ता है और काफी कम छुट्टियाँ मिलती हैं, कम ही कहीं जायेंगी।

(७)कार्य की स्थिरता:—कुछ व्यवसाय मौसमी होते हैं। चीनी के कारखाने में वर्ष में केवल ६ महीने ही काम चलता है। इस प्रकार की अस्थिरता होने पर वास्तविक मजदूरी कम हो जाती है।

(८) अतिरिक्त आमदनी:—कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जिनमें अतिरिक्त आमदनी प्राप्त करने की सुविधा होती है और अन्य व्यवसायों में उसका अभाव होता है। उदाहरण के लिए एक अध्यापक विद्यालय के कार्य के बाद ट्यूशन कर या पुस्तकें लिखकर अपनी आमदनी में वृद्धि कर सकता है। अतः अध्यापकों की वास्तविक मजदूरी प्रायः समान वेतन पाने वाले अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक होती है।

(९) आश्रितों को का ममिलने की सुविधा:—कुछ व्यवसाय इस प्रकार के होते हैं कि वहां पर श्रमिक के स्त्री और बच्चों को अन्य कार्य मिल जाते हैं। कारखाने, दफ्तर में काम करने वाला चपरासी [illegible]

घरेलू काम के लिए अपने स्वामी के यहां नौकर रखा सकता है। इससे वास्तविक मजदूरी में वृद्धि होती है।

(१०) भावी उन्नति की आशा:—जिन व्यवसाय में भावी उन्नति की आशा होती है उनमें लोग कम नकद मजदूरी पर भी काम करना स्वीकार कर लेते हैं। उदाहरण के लिए एक अधिक शिक्षित व्यक्ति दफ्तर में साधारण क्लर्क का कार्य स्वीकार कर लेता है यदि उसे यह आशा है कि भविष्य में उसकी उन्नति हो सकती है। अतः वस्तुएँ समान होने पर भी उन कार्य में वास्तविक मजदूरी अधिक मानी जायेगी जहां उन्नति की आशा हो।

(११) समाज में काम करने की प्रतिष्ठा:—किसी कार्य की वास्तविक मजदूरी को जानने के लिए यह देखना आवश्यक है कि उस कार्य को समाज में कितना सम्मान या प्रतिष्ठा प्राप्त है। जिस काम का समाज में आदर अधिक होता है उस कार्य की वास्तविक मजदूरी अधिक मानी जाती है।

(१२) स्वच्छता तथा मनोरंजन का वातावरण:—व्यवसाय का स्वच्छ होना तथा उसमें मनोरंजन का होते रहना यह सब वास्तविक मजदूरी में वृद्धि करते हैं।

स्त्रियों की कम मजदूरी के कारण

(१) स्त्रियों की शारीरिक शक्ति कम होने के कारण कम सीमान्त उत्पादिता:—स्त्रियां अधिक परिश्रम वाला कार्य नहीं कर सकती और न ही वे लगातार अधिक समय तक कार्य कर सकती हैं। इस कारण उनकी उत्पादन शक्ति कम होती है जिसके फलस्वरूप उन्हें कम वेतन दिया जाता है।

(२) स्त्रियों के लिए कुछ व्यवसाय ही सीमित हैं:—सामाजिक और कानूनी प्रतिबन्धों के कारण वह सब ही प्रकार के व्यवसायों में कार्य नहीं कर सकती। इस तरह की सीमितता के कारण और उनकी पूर्ति मांग से अधिक होने के फलस्वरूप उन्हें कम वेतन मिलता है।

(३) स्त्रियों के काम में स्थायित्व का अभाव—भारत में स्त्रियां प्रायः केवल उस समय तक नौकरी करती हैं जब तक उनका विवाह नहीं हो

जाता है । विवाह के बाद वह गृहस्थ जीवन में लग जाती हैं और अपने व्यवसाय को त्याग देती हैं । इस कारण उन्हें कार्य आसानी से नहीं मिल पाता और उन्हें वेतन कम दिया जाता है ।

(४) शिक्षा और ट्रेनिंग की कमी:—स्त्रियां समय और व्यय लगाकर किसी भी प्रकार ट्रेनिंग प्राप्त करने के लिए प्रायः तैयार नहीं होती और इस प्रकार की शिक्षा के अभाव में उन्हें कम वेतन मिलता है ।

(५) स्त्रियों पर प्रायः अधिकतर पारिवारिक उत्तरदायित्व कम होता है, संगठन का अभाव होता है और उनकी मोल-भाव करने की शक्ति कम होने के फलस्वरूप उन्हें कम वेतन मिलता है ।

प्रश्न (७७) जब कि खेती में काम करने वाले मजदूरों को भारत में ४५ रु० मासिक मजदूरी के मिलते हैं । एक इंजीनियर को लगभग ८५० रु० मासिक मिलते हैं । इन दोनों पेशों की मजदूरी में जो अन्तर है उसका कारण समझाइये । **(Raj. 1950)**

अथवा

प्रश्न (७८) क्या आप समझा सकते हैं कि—(क) घरेलू नौकरों (ख) विश्वविद्यालय के अध्यापकों और (ग) सरकारी कर्मचारियों की आय में अन्तर क्यों पाया जाता है ? **(U. P. 31)**

दोनों प्रश्नों के उत्तर के लिए देखिए प्रश्न नं० (७५)

प्रश्न (७९) समय के अनुसार (**Time Wages**) और काम के अनुसार (**Piece Wages**) मजदूरी पद्धतियों के लाभ-हानियों की तुलना कीजिये । आप दोनों में से किसे श्रेष्ठ मानते हो और क्यों ?

(Raj. Inter. 48, 56)

उत्तर:—श्रमिक को दो तरीकों द्वारा उनके श्रम का प्रतिफल दिया जा सकता है जो निम्नलिखित हैं: —

(१) समय के अनुसार और (२) कार्यानुसार

समयानुसार मजदूरी—उसे कहते हैं जब श्रमिक को उसके कार्य करने के समय के आधार पर पारिश्रमिक दिया जाये । यह मजदूरी दैनिक, साप्ताहिक, वार्षिक और मासिक भी हो सकती है । आधुनिक युग में श्रमिकों

५. वितरण का कार्य सुगम रहता है क्योंकि इस प्रथा में प्रत्येक श्रमिक ने व्यक्तिगत रूप से कितना कार्य किया है आदि बात का हिसाब नहीं रखना पड़ता ।

६. ऐसा उद्योग जहां उत्पति की मात्रा को ठीक से मापना संभव नहीं यह प्रथा उचित, सरल रहती है ।

दोष (**Disadvantages**)

कार्यानुसार

१. श्रमिक अधिक मजदूरी प्राप्त करने के उद्देश्य से जल्दबाजी में कार्य करते हैं जिसके कारण वस्तुओं की उत्तमता कायम नहीं रह पाती ।

२. श्रमिकों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है ।

समयानुसार

१. इस प्रथा के कारण श्रमिक को अधिक परिमाण या अति उत्तम कार्य करने के हेतु प्रोत्साहन प्राप्त नहीं होता है । इसका कारण यह है कि वह इस बात से परिचित रहता है कि वह कितना ही अधिक या कम और कैसा भी कार्य क्यों न करे उसे तो मजदूरी निश्चित की हुई दर पर ही प्राप्त होगी ।

२. यह प्रथा श्रमिक को आलसी बना देती है । अतः उन पर निरीक्षण रखने के लिए कई अधिकारियों की नियुक्ति करनी पड़ती है । उत्पादन व्यय में वृद्धि हो जाती है ।

३. बीमारी के समय में श्रमिक को मजदूरी नहीं मिलती।

४. मजदूरों में द्वेष और प्रतिस्पर्धा की भावनाएँ बढ़ती हैं। काम शीघ्रता से समाप्त होने पर बेकारी में वृद्धि होती है।

५. हिसाब रखने में कठिनाई उत्पन्न होती है— विशेष कर उस समय जब किसी एक कार्य को कई श्रमिकों के द्वारा किया जाता है।

६. जल्दबाजी के कारण औजार अधिक मात्रा में टूटते हैं।

३. कुशल और अकुशल श्रमिक में भेद करना कठिन होता है। श्रमिकों को उनकी कार्य-क्षमतानुसार मजदूरी प्राप्त नहीं होती।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है जहां दो प्रथाओं के अपने २ विशेष गुण हैं वहां उन दोनों में अपने २ दोष भी विद्यमान हैं। इन दोनों प्रथाओं में वास्तविक अन्तर कम है फिर भी उनका अपने २ क्षेत्र में एक विशेष महत्व है। कार्यानुसार मजदूरी देने की प्रथा उन व्यवसायों के लिए उचित रहती है जहां पर व्यक्तिगत कार्य की मात्रा को सरलता के साथ मापा जा सकता है। जैसे जूता बनाने का उद्योग।

समयानुसार मजदूरी देने की प्रथा उन व्यवसायों के लिए उचित रहती है जहां पर श्रमिकों के कार्य की मात्रा को सरलता के साथ मापा नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए शिक्षक, मैनेजर आदि। यह प्रथा उन व्यवसायों के लिए भी ठीक है जहां पर उत्पादित वस्तु की उत्तमता पर विशेष महत्व दिया जाता हो।

वास्तव में ये दोनों प्रथाएँ आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के लिए ठीक नहीं हैं। उन दोनों के गुणों का समन्वय कर एक नई प्रणाली को अपनाया गया है

जो (**Incentive Bonus Method**) कहलती है। इसके अनुसार श्रमिकों का प्रतिदिन का पारिश्रमिक निश्चित रहता है और उनके कार्य की मात्रा भी। यदि कोई व्यक्ति निर्धारित समय में निश्चित मात्रा से अधिक सही उत्पादन करता है तो उसे उस अतिरिक्त उत्पादन के लिए बोनस दिया जाता है। इस प्रथा के कारण कार्य की उत्तमता बनी रहती है। श्रमिक के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता और कार्य-क्षमता में वृद्धि करने के लिए प्रोत्साहन भी प्राप्त होता है।

---

३० व्याज (Interest)

प्रश्न (८०) व्याज क्या होता है ? यह कैसे निश्चित होता है ? व्याज की साधारण दर में किन कारणों से विभिन्नता होती है ?

(Raj. 58)

उत्तर—साधारण बोलचाल की भाषा में हम व्याज (सूद) उस राशि को कहते हैं जो ऋण लेने वाला ऋण देने वाले को उसके धन का उपभोग करने के बदले में देता है। अर्थशास्त्र में भी व्याज का यही अर्थ है।

प्रो० सेलिगमेम के मतानुसार व्याज पूंजी उधार देने का प्रतिफल है।

व्याज राष्ट्रीय आय का वह भाग है जो पूंजीपति को उसकी पूंजी के लिए दिया जाता है।

प्रो० रिचार्डस के अनुसार व्याज प्राथमिक रूप से प्रतीक्षा का पुरस्कार है।

पूंजी को पूर्ति बचाने की इच्छा और उसकी क्षमता पर आधारित होती है। पूंजी बचाने के लिए व्यक्ति को अपने वर्तमान उपभोग को स्थगित करना पड़ता है और जितने समय के लिए वह ऋण दूसरे को देता है उतने समय के लिए वह उस पूंजी का उपभोग नहीं कर सकता। यदि पूंजी का संचय करने वाले को उसके त्याग के बदले में कोई भी प्रतिफल न प्राप्त हो तो वह बचत करना बन्द कर देगा जिसके फलस्वरूप पूंजी की पूर्ति रुक जायेगी। इस कारण पूंजी बचाने वाले को व्याज के रूप में प्रतिफल दिया जाना जरूरी है और उसको उसके त्याग के बदले में जो प्रतिफल मिले वह कम से कम इतना हो कि पूंजी बचाने वाले को उसको बचाने में भी त्याग करना पड़ता है कि उसकी पर्याप्त क्षति–पूर्ति हो जाये। पूंजी को बचाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने के लिए उसका देना अति आवश्यक है। वह एक प्रकार से पूंजी की लागत है। जिस तरह किसी वस्तु की कीमत उसके लागत मूल्य से कम नहीं हो सकती ठीक उसी तरह व्याज की दर भी कम से कम इतनी होगी जो पूंजी बचाने वाले के त्याग की पर्याप्त क्षति–पूर्ति कर सके।

सरल शब्दों में पूर्ति की ओर व्याज की दर में उस मात्रा के समान होने की प्रवृति होती है जो सीमान्त—बचत कर्ता के नुकसान को पूरा कर सके और साथ ही अपनी पूंजी को बाजार में लाने के लिए प्रेरित कर सके।

व्याज की दर भी पूंजी को सीमान्त उत्पादकता द्वारा निश्चित अधिकतम सीमा और पूंजी को बचाने के लिए पर्याप्त क्षति–पूर्ति द्वारा न्यूनतम सीमा के मध्य उस स्थान पर तय होगी जहां पर पूंजी की कुल मांग और उसकी कुल पूर्ति बराबर हो।

व्याज की दर	पूंजी की मांग	पूंजी की पूर्ति
२%	५० लाख रु०	२० लाख रु०
३%	४० ,, ,,	३० ,, ,,
४%	३५ ,, ,,	३५ ,, ,,
५%	१० ,, ,,	५० ,, ,,

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि ४% पर मांग और पूर्ति बराबर है। अतः यहां पर व्याज की दर निश्चित होगी।

प्रायः यह देखा जाता है कि व्याज की दर में काफी विभिन्नता होती है। ऐसा होने के कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) जोखिम की मात्रा में विभिन्नता—अलग २ व्यक्तियों को उधार देने में जोखिम की मात्रा भी अलग २ होती है। यदि ऋण लेने वाला व्यक्ति ईमानदार हो और उसकी स्थिति तथा साख अच्छी हो तो उसे ऋण के लिए उस व्यक्ति से जिसकी साख खराब है कम व्याज की दर देनी पड़ेगी। इसी कारण सरकार को कम दर पर ऋण मिल जाता है।

(२) असुविधा में अन्तर—लम्बे समय तक पूंजी उधार देने में अधिक असुविधा होती है और इसी कारण लम्बे समय तक ऋण पर थोड़े समय तक के ऋण की अपेक्षा व्याज की दर अधिक होती है। ऋण के समय का व्याज की दर पर प्रभाव पडता है।

(३) व्यवसायिक जोखिम में अन्तर—कुछ व्यवसायों में जोखिम अधिक होती है और जब इनके लिए ऋण लिया जाता है तब कम जोखिम वाले व्यवसाय की अपेक्षा उसके लिए व्याज की दर अधिक होती है।

(४) प्रबन्ध कार्य में भिन्नता—ऋण देने, उसकी वसूली तथा व्यवस्था करने में असुविधा जितनी अधिक होगी उतनी ही व्याज की दर अधिक होगी। यह असुविधा कम होने पर व्याज की दर कम होगी।

(५) ऋण की जमानत—उचित जमानत मिलने पर ऋण पर व्याज की दर उचित जमानत न मिलने पर दिए गए ऋण की अपेक्षा कम होती है।

(६) अनुत्पादक कार्य—अनुत्पादक कार्य के लिए जब ऋण लिया जाता है तब उत्पादक कार्य के हेतु लिए जाने वाले ऋण की तुलना में अधिक व्याज की दर देनी पड़ती है।

(७) प्रतियोगिता का अभाव—ऋण देने वालों तथा ऋण लेने वालों में पूर्ण तथा स्वतन्त्र प्रतियोगिता का अभाव रहने के कारण व्याज की दर विभिन्नता पाई जाती है।

(८) बैंकिंग व्यवस्था का अभाव—जहां पर बैंकिंग व्यव[illegible] होती, ऐसे स्थान पर ऋण साहूकारों से लिया जाता है। वह व्याज

अधिक लेते हैं परन्तु जिन स्थानों पर बैंकिंग की उचित व्यवस्था होती है उन स्थानों पर व्याज की दर कम होती है।

(९) पूंजी की गतिशीलता में कमी:—अलग २ स्थानों में व्याज की दर अलग २ होने का कारण यह है कि पूंजी की गतिशीलता एक सी नहीं होती है।

---

३१ लाभ (Profit)

प्रश्न (८१) लाभ किसे कहते हैं ? लाभ कमाना उचित क्यों हैं ? (U. P. 37)

उत्तर—साधारण बोलचाल की भाषा में किसी व्यवसाय की आय में से उसके सारे व्ययों को निकालने के बाद जो कुछ शेष मालिक के लिए रह जाता है वह लाभ कहलाता है। परन्तु अर्थशास्त्र में लाभ राष्ट्रीय आय का वह भाग है जो एक व्यक्ति को जोखिम उठाने के प्रतिफल के रूप में मिलता है।

राष्ट्रीय आय का वह भाग जो साहसियों को दिया जाता है वह लाभ कहलाता है।

प्रो० टोमस (Thomas) के अनुसार "[illegible] सी का स्कार है।"

आधुनिक उत्पादन प्रणाली में साहसी का उत्पादन को समस्त व्यवस्था करता है और भवि[illegible] कर उत्पादन कार्य करता है। परन्तु उसका भवि[illegible]

हो सकता है भविष्य में उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की मांग कम हो जाए या समाप्त हो जाय। ऐसी परिस्थिति पर उसे नुकसान हो सकता है। इन सब जोखिमों के बदले में यदि उसे कोई भी प्रतिफल नहीं मिलेगा तो वह कभी भी उत्पादन कार्य की ओर प्रवृत्त नहीं होगा।

समाजवादियों के अनुसार समस्त उत्पादित धन के भागीदारी श्रमिक हैं। वह साहसी द्वारा बचा लिए गए लाभ को न्यायानुमोदित लूट (Legalised **Robbery**) कहते हैं। इनका यह विचार एक भ्रमात्मक विचार है। आधुनिक समय में पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में लाभ का एक महत्वपूर्ण स्थान है। जब तक कोई व्यक्ति जोखिम उठाने के लिए तैयार न होगा तब तक धन के उत्पादन का कार्य नहीं हो सकता। उत्पादन कर्ता प्रतिफल या लाभ की आशा में जोखिम उठाने का दायित्व स्वीकार कर उत्पादन का कार्य करते हैं। यदि उन्हें यह न मिले तो वह जोखिम उठाने को कभी भी तैयार नहीं होंगे।

प्रो० निकल्सन के शब्दों में *"साहस अनिश्चितता रूप में असाधारण जोखिम तथा असाधारण योग्यता का प्रतिफल है। इसी प्रकार के साहस के कारण इतनी अधिक आर्थिक उन्नति हुई है। वास्तव में साहसी का प्रतिफल 'लाभ' आर्थिक उन्नति की अन्तर्निहित है।"*

३२ राजस्व
(Public Finance)

प्रश्न (८२) एडम स्मिथ के करों के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।
(Sagar 49 M. B. 51, Aj. 48, 51, U. P. 50 Pre. U. 60)

उत्तर—कर व्यक्ति द्वारा सरकार को दिया हुआ वह अनिवार्य योगदान है जिसे करदाता के विशेष लाभ का ध्यान नहीं रखते हुए सरकार सबके कल्याण के लिए व्यय करती है।

इस कर को लेते समय तथा लगाते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए उसके सम्बन्ध में एडम स्मिथ ने चार सिद्धान्त बताए हैं।

(१) समानता या न्याय का सिद्धान्त [**Principle of Equality**]--एडम स्मिथ के अनुसार "प्रत्येक राज्य की प्रजा को राज्य की सहायतार्थ अपनी योग्यतानुसार कर देना चाहिए अर्थात् उस आय के अनुपात में जो राज्य द्वारा दी गई सुरक्षा के अन्तर्गत प्राप्त होती है।"

एडम स्मिथ ने अनुपात शब्द का प्रयोग अवश्य किया है परन्तु वर्द्धमान कर की अनुमति नहीं दी है। उपर्युक्त नियम का आशय यह है कि कर इस प्रकार लगाया जाय कि प्रत्येक करदाता को एक समान स्वार्थ त्यागना पड़े।

दूसरे स्थान पर एडम स्मिथ स्वयं कहते हैं कि कर इस प्रकार लगाना चाहिए कि प्रत्येक करदाता सरकार के लिए समान त्याग करे अर्थात् जो व्यक्ति धनी हैं उन्हें अधिक कर देना पड़े और जो गरीब हैं उन्हें कम देना पड़े। इसे प्रगतिशील कर कहते हैं।

(२) निश्चितता का सिद्धान्तः—स्मिथ के शब्दों में वह कर, जिसे प्रत्येक करदाता को आवश्यक रूप से देना पड़ता है, निश्चित होना चाहिए। कर अदा करने का समय, कर की मात्रा आदि सारी बातें करदाता को स्पष्ट होनी चाहिए। यदि कर के सम्बन्ध में किसी तरह की अनिश्चितता विद्यमान रहती है तो कर वसूल करने वाले अधिकारी भ्रष्टाचारी हो सकते हैं। यदि कर देने का समय या ढङ्ग मालूम न हो तो करदाता कर की रकम समय पर तैयार न रख सकेगा।

(३) सुविधा का सिद्धान्तः—कर ऐसे समय में और ऐसे तरीके से वसूल किया जाना चाहिए कि करदाता को अधिकतम सुविधा हो। उदाहरण के लिए किसानों से कर बोने के समय पर नहीं बल्कि फसल काटने के बाद वसूल किया जाना चाहिए।

(४) मितव्ययिता का सिद्धान्तः—प्रत्येक कर को इस प्रकार लगाना चाहिए कि जनता की जेबों से जितना सम्भव हो उतना कम लिया जाय और इसका अधिकांश भाग राज्यकोष में जमा हो जावे। अर्थात् प्रत्येक कर ऐसा होना चाहिए कि उसे वसूल करने में कम से कम खर्च करना पड़ता हो। अगर उसे वसूल करने के लिए बहुत अधिक सरकारी नौकर रखने पड़ते हैं तो कर वसूल करने का व्यय अधिक होगा और इससे राज्यकोष को अधिक लाभ नहीं होगा।

एडम स्मिथ के उपरोक्त चार सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ अन्य सिद्धान्त भी हैं जो निम्नलिखित हैं :—

(१) कर प्रणाली सरल होनी चाहिए ताकि वह सर्व साधारण की समझ में आ जाये। जटिल कर नीति से भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है और नागरिकों के नैतिक स्तर का पतन होता है।

(२) कर लोचदार होना चाहिए ताकि उसकी दर में आवश्यक कमी या वृद्धि कर देश की आवश्यकतानुसार आय को घटाया बढ़ाया जा सके।

(३) कर उत्पादक हो। वह ऐसा हो कि उससे राज्य को पर्याप्त अच्छी आमदनी प्राप्त हो सके।

(४) कर विविध प्रकार के हों। राज्य को किसी विशेष कर पर निर्भर न रहना पड़े। करों की संख्या अधिक होने पर उनका भार अधिक नहीं लगता है।

प्रश्न (८३) कर की परिभाषा कीजिए। प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों के गुण और अवगुणों का वर्णन कीजिए।

(Sagar 49, 56 Raj. 60)

उत्तरः—कर वह धन है जो सरकार जनसाधारण के हित के कार्यों का व्यय चलाने के लिए अनिवार्य रूप से वसूल करती है। डाल्टन के अनुसार "कर किसी सार्वजनिक संस्था द्वारा लगाया हुआ एक अनिवार्य अंशदान है। चाहे कर देने वाले को बदले में निश्चित मात्रा से सेवाएं प्राप्त न हों और न यह किसी कानूनी अपराध की सजा के रूप में लगाया जाता है।"

प्रत्यक्ष कर उस कर को कहते हैं जिसका दबाव (**Impact**) तथा उसका अन्तिम भार (**Incidence**) एक ही व्यक्ति पर पड़ता हो। दूसरे शब्दों में करदाता अपने करभार को किसी अन्य व्यक्ति पर नहीं टालने पाता है। उदाहरण के लिएः—आय कर, भूमि कर।

अप्रत्यक्ष कर उसे कहते हैं जिसके दबाव और कर भार को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर टाला जा सकता है। इसमें जो व्यक्ति सरकारी खजाने में कर की राशि जमा करता है उस व्यक्ति को मुद्रा का भार सहन नहीं करना पड़ता। बल्कि वह अपने उस भार को दूसरे व्यक्तियों पर टाल देता है।

उदाहरणः—आयात-निर्यात कर, मनोरंजन कर आदि।

प्रत्यक्ष कर के गुणः—१- यह कर योग्यता के सिद्धान्त की संतुष्टि करता है। उस कर को ही न्याययुक्त माना जाता है जिसका भार व्यक्तियों पर समान रूप से पड़ता हो। इस सिद्धान्त के अनुसार कर को इस प्रकार का बनाया जा सकता है ताकि धनिक व्यक्ति को अधिक कर देना पड़े और कम आय वाले को कम कर देना पड़े। इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए कर को प्रगतिशील रखा जाता है।

२. सरकार को किसी कर को लगाते समय इस बात को ध्यान में रखना होता है कि कर वसूली में ही अधिक धन खर्च न हो जाये। यह मितव्ययिता प्रत्यक्ष कर में अधिक से अधिक होती है।

३. प्रत्यक्ष कर में निश्चितता का भी गुण पाया जाता है। कर देने वाले को यह ज्ञात रहता है कि उसे किस समय, कितनी रकम कर के रूप में देनी है। इतना ही नहीं राज्य को भी यह निश्चित रूप से ज्ञात रहता है कि उसे कर से कितनी आय होगी।

४. प्रत्यक्ष कर में पर्याप्त लोचकता होती है। सरकार समयानुसार थोड़ा सा परिवर्तन करके (कर की मात्रा में) अपनी आय में काफी बड़ा परिवर्तन ला सकती है। इतना ही नहीं इस कर में उत्पादकता का गुण भी विद्यमान है। राज्य को इससे काफी आमदनी प्राप्त होती है।

५. इस कर का भार प्रत्यक्ष रूप से उस व्यक्ति पर पड़ता है जिससे उसे यह ज्ञात रहता है कि वह जनसाधारण के हितार्थ अपनी आय का कुछ भाग कर के रूप में सरकार को दे रहा है। इस कारण उसमें नागरिक कर्तव्य का भाव जागृत होता है और राजनैतिक विषयों में विशेष दिलचस्पी लेने लगता है।

प्रत्यक्ष कर के अवगुण:—१. यह कर असुविधाजनक होता है। इससे करदाता को मानसिक ही नहीं बल्कि शारीरिक असुविधा होती है। उसे हिसाब-किताब रखने के साथ-साथ समय-समय पर अधिकारियों के सामने उसे प्रस्तुत करना पड़ता है जिससे उसे काफी असुविधा अनुभव होती है।

२. इस कर से व्यक्ति बच भी सकता है। यह कर एक तरह से मनुष्य की ईमानदारी पर लगाया जाता है। निश्चित आय वाले व्यक्ति से यह कर बिलकुल ठीक मात्रा में वसूल किया जाता है परन्तु व्यापारी वर्ग प्रायः गलत और कम आय दिखा कर उचित कर से भी कम देते हैं। इस तरह से कर में कर की दर भी मनचाही हो सकती है। इसके अलावा यह कर गरीबों पर नहीं लगाया जाता।

अप्रत्यक्ष कर के गुण:—यह कर सुविधाजनक होता है। इसम

यह कर प्रत्यक्ष कर की भांति नागरिकता की भावना को जागृत नहीं करते। इसमें करदाता को करभार का अनुभव नहीं होता। जब कभी मन्दी आती है उस समय अप्रत्यक्ष कर से प्राप्त होने वाली आय में अत्यधिक कमी हो जाती है।

---

३३ संक्षिप्त टिप्पणियां

प्रश्न (८४) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखो:—

(१) परिमित दायित्व कम्पनी (**Limited Liability Company**):—परिमित दायित्व कम्पनी व्यापार-व्यवसाय के लिए निर्मित ऐसी संस्था को कहते हैं जिसके हिस्सेदारों (**Shareholders**) का दायित्व उसके द्वारा खरीदे गए हिस्सों (**Shares**) के मूल्य तक ही सीमित रहता है। इस प्रकार की कम्पनी की स्थापना आजकल इसलिए की जाती है क्योंकि उद्योग में करोड़ों रुपयों की आवश्यकता रहती है जो एक व्यक्ति नहीं पूरी कर सकता। इस प्रकार की कम्पनी छोटे-छोटे मूल्य के हिस्से बेचकर आवश्यक पूंजी एकत्रित करती है। यदि किसी कारणवश कम्पनी फेल हो जाती है और कम्पनी की समस्त सम्पत्ति कर्ज चुकाने के लिए पर्याप्त नहीं रहती तब कम्पनी के कर्जदाता कम्पनी के किसी हिस्सेदार से अधिक से अधिक उसके द्वारा खरीदे हुए हिस्सों का पूर्ण मूल्य वसूल कर सकते हैं।

इस प्रकार के कम्पनी के निर्माण के कारण गरीब व धनी अपनी पूंजी को उत्पादन-कार्य में लगा सकता है। इससे कम्पनी के हिस्सेदारों को जोखिम

वस्तुओं के खरीदते समय किया जाता है, जिसका अनुभव करदाता को नहीं होता क्योंकि वस्तुओं की खरीद की जाने वाली मात्रा प्राय: छोटी होती है।

इस कर से बच निकलना असंभव है। इस कारण स्पष्ट है कि यह वस्तु बेचने वाले को खरीदते समय देना पड़ता है।

इस प्रकार कर से कोई भी नागरिक कर दिए बिना नहीं रह सकता। दि इस कर को अनिवार्यताओं पर लगाया जाये तो यह बहुत लोचदार हो सकता है। दियासलाई पर यदि इसे लगाया जाय तो आय अधिक होगी क्योंकि वह एक ऐसी वस्तु है जिसका प्रयोग सब व्यक्ति अनिवार्य रूप से करते हैं।

शराब तथा मादक और विलासिता की वस्तुओं पर कर लगा कर उनके प्रयोग को कम किया जा सकता है और इस तरह समाज को उनके हानिकारक प्रभाव से बचाया जा सकता है।

अप्रत्यक्ष कर के अवगुण:—यह कर न्याययुक्त नहीं है। यह कर क्योंकि वस्तु को खरीदते समय अप्रत्यक्ष रूप से दिया जाता है, इस कारण उसका भार धनी और निर्धन वर्ग पर समान रूप से नहीं पड़ता है। प्रायः कर भार धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर अधिक पड़ता है।

यह कर समानता के सिद्धान्त की अवहेलना करता है। यह कर प्राय: अनिवार्यताओं पर अधिक लगाया जाता है। निर्धन व्यक्ति भी अनिवार्यताओं के प्रयोग किए बिना नहीं रह सकता तथा वह अपनी आय का अधिकांश भाग अनिवार्यताओं पर व्यय करता है इस कारण वह धनिक की अपेक्षा अधिक कर देते हैं। इस प्रकार यह प्रतिगामी है।

यह कर अनिश्चित होते हैं। कर लगाने पर वस्तु का मूल्य बढ जाने पर उसकी मांग कम हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप आय भी कम होती है। इसके अलावा उसके वसूल होने का समय सदैव ही अनिश्चित रहता है। अप्रत्यक्ष कर को वसूल करने में काफी खर्च करना पड़ता है। व्यापारी वर्ग आयात कर से बचने का प्रयत्न करते हैं जिसकी रोकथाम के लिए सरकार को काफी संख्या में अधिकारियों को नियुक्त करना पड़ता है। इससे सरकारी आय में कमी होती है।

यह कर प्रत्यक्ष कर की भांति नागरिकता की भावना को जाग्रत नहीं करते। इसमें करदाता को करभार का अनुभव नहीं होता। जब कभी मन्दी आती है उस समय अप्रत्यक्ष कर से प्राप्त होने वाली आय में अत्यधिक कमी हो जाती है।

---

३३ संक्षिप्त टिप्पणियां

प्रश्न (८४) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखो:—

(१) परिमित दायित्व कम्पनी (**Limited Liability Company**):—परिमित दायित्व कम्पनी व्यापार-व्यवसाय के लिए निर्मित ऐसी संस्था को कहते हैं जिसके हिस्सेदारों (**Shareholders**) का दायित्व उसके द्वारा खरीदे गए हिस्सों (**Shares**) के मूल्य तक ही सीमित रहता है। इस प्रकार की कम्पनी की स्थापना आजकल इसलिए की जाती है क्योंकि उद्योग में करोड़ो रुपयों की आवश्यकता रहती है जो एक व्यक्ति नहीं पूरा कर सकता। इस प्रकार की कम्पनी छोटे-छोटे मूल्य के हिस्से बेचकर आवश्यक पूंजी एकत्रित करती है। यदि किसी कारणवश कम्पनी फेल हो जाती है और कम्पनी की समस्त सम्पत्ति कर्ज चुकाने के लिए पर्याप्त नहीं रहती तब कम्पनी के कर्जदाता कम्पनी के किसी हिस्सेदार से अधिक से अधिक उसके द्वारा खरीदे हुए हिस्सों का पूर्ण मूल्य वसूल कर सकते हैं।

इस प्रकार के कम्पनी के निर्माण के कारण गरीब व धनी अपनी पूंजी को उत्पादन-कार्य में लगा सकता है। इसमे कम्पनी के हिस्सेदारों को जोखिम

कम उठानी पड़ती है। ऐसे व्यक्ति जो स्वयं जोखिम उठाने के अयोग्य होते हैं और अपनी पूंजी को उत्पादक कार्य में लगाने के लिए इच्छुक हैं, वह ऐसी कम्पनी के हिस्से खरीद कर अक्रिय-मालिक बन जाते हैं।

इन कम्पनियो में कई दोष भी होते हैं। अधिकतर हिस्सेदार अक्रिय होने के कारण कम्पनी का सारा कार्य **Directors** के द्वारा किया जाता है जो मनमाने ढंग से व्यय करते हैं। इनके कारण देश में सट्टे की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। कम्पनी के मालिक एवं श्रमिकों के मध्य सम्पर्क नहीं रहता है। **Directors** कम्पनी में उच्च पद अपने सगे सम्बन्धियों तथा जान-पहिचान के व्यक्तियों को ही देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कार्य-क्षमता में कमी आ जाती है।

(२) द्विधातु चलन (**Bimetallism**):—द्विधातु चलन उसे कहते हैं जब किसी देश में दो धातुओं के सिक्के पृथक्-पृथक् प्रमाणित द्रव्य के रूप में चलते रहते हैं। यह धातुएं प्रायः सोने चांदी की होती हैं। दोनों धातुओं के सिक्कों के लिए स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई होती है और दोनो ही धातुओं के सिक्के एक ही प्रकार के बनाए जाते है। यह दोनों अपरिमित कानूनी-ग्राह्य होते हैं और विनिमय के माध्यम और मूल्य-मापक का कार्य करते हैं।

इस पद्धति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें वस्तुओं के मूल्य के साथ द्रव्य का मूल्य स्थिर तथा स्थायी रहता है। सिक्के के लिए दो धातुओं का प्रयोग किए जाने के कारण देश में सिक्कों की मात्रा पर्याप्त रहती है। विदेशी व्यापार को भी काफी प्रोत्साहन मिलता है।

इन धातुओं के मूल्य में समय समय पर परिवर्तन होने के कारण उनमें आपसी मूल्य के अनुपात को स्थापित करना सरल नहीं रहता। चांदी की पूर्ति अधिक हो जाने पर उसका मूल्य कम हो जाता है, तब ऐसी अवस्था में एक सोने के सिक्के के बदले में पहले से अधिक मात्रा में चांदी के सिक्के उपलब्ध होने लगते हैं। अब लेनदार अपने भुगतान में अच्छी मुद्रा को ही प्राप्त करना चाहते हैं और देनदार घटिया मुद्रा में भुगतान करना चाहते हैं। संक्षेप में ग्रेशम का नियम कार्य करने लगता है।

सन् १८७३–७४ के बाद इस पद्धति के होने वाले बुरे परिणामों के कारण विश्व के सभी देशों ने उसका परित्याग कर दिया है।

(३) परिवर्तनीय कागजी मुद्रा (**Convertible Paper Money**):—यह वह कागजी मुद्रा है जिस पर नोट जारी करने वाली संस्था ने यह वचन दे रखा है कि मांग किए जाने पर वह उसे सोने या चांदी में परिवर्तित कर देगी। इस वचन के कारण उसमें साधारण जनता का विश्वास बना रहता है।

कागजी मुद्रा के परिवर्तन के हेतु कुछ निश्चित मात्रा में सोना-चांदी रखा जाता है जो रक्षित-कोष कहलाता है। यह कोष सब देशों में एक समान नहीं रहता है।

इस मुद्रा-प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि नोटों को धातु में परिवर्तित करवाने की सुविधा के कारण साधारण जनता का उसमें विश्वास बना रहता है। धातु घिसने से बच जाती है। इस प्रथा में मुद्रा-प्रसार का अधिक भय न होने के कारण देश में वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्य लगभग स्थिर रहता है।

(४) मुद्रा-प्रसार (**Inflation**):—प्रत्येक देश में वहां की व्यापारिक-औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुसार ही मुद्रा का चलन किया जाता है। जब किसी देश में मुद्रा की पूर्ति वहां की मांग की अपेक्षा अधिक हो जाती है तब उस अवस्था में मुद्रा की क्रय-शक्ति (**Purchasing Power**) कम हो जाती है और वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाती है। इसे मुद्रा-प्रसार कहते हैं।

प्रायः मुद्रा-प्रसार की स्थिति युद्ध काल में उत्पन्न होती है। परन्तु कई बार यह उस समय भी उत्पन्न होती है जब सरकार अपनी योजनाओं को पूर्ण करने के हेतु अत्यधिक मात्रा में नोटों का प्रचलन कर देती है। इस तरीके को अपनाने पर वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण सरकार को फिर और अधिक मात्रा में नोटों को छपवाने की आवश्यकता

पड़ती है। यह चक्र बराबर चलता रहता है और इसके कारण अत्यधिक मुद्रा-प्रसार की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

(५) **Bill of Exchange:**—यह एक लिखित आज्ञा होती है जिसमें उसे लिखने वाले द्वारा जो लेनदार होता है अन्य व्यक्ति को जो उसका देनदार है यह आज्ञा दी जाती है कि बिना किसी शर्त के तीसरे व्यक्ति को या उसे जिसके लिए वह आदेश देता है—उसको बिल में व्यक्त की गई रकम उस बिल को प्रस्तुत किए जाने पर या उसमें लिखित समय पर दे दे।

बिल आफ एक्सचेंज में तीन पक्ष होते हैं:—

(१) बिल को लिखने वाला (जारी करने वाला) **(Drawer)**

(२) जिसके पक्ष में जारी किया जाता है या जिसे बिल की रकम मिलेगी **(Payee)**

(३) जिस पर बिल जारी किया जाता है। **(Drawee)**

यह बिल दो प्रकार के हैं:—

(१) दर्शनी बिल (२) मुद्दती बिल।

प्रथम में बिल प्रस्तुत करते ही उसमें लिखी गई रकम प्राप्त हो जाती है और दूसरे में लिखित रकम निश्चित अवधि के बाद ही प्राप्त हो सकती है।

बिल आफ एक्सचेंज और चेक में बहुत बड़ा अन्तर है। चेक किसी बैंक पर ही जारी किया जा सकता है जबकि बिल किसी भी संस्था या व्यक्ति पर जारी किया जा सकता है और अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में प्रयोग में आता है।

अर्थशास्त्र दिग्दर्शन

भाग २

(भारतीय अर्थशास्त्र)

भारत का तृतीय पंचवर्षीय योजना,

हर विषय के अन्तिम आंकडे

एवम्

राजस्थान के आर्थिक विकास सहित

१ भौगोलिक विभाजन

Q. 1. भारत के विभिन्न भौगोलिक खण्डों का संक्षेप में वर्णन करो। भारत के विभिन्न भौगोलिक खण्डों का व्यापार और उत्पादन कहां तक भौगोलिक कारणों से प्रभावित होता है। (Raj. 54-56)

Ans. भारत के उत्तर में हिमालय तथा तीन ओर समुद्र हैं। बंगाल की खाड़ी और अरब सागर के बीच में यह दक्षिण की ओर हिन्द महासागर में चला गया है। कुमारी अन्तरीप इसके दक्षिणतम अंश (८°५'३) पर स्थित है। भारत का क्षेत्रफल जम्मू और काश्मीर सहित १२,५९,७९७ वर्ग मील है। भारतवर्ष का क्षेत्रफल की दृष्टि से संसार के अन्य देशों में सातवां स्थान है। आकार में वह इंगलैंड से १० गुना तथा जापान से ८ गुना बड़ा है।

भौगोलिक दृष्टि से इस भूखण्ड को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) हिमालय का पर्वतीय क्षेत्र :—भारत के उत्तर में हिमालय की शृंखलाएं लगभग १५०० मील तक फैली हुई हैं। यह काश्मीर के उत्तर में सिन्ध नदीसे पूर्वी आसाममें ब्रह्मपुत्र तक फैली हुई हैं और भारतको एशियाके अन्य भागों से पृथक करती हैं। भारत की अर्थ व्यवस्था, जलवायु तथा उसके एकाकी-पन को हिमालय ने अत्यधिक प्रभावित किया है। वह अरब सागर की ओर से आने वाले मानसूनी हवाओं को रोकता है जिसके कारण भारत में वर्षा होती है। इस वर्षा पर हमारे देश की कृषि निर्भर है। वह उत्तर की ओर से आने वाली ठंडी और सुखी हवाओं से हमारी रक्षा करता है। वह देश को कई महत्वपूर्ण नदियां प्रदान करता है। उसकी ऊंची चोटियों पर सदा बर्फ जमी रहती है जो पिघल कर गंगा, जमुना, सिन्ध आदि नदियों को सिंचाई के लिए पानी देता है। इन नदियों में सदैव पानी बहता रहने के कारण सिंचाई, नौ-वाहन और जल-शक्ति पैदा करना संभव है। इसके ढालों पर स्थित वन बाढ़ से रक्षा करते है। इन वनों में अनेक प्रकार की मूल्यवान लकड़ियां तथा कच्चा माल प्राप्त होता है। इनकी घाटियों में अनेक प्रकार के फल आदि उत्पन्न होते हैं। मूल्यवान खनिज पदार्थ भी उपलब्ध होते हैं जो उद्योग धन्धों को चलाने में सहायक हैं। इनके कारण देश को भिन्न २ प्रकार की जलवायु उपलब्ध हो जाती

है जिसमें करीब २ सभी प्रकार के अनाज तथा अन्य पदार्थ उत्पन्न हो सकते हैं। इस पर्वतीय क्षेत्र में तरह २ के जंगली जानवर मिलते हैं जो कई प्रकार से हमारे काम में आते हैं। इस क्षेत्र में अनेक सुन्दर प्राकृतिक दृश्य और स्वास्थ्य-वर्धक स्थान पाए जाते हैं। इस कारण वहां पर होटल उद्योग को प्रोत्साहन मिला है। यह पर्वतीय शाखाएँ हमारे देश की आक्रमणों से रक्षा करती हैं और शान्ति तथा सुव्यवस्था को बनाए रखने में सहायक हैं जो आर्थिक उन्नति के ए नितान्त आवश्यक है।

(२) गंगा-सिन्धु का मैदान :–सिन्धु, गंगा ब्रह्मपुत्र अपनी सहायक नदियों के साथ हिमालय से निकलती हैं। यह नदियां अपने बहाव में उपजाऊ मिट्टी लाती हैं और उनसे जो सिन्धु गंगा का मैदान बना है वह अत्यन्त उपजाऊ तथा विश्व के खेती–योग्य समतल भू-भागों में से एक है। इस मैदान की कुल लम्बाई २००० मील तथा चौड़ाई लगभग २०० मील है। इस मैदान की मिट्टी अत्यधिक उपजाऊ होने के कारण तथा सिंचाई के साधन उपलब्ध होने के फलस्वरूप यहां पर सभी प्रकार के खाद्य पदार्थ उत्पन्न किए जाते हैं। यह मैदान समतल होने के कारण यहां पर यातायात और संदेश वाहन के साधनों का काफी विकास हुआ है। नदियों में साल भर तक पानी बहता रहने के परिणामस्वरूप नौ–वाहन का भी विकास हुआ है। जल-विद्युत भी उत्पन्न की जाती है। इस क्षेत्र ने अपनी विशेषताओं के कारण आर्थिक क्षेत्र में काफी उन्नति की है। यहां पर जनसंख्या का घनत्व अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक है।

(३) दक्षिणी पठार :–यह भाग दक्षिण भारत में स्थित है। इसका आकार त्रिभुज की भांति है। समुद्र की सतह से इसकी ऊंचाई लगभग २००० फीट है। इस पठार में प्रमुख अरावली, विन्ध्य, सतपुड़ा, मेकाल और अजन्ता की श्रेणियां हैं। यहां वर्षा कम होती है और अनेक प्रकार की भूमि पाई जाती है। यहां की प्रमुख नदियां नर्बदा, ताप्ती, महानदी, गोदावरी तथा कावेरी हैं।

कृषि की दृष्टि से यह प्रदेश अधिक महत्वपूर्ण नहीं है परन्तु लावा वाला भाग कपास की फसल के लिए अत्यधिक उपयुक्त है। इस प्रदेश में बहुमूल्य खनिज पदार्थों की खानें पाई जाती हैं जैसे कोलर में सोना, गोदावरी की घाटी में लोहा, कोयला, मैंगनीज आदि। जल विद्युत के विकास के लिए उपयुक्त है। पर्वतीय श्रेणियों में वन पाए जाते हैं जहां से बहुमूल्य लकड़ी जैसे चन्दन आदि प्राप्त होती है। प्राकृतिक अवस्था के अनुकूल न होने के कारण इस प्रदेश का उत्तर के

गंगा सिन्ध के मैदानों की तुलना में कम आर्थिक विकास हो पाया है।

(४) समुद्रतटीय मैदान:—दक्षिणी पठार के दोनों ओर पूर्वी तथा पश्चिमी घाटों तथा समुद्र तट के मध्य में उपजाऊ समतल मैदान स्थित है। पूर्वीय तट को कारोमण्डल तट तथा पश्चिमी तट को मालाबार तट कहते हैं। पूर्वी मैदान पश्चिमी मैदान से अधिक चौड़ा है। इसमें कृष्णा, कावेरी आदि नदियां बहती हैं। पश्चिमी मैदान की नदियां छोटी और तेज बहने वाली हैं। पश्चिमी तट में रेतीली तथा दोमट मिट्टी पाई जाती है। वर्षा भी अधिक होती है। चावल तथा मसालों की खेती होती है। नारियल भी होते हैं। इन भागों में दक्षिण भारत के प्रमुख नगर स्थित हैं। इनके तटों पर ही भारत के अधिकांश बन्दरगाह स्थित है।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि भारत के विभिन्न भौगोलिक खण्डों की अपनी अलग २ विशेषताएं हैं और आर्थिक महत्व भी। गंगा सिन्ध का मैदान, उपजाऊ होने के कारण, वर्षा पर्याप्त होने के कारण तथा सिंचाई के साधन की उपलब्धि के कारण कृषि वहां का मुख्य व्यवसाय है। खनिज पदार्थ अधिकतर बिहार में पाए जाते हैं। इस कारण वहां पर उद्योग स्थापित हो गए हैं जैसे जमशेदपुर का लोहे का कारखाना। हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में जहां पर वर्षा भी पर्याप्त होती है देश के अधिकतर चाय के बगीचे मौजूद हैं। समुद्रतटीय मैदान में चावल, नारियल आदि काफी होते हैं। समुद्र निकट होने के कारण मछली पकड़ना वहां के निवासियों का मुख्य व्यवसाय है।

Q. 2. भारतवर्ष की भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का देश की आर्थिक उन्नति पर क्या प्रभाव पड़ता है?

Ans. किसी देश विशेष के आर्थिक विकास पर वहां की प्राकृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ता है। देश की प्राकृतिक दशा, मिट्टी, जलवायु, वनस्पति, खनिज पदार्थ तथा उसकी भूमि की बनावट इत्यादि उसके आर्थिक उन्नति पर प्रभाव डालते हैं। यदि किसी देश विशेष में पर्याप्त मात्रा में खनिज पदार्थ उपलब्ध हैं तथा वहाँ की जलवायु भी अच्छी है तो उसकी आर्थिक सम्पन्नता उस देश की अपेक्षाकृत अधिक होगी जहाँ उसका अभाव है।

भारत में गंगा सिन्ध के मैदान में सबसे अधिक कृषि पर सब प्रकार के खाद्य पदार्थ तथा अन्य सारी फसलें उत्पन्न

इसका कारण यह है कि वहाँ की भूमि उपजाऊ है, वर्षा ठीक मात्रा में होती है तथा सिंचाई के साधन उपलब्ध हैं। समतल होने के कारण यातायात और संदेशवाहन के साधनों का काफी विकास हुआ है। जनसंख्या का घनत्व अधिक है। इसके विपरीत दक्षिण पठार आर्थिक दृष्टि से काफी पिछड़ा हुआ है।

जलवायु का भी आर्थिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। जिस स्थान पर पर्याप्त वर्षा होती है वहाँ पर कृषि भी उन्नत अवस्था में होगी। बंगाल, बिहार में खूब वर्षा होते कारण वहाँ पर हर प्रकार की फसलें आसानी से उत्पन्न की जाती हैं परन्तु राजस्थान में वर्षा की कमी के कारण ऐसा करना संभव नहीं है। जलवायु यह भी निश्चित करती है कि किस प्रदेश में किस प्रकार की फसल पैदा होगी। बंगाल में अधिक वर्षा होने के कारण वहाँ चावल तथा जूट की पैदावार की जाती है। पंजाब में गेहूं अधिक पैदा किया जाता है। नीलगिरि आदि प्रदेशों में चाय की पैदावार पर्वतीय होती है।

इतना ही नहीं जलवायु का प्रभाव मनुष्य की कार्यक्षमता पर भी पड़ता है। जलवायु पर कई उद्योगों का विकास निर्भर करता है। भारत में बम्बई तथा अहमदाबाद में कई सूती कपड़े की मिलें हैं क्योंकि उन स्थानों में इसके उपयुक्त नम जलवायु प्राप्त होता है।

किसी देश की प्राकृतिक वनस्पति वहाँ की प्राकृतिक बनावट और जलवायु द्वारा निर्धारित होती है। जिन स्थानों पर वर्षा अधिक होती है, उन्हीं स्थानों पर वनस्पति अधिक पाई जाती है। वन भी वहाँ पर पाए जाते हैं जिनसे कई महत्वपूर्ण सामग्री की प्राप्ति होती है जैसे बांस, कत्था, लाख, चन्दन, लकड़ी जड़ी बूटी आदि। इन वस्तुओं के कारण कई उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है।

किस स्थान पर किस प्रकार के पशु पालन को अपनाया जायेगा इसका निश्चय भी उस स्थान की जलवायु करती है। भेड़, बकरियां कम घास वाले क्षेत्रों में पाली जाती हैं। राजस्थान में भेड़ पालना मुख्य व्यवसाय होने का कारण यही है कि यहां पर घास पर्याप्त मात्रा में नहीं पाई जाती। राजस्थान स्वयं देश की बहुत बड़ी आवश्यकता को काफी हद तक पूरा करता है। पंजाब और काश्मीर में भी भेड़ें काफी पाली जाती हैं। इस कारण वहां पर कई ऊनी कपड़े के कारखाने हैं (लुधियाना, धारीवाल,) उत्तर प्रदेश और मध्य-प्रदेश में गाय, बैल आदि जानवर पाले जाते हैं। इस कारण कानपुर, आगरा आदि स्थानों में चमड़े का उद्योग खूब विकसित अवस्था में है।

खनिज पदार्थों का देश के आर्थिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। जिस देश में लोहा, कोयला तथा अन्य खनिज पदार्थ काफी मात्रा में प्राप्त होते है, वहां पर बड़े कल-कारखाने स्थापित हो जाते हैं। इंगलैंड तथा अमेरिका की आर्थिक सम्पन्नता का रहस्य यही है। बंगाल-बिहार (जमशेदपुर) में कई बड़े कल-कारखानों के स्थापित होने का कारण यह है कि वहां पर लोहा और कोयला काफी मात्रा में प्राप्त होता है।

सामाजिक परिस्थितियां :—सामाजिक परिस्थितियां देश के आर्थिक विकास को प्रभावित करने में एक महत्वपूर्ण योग देती हैं।

भारतीयों पर धर्म का विशेष प्रभाव है। वे भौतिक उन्नति की अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति की ओर विशेष रूप से ध्यान देते है। वह भाग्यवादी हैं। अतः अपनी उन्नति का विशेष प्रयत्न भी नहीं करते। वे सादा जीवन और उच्च विचार में विश्वास रखते हैं।

भारत में जाति प्रथा अपना एक विशेष महत्व रखती है। इस प्रथा ने कई प्रकार से सहायता भी दी है। इससे शिल्पों के विकास और पेशों के विशिष्टीकरण (Specialiazation) में और निपुणता में सहायता प्राप्त हुई है। इस प्रथा ने उन्नति के मार्ग में कई बाधाएं भी उत्पन्न की हैं। कालान्तर में जाति प्रथा में जटिलता आ गई। इस प्रथा ने समाज में धन तथा श्रम के असमान वितरण को प्रोत्साहन दिया।

भारत की एक अन्य विशेषता है—संयुक्त परिवार प्रणाली। इस प्रणाली के कारण भूमि का उप विभाजन और अपखण्डन नहीं हो पाया था। परन्तु इसकी कुछ हानियां भी हैं। एक साथ रहने के कारण परिवार के कुछ सदस्यों को अधिक काम करना पड़ता है और कुछ बिलकुल आलसी बन जाते हैं।

उत्तराधिकार के नियम के कारण एक पिता की सारी सम्पत्ति उसके पुत्रों में विभाजित कर दी जाती है। इस नियम के कारण भूमि का उपविभाजन और अपखण्डन हुआ है। भूमि की जोत आर्थिक दृष्टि से काफी सूक्ष्म होगई है।

उनके रीति-रिवाजों ने भी आर्थिक उन्नति पर विपरीत प्रभाव डाला है। मृत्यु-भोज, दहेज-प्रथा, विवाह-भोज आदि में काफी खर्च कर दिया जाता है और इस प्रकार अनुत्पादक कार्यों पर काफी रुपया खर्च करने के कारण उत्पादक कार्यों के लिए पर्याप्त पूंजी प्राप्त नहीं हो पाती है। इस प्रकार के

व्यर्थ व्यय से जीवन स्तर भी निम्न स्तर का बन जाता है जिसका विपरीत प्रभाव कार्य क्षमता पर पड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल भौगोलिक वलिक सामाजिक परिस्थितियों का देश की आर्थिक उन्नति पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

२ मानसून

Q. 3. मानसून किसे कहते हैं? यह कैसे उठती है? भारत में मानसून के आर्थिक प्रभाव का वर्णन कीजिए।

(Raj. 53, 55, Ajmer 47)

Ans. मानसून शब्द अरबी भाषा के शब्द मोसिम Mausim से निकला है और उसका अर्थ होता है—"वर्षा लाने वाली हवा।" भारत एक मानसूनी देश है। वह पूरे वर्ष तक मानसूनी हवाओं प्रभावित रहता है। मानसून उन हवाओं को कहते हैं जो गर्मी में दक्षिण पश्चिम से और सर्दी में उत्तर-पूर्व की ओर से आती है तथा वर्षा करती हैं।

भारतवर्ष के अधिकतर भागों में वर्षा जून से अक्टूबर तक दक्षिण-पश्चिमी हवाओं से होती है। इस काल में जब सूर्य कर्क रेखा पर होता है तो उसकी स्थिति के कारण भूमि पर की हवा गर्म हो जाती है और हल्की होने के कारण वह ऊपर की ओर उठती है। इसी समय दक्षिणी समुद्रों पर सूर्य के दूर हो जाने के फलस्वरूप वहां तापक्रम कम रहता है जिसके फलस्वरूप वहां की हवा का दवाव बढ़ जाता है। हवा सदैव घने दवाव के स्थान से कम दवाव के क्षेत्र की ओर जाती है। इस कारण हवाओं का दक्षिणी समुद्र की ओर से भारतीय भूमि की ओर बहना प्रारम्भ हो जाता है। यह हवाएं समुद्र पर से चलती है अतः उनमें पर्याप्त मात्रा में नमी रहती है। जब यह नम हवाएं उत्तरी पहाड़ों से टकराती हैं और पश्चिम की ओर मुड़ जाती हैं तब भारी वर्षा करती जाती हैं। क्योंकि यह मानसूनी हवाएं ग्रीष्मकाल में बहती हैं इस कारण उसे ग्रीष्मकालीन मानसून भी कहते हैं।

इसकी दो शाखाएं हैं :—

१. अरब सागर वाली शाखा:—यह दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर से प्रवाहित होकर पश्चिमी घाट पर्वत श्रेणियों से टकराती है जिसके कारण

पश्चिमी तटीय मैदान और पहाड़ी ढालों पर काफी वर्षा होती है। पश्चिमी घाट को पार करने के बाद उनमें नमी काफी कम रह जाती है। इस कारण पश्चिमी घाट के पूर्वी ढाल तथा दक्षिणी पठार पर कम वर्षा होती है और वह प्रायः शुष्क रह जाता है।

इस मानसून की एक शाखा नर्वदा-ताप्ती की घाटियों में प्रवेश कर मध्य प्रदेश में वर्षा करती है। दूसरी शाखा कच्छ, काठियावाड़, राजस्थान पर से होकर गुजरती है परन्तु इसके मार्ग में कोई ऊंचा पर्वत न आने के कारण वह इन स्थानों पर बिना वर्षा किए ही पास हो जाती है और हिमालय तक पहुँच जाती है।

२. बंगाल की खाड़ी वाली शाखाः—ग्रीष्मकालीन मानसून की बंगाल की खाड़ी वाली शाखा उत्तर की ओर जाने का प्रयत्न करती है, परन्तु मार्ग में वह हिमालय की ऊंची श्रेणियों से टकराती है जिससे वहाँ भारी वर्षा होती है। चेरापूंजी में तो लगभग ४६०" वर्षा होती है। हिमालय से टकराने के पश्चात् इसका रुख पश्चिम की ओर हो जाता है और वह बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में पर्याप्त वर्षा करती है। जैसे २ वह आगे चलती है वैसे २ उसमें नमी कम होती जाती है। वह अपने मार्ग में अरब वाली शाखा में मिल जाती है और उत्तर-प्रदेश और पंजाब में साधारण सी वर्षा करती है।

शीतकालीन मानसूनः—भारत में ९०% वर्षा ग्रीष्मकालीन मानसूनी हवाओं द्वारा होती है। केवल १०% वर्षा जाड़ों में होती है। यह मानसून अक्टूबर में चलता है। दिसम्बर के अन्त तक यह समुद्र को पार करता है तब वह कुछ नमी प्राप्त कर लेता है। जब वे हवाएं मद्रास तट पर पूर्वी घाट पर्वतों से टकराती हैं तो कुछ वर्षा होती है। भारत में प्रायः शीतकालीन मानसून द्वारा वर्षा केवल मद्रास तट को ही प्राप्त होती है परन्तु कभी कभी किसी वर्ष मध्य प्रदेश, बरार, में भी इससे कुछ वर्षा हो जाती है।

मानसून का आर्थिक प्रभावः—भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है और इस कारण वर्षा का देश की आर्थिक स्थिति से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। देश में वर्षा का वितरण एक समान नहीं है। किसी २ स्थान पर अत्यधिक वर्षा होती है जैसे चेरापूंजी और किसी स्थान पर बिल्कुल ही कम जैसे राजस्थान का जैसलमेर क्षेत्र। इस कारण जहाँ वर्षा पर्याप्त होती है वहां कृषि र जाती है और वर्षा के अभाव वाले स्थान बंजर पड़े रहते हैं।

व्यर्थ व्यय से जीवन स्तर भी निम्न स्तर का बन जाता है जिसका विपरीत प्रभाव कार्य क्षमता पर पड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल भौगोलिक बल्कि सामाजिक परिस्थितियों का देश की आर्थिक उन्नति पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

२ मानसून

Q. 3. मानसून किसे कहते हैं ? यह कैसे उठती है ? भारत में मानसून के आर्थिक प्रभाव का वर्णन कीजिए।

(Raj. 53, 55, Ajmer 47)

Ans. मानसून शब्द अरबी भाषा के शब्द मौसिम Mausim से निकला है और उसका अर्थ होता है—"वर्षा लाने वाली हवा।" भारत एक मानसूनी देश है। वह पूरे वर्ष तक मानसूनी हवाओं से प्रभावित रहता है। मानसून उन हवाओं को कहते हैं जो गर्मी में दक्षिण पश्चिम से और सर्दी में उत्तर-पूर्व की ओर से आती है तथा वर्षा करती हैं।

भारतवर्ष के अधिकतर भागों में वर्षा जून से अक्टूबर तक दक्षिण-पश्चिमी हवाओं से होती है। इस काल में जब सूर्य कर्क रेखा पर होता है तो उसकी स्थिति के कारण भूमि पर की हवा गर्म हो जाती है और हल्की होने के कारण वह ऊपर की ओर उठती है। इसी समय दक्षिणी समुद्रों पर सूर्य के दूर हो जाने के फलस्वरूप वहां तापक्रम कम रहता है जिसके फलस्वरूप वहां की हवा का दबाव बढ़ जाता है। हवा सदैव घने दबाव के स्थान से कम दबाव के क्षेत्र की ओर जाती है। इस कारण हवाओं का दक्षिणी समुद्र की ओर से भारतीय भूमि की ओर बहना प्रारम्भ हो जाता है। यह हवाएं समुद्र पर से चलती है अतः उनमें पर्याप्त मात्रा में नमी रहती है। जब यह नम हवाएं उत्तरी पहाड़ों से टकराती हैं और पश्चिम की ओर मुड़ जाती हैं तब भारी वर्षा करती जाती हैं। क्योंकि यह मानसूनी हवाएं ग्रीष्मकाल में बहती हैं इस कारण उसे ग्रीष्मकालीन मानसून भी कहते हैं।

इसकी दो शाखाएं हैं :—

१. अरब सागर वाली शाखा:—यह दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर से प्रवाहित होकर पश्चिमी घाट पर्वत श्रेणियों से टकराती है जिसके कारण

पश्चिमी तटीय मैदान और पहाड़ी ढालों पर काफी वर्षा होती है। पश्चिमी घाट को पार करने के बाद उनमें नमी काफी कम रह जाती है। इस कारण पश्चिमी घाट के पूर्वी ढाल तथा दक्षिणी पठार पर कम वर्षा होती है और वह प्रायः शुष्क रह जाता है।

इस मानसून की एक शाखा नर्वदा-ताप्ती की घाटियों में प्रवेश कर मध्य प्रदेश में वर्षा करती है। दूसरी शाखा कच्छ, काठियावाड़, राजस्थान पर से होकर गुजरती है परन्तु इसके मार्ग में कोई ऊंचा पर्वत न आने के कारण वह इन स्थानों पर बिना वर्षा किए ही पास हो जाती है और हिमालय तक पहुँच जाती है।

२. बंगाल की खाड़ी वाली शाखाः ग्रीष्मकालीन मानसून की बंगाल की खाड़ी वाली शाखा उत्तर की ओर जाने का प्रयत्न करती है, परन्तु मार्ग में वह हिमालय की ऊंची श्रेणियों से टकराती है जिससे वहाँ भारी वर्षा होती है। चेरापूंजी में तो लगभग ४६०'' वर्षा होती है। हिमालय से टकराने के पश्चात् इसका रुख पश्चिम की ओर हो जाता है और वह बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में पर्याप्त वर्षा करती है। जैसे २ वह आगे चलती है वैसे २ उसमे नमी कम होती जाती है। वह अपने मार्ग में अरब वाली शाखा में मिल जाती है और उत्तर-प्रदेश और पंजाब में साधारण सी वर्षा करती है।

शीतकालीन मानसूनः—भारत में ९०% वर्षा ग्रीष्मकालीन मानसूनी हवाओं द्वारा होती है। केवल १०% वर्षा जाड़ों में होती है। यह मानसून अक्टूबर से चलता है। दिसम्बर के अन्त तक यह समुद्र को पार करता है तब वह कुछ नमी प्राप्त कर लेता है। जब ये हवाऐं मद्रास तट पर पूर्वी घाट पर्वतों से टकराती हैं तो कुछ वर्षा होती है। भारत में प्रायः शीतकालीन मानसून द्वारा वर्षा केवल मद्रास तट को ही प्राप्त होती है परन्तु कभी कभी किसी वर्ष मध्य प्रदेश, बरार, में भी इससे कुछ वर्षा हो जाती है।

मानसून का आर्थिक प्रभावः—भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है और इस कारण वर्षा का देश की आर्थिक स्थिति से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। देश में वर्षा का वितरण एक समान नहीं है। किसी २ स्थान पर अत्यधिक वर्षा होती है जैसे चेरापूंजी और किसी स्थान पर बिल्कुल ही कम जैसे राजस्थान का जैसलमेर क्षेत्र। इस कारण जहां वर्षा पर्याप्त होती है वहां कृषि खूब हो जाती है और वर्षा के अभाव वाले स्थान बंजर पड़े रहते हैं।

व्यर्थ व्यय से जीवन स्तर भी निम्न स्तर का बन जाता है जिसका विपरीत प्रभाव कार्य क्षमता पर पड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल भौगोलिक बल्कि सामाजिक परिस्थितियों का देश की आर्थिक उन्नति पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

२ मानसून

Q. 3. मानसून किसे कहते हैं? यह कैसे उठती है? भारत में मानसून के आर्थिक प्रभाव का वर्णन कीजिए।

(Raj. 53, 55, Ajmer 47)

Ans. मानसून शब्द अरबी भाषा के शब्द मोसिम Mausim से निकला है और उसका अर्थ होता है—"वर्षा लाने वाली हवा।" भारत एक मानसूनी देश है। वह पूरे वर्ष तक मानसूनी हवाओं प्रभावित रहता है। मानसून उन हवाओं को कहते हैं जो गर्मी में दक्षिण पश्चिम से और सर्दी में उत्तर-पूर्व की ओर से आती है तथा वर्षा करती हैं।

भारतवर्ष के अधिकतर भागों में वर्षा जून से अक्टूबर तक दक्षिण-पश्चिमी हवाओं से होती है। इस काल में जब सूर्य कर्क रेखा पर होता है तो उसकी स्थिति के कारण भूमि पर की हवा गर्म हो जाती है और हल्की होने के कारण वह ऊपर की ओर उठती है। इसी समय दक्षिणी समुद्रों पर सूर्य के दूर हो जाने के फलस्वरूप वहां तापक्रम कम रहता है जिसके फलस्वरूप वहां की हवा का दबाव बढ़ जाता है। हवा सदैव घने दबाव के स्थान से कम दबाव के क्षेत्र की ओर जाती है। इस कारण हवाओं का दक्षिणी समुद्र की ओर से भारतीय भूमि की ओर बहना प्रारम्भ हो जाता है। यह हवाएं समुद्र पर से चलती है अतः उनमें पर्याप्त मात्रा में नमी रहती है। जब यह नम हवाएं उत्तरी पहाड़ों से टकराती हैं और पश्चिम की ओर मुड़ जाती हैं तब भारी वर्षा करती जाती हैं। क्योंकि यह मानसूनी हवाएं ग्रीष्मकाल में बहती हैं इस कारण उसे ग्रीष्मकालीन मानसून भी कहते हैं।

इसकी दो शाखाएं हैं:—

१. अरब सागर वाली शाखा:—यह दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर से प्रवाहित होकर पश्चिमी घाट पर्वत श्रेणियों से टकराती हैं जिसके कार

का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। पूरे देश में मिट्टी एक समान नहीं पाई जाती। भिन्न २ स्थानों में उनमें विभिन्नता पाई जाती है। हमारे देश में पाई जाने वाली मुख्य २ मिट्टियां निम्नलिखित हैं:—

(१) कांप मिट्टी (Allvial Soil):—यह मिट्टी अत्यधिक उपजाऊ होती है और इस कारण खेती के लिए सबसे उपयुक्त होती है। इस मिट्टी के प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग ३ लाख वर्गमील है। यह नदियों द्वारा बहा कर लाई गई मिट्टी के जमा होने से बनती है। इसका विस्तार पंजाब, बिहार, बंगाल, आसाम, उत्तर-प्रदेश, उड़ीसा, उत्तर-पूर्वी राजस्थान, मद्रास तथा आन्ध्र के तटीय भागों पर है।

यह मिट्टी लगभग सभी प्रकार के रासायनिक तत्वों से पूर्ण होती है। इसमें पोटाश, चूना, मेगनेशियम, फासफोरिक एसिड आदि पर्याप्त मात्रा में मौजूद होते हैं परन्तु इसमें नाइट्रोजन की कमी रहती है। इस पर सब प्रकार की फसलें उत्पन्न की जा सकती हैं। (इसे दोमट मिट्टी भी कहते हैं।)

(२) काली मिट्टी (Black Soil):—यह मिट्टी काले रंग की होती है क्योंकि यह ज्वालामुखी की राख और लावा से बनी हुई होती है। इसके प्रदेश का क्षेत्रफल करीब २ लाख वर्गमील है। यह मिट्टी काफी उपजाऊ होती है। कपास के लिए सबसे उपयुक्त होती है। इसमें नमी धारण करने की शक्ति अधिक होने के फलस्वरूप इसमें सिंचाई की अधिक आवश्यकता नहीं रहती। कपास के अलावा इस पर गेहूं, चना आदि की फसलें अच्छी होती हैं। इस मिट्टी में लोहा, मैगनेशियम, चूना तथा अल्यूमिना की मात्रा अधिक मौजूद रहती है परन्तु नाइट्रोजन, पोटाश और फासफोरस की कमी रहती है। इसमें गर्मी के मौसम में दरारें पड़ जाती हैं।

यह मिट्टी बम्बई राज्य, मध्य-प्रदेश में पाई जाती है।

(३) लाल मिट्टी (Red Soil):—इस मिट्टी का निर्माण उन चट्टानों के टूटने से हुआ है जिनमें लोहे का अंश अधिक है। भिन्न २ स्थानों पर उसका रंग भिन्न २ प्रकार होता है। कहीं पर लाल कहीं भूरी तो कहीं पीली। लाल मिट्टी का क्षेत्र अधिक होने के कारण यह उसी नाम से प्रसिद्ध है। यह मिट्टी बहुत ही कम उपजाऊ होती है। ऊंचे स्थानों पर प्राप्त होने वाली मिट्टी हल्की, पतली तथा कंकरीली होती है और इस कारण वह उपजाऊ होती है। निचले स्थानों पर प्राप्त होने वाली मिटटी गहरी, बारीक और उपजाऊ

इतना ही नहीं मानसून प्रत्येक वर्ष एकसा नहीं रहता । जिस वर्ष वर्षा अत्यधिक होती है, उस वर्ष देश के अनेक स्थानों में बाढ़ आजाती है जिससे कृषि नष्ट हो जाती है । कम वर्षा होने पर अकाल पड़ता है । इस अनिश्चितता के कारण ही कुछ व्यक्ति भारतीय कृषि को "वर्षा में जुआ" कहते हैं ।

भारत में वर्षा पूरे साल भर नहीं बल्कि एक निश्चित समय में ही होती है । वर्षा मूसलधार होने के कारण वह भूमि के उपजाऊ कण को अपनी साथ बहा ले जाती है और इस कारण भूमि का कटाव हो जाता है ।

वर्षा ने भारत में जनसंख्या के घनत्व को भी प्रभावित किया है । जिन स्थानों में कृषि के लिए आवश्यक मात्रा में वर्षा होती है वहां जनसंख्या का घनत्व उन स्थानों की अपेक्षा अधिक है जहां वर्षा का अभाव है । इसी कारण राजस्थान में जनसंख्या का घनत्व उत्तर-प्रदेश, तथा बंगाल की अपेक्षा काफी कम है ।

सरकार का बजट भी पूर्ण रूप से मानसून पर निर्भर करता है । वर्षा के अभाव का विपरीत प्रभाव उद्योग धन्धों पर पड़ता है । इस कारण सरकार की न केवल कृषि कर से बल्कि आयात-निर्यात कर, औद्योगिक कर, आय कर आदि से आय कम हो जाती है । अकाल की अवस्था में उसे जनता की सहायतार्थ काफी धन व्यय करना पड़ता है । इस कारण भारतीय बजट को मानसून पर आधारित एक जुए की संज्ञा दी गई है । मानसून के अभाव में देश की आर्थिक स्थिति बिलकुल ही खराब हो जाती है । वास्तव में भारत के आर्थिक जीवन में मानसून एक धुरी है जिसके चारों ओर समस्त भारतीय जीवन घूमता है ।

3. भारत की मिट्टियां

Q. 4. भारत में किस किस प्रकार की मिट्टियां मिलती हैं ? उनका वितरण तथा विशेषताओं का उल्लेख कर उनका देश की आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा है वर्णन कीजिए (Raj. 49, 57)

Ans. किसी देश के प्राकृतिक उपहारों में वहां की मिट्टी अपना एक विशेष महत्व रखती है । उसकी उपजाऊ शक्ति पर ही खाद्य पदार्थ और अन्य फसलों की उत्पत्ति निर्भर करती है भारत जैसे कृषि प्रधान देश में मिट्टियों

का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। पूरे देश में मिट्टी एक समान नहीं पाई जाती। भिन्न २ स्थानों में उनमें विभिन्नता पाई जाती है। हमारे देश में पाई जाने वाली मुख्य २ मिट्टियां निम्नलिखित हैं:—

(१) कांप मिट्टी (Allvial Soil) :—यह मिट्टी अत्यधिक उपजाऊ होती है और इस कारण खेती के लिए सबसे उपयुक्त होती है। इस मिट्टी के प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग ३ लाख वर्गमील है। यह नदियों द्वारा बहा कर लाई गई मिट्टी के जमा होने से बनती है। इसका विस्तार पंजाब, बिहार, बंगाल, आसाम, उत्तर–प्रदेश, उड़ीसा, उत्तर–पूर्वी राजस्थान, मद्रास तथा आन्ध्र के तटीय भागों पर है।

यह मिट्टी लगभग सभी प्रकार के रासायनिक तत्वों से पूर्ण होती है। इसमें पोटाश, चूना, मेगनेशियम, फासफोरिक एसिड आदि पर्याप्त मात्रा में मौजूद होते हैं परन्तु इसमें नाइट्रोजन की कमी रहती है। इस पर सब प्रकार की फसलें उत्पन्न की जा सकती हैं। (इसे दोमट मिट्टी भी कहते हैं।)

(२) काली मिट्टी (Black Soil):—यह मिट्टी काले रंग की होती है क्योंकि यह ज्वालामुखी की राख और लावा से बनी हुई होती है। इसके प्रदेश का क्षेत्रफल करीब २ लाख वर्गमील है। यह मिट्टी काफी उपजाऊ होती है। कपास के लिए सबसे उपयुक्त होती है। इसमें नमी धारण करने की शक्ति अधिक होने के फलस्वरूप इसमें सिंचाई की अधिक आवश्यकता नहीं रहती। कपास के अलावा इस पर गेहूं, चना आदि की फसलें अच्छी होती हैं। इस मिट्टी में लोहा, मैगनेशियम, चूना तथा अल्यूमिना की मात्रा अधिक मौजूद रहती है परन्तु नाइट्रोजन, पोटाश और फासफोरस की कमी रहती है। इसमें गर्मी के मौसम में दरारें पड़ जाती हैं।

यह मिट्टी बम्बई राज्य, मध्य–प्रदेश में पाई जाती है।

(३) लाल मिट्टी (Red Soil) :—इस मिट्टी का निर्माण उन चट्टानों के टूटने से हुआ है जिनमें लोहे का अंश अधिक है। भिन्न २ स्थानों पर उसका रंग भिन्न २ प्रकार होता है। कहीं पर लाल कहीं भूरी तो कहीं पीली। लाल मिट्टी का क्षेत्र अधिक होने के कारण यह उसी नाम से प्रसिद्ध है। यह मिट्टी बहुत ही कम उपजाऊ होती है। ऊंचे स्थानों पर प्राप्त होने वाली मिट्टी हल्की, पतली तथा कंकरीली होती है और इस कारण वह उपजाऊ होती है। निचले स्थानों पर प्राप्त होने वाली मिट्टी गहरी, बारीक और उपजाऊ

होती है। इस मिट्टी में चूना तथा पोटाश अधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं, परन्तु नाइट्रोजन तथा फासफोरस काफी कम मात्रा में विद्यमान होते हैं। यह मिट्टी पूर्वी मध्य-प्रदेश, दक्षिणी बिहार तथा मैसूर व बम्बई राज्य के कुछ भागों में पाई जाती है।

(४) लेटराइट मिट्टी (Laterite Soil) :—यह भी लाल रंग की होती है और इसका निर्माण लाल रंग की चट्टानों से घुल कर बह जाने पर उसके हल्के पर्त के जमते जाने के कारण होता है। यह बहुत ही कम उपजाऊ होती है। इसमें लोहा, अल्यूमिना अधिक मात्रा में विद्यमान होता है तथा नाइट्रोजन, मैगनेशियम, फासफोरस और चूना अधिक मात्रा में मौजूद रहता है।

इसका क्षेत्र काफी सीमित है। यह मध्य-प्रदेश, उड़ीसा, आसाम, मैसूर व मद्रास के कुछ सीमित क्षेत्रों में पाई जाती है।

(५) मरुस्थलीय मिट्टी (Desert Soil) :—यह मिट्टी बहुत ही कम उपजाऊ होती है। इस मिट्टी के टीले हवा के साथ उड़कर बन जाते हैं। यह पानी बहुत ही शीघ्र सोख लेती है। पानी प्राप्त होने वाले स्थानों पर बाजरा पैदा किया जाता है। यह मिट्टी राजस्थान के पश्चिमी भाग; तथा दक्षिणी पंजाब में पाई जाती है।

(६) हिमालय मिट्टी (Himaliyan Soil) :—यह हिमालय पर्वत के ढालों पर मिलती है। इसके कण काफी मोटे होते हैं। इस मिट्टी में लोहे का अंश अधिक और चूने का कम होता है। यह अनुपजाऊ होती है। ढालों पर चाय पैदा की जाती है। घाटियों में चांवल पैदा किया जाता है। यह मिट्टी काश्मीर, हिमाचल प्रदेश, आसाम तथा बंगाल के पहाड़ी भागों में प्राप्त होती है।

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहां के अधिकतर लोगों का व्यवसाय कृषि ही है। इसी कारण मिट्टी ही न केवल किसान का बल्कि भारत का धन है। जिन स्थानों की मिट्टी उपजाऊ होती है वहां के कृषकों की आर्थिक अवस्था काफी ठीक होती है। उपजाऊ मिट्टी हो जाने पर छोटे से खेत में ही कृषक के कुटुम्ब का भरण-पोषण हो जाता है। परन्तु यदि भूमि बिलकुल ही अनुपजाऊ है तो अधिक भूमि जोतने पर भी कृषक को जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त सामग्री प्राप्त नही हो पाती। जिन स्थानों पर काली मिट्टी प्राप्त होती है वहां का वातावरण नम रहता है और वह मिट्टी कपास के उपयुक्त होती है। इन स्थानों पर सूती कपड़े की मिलें स्थापित होती हैं। उत्तर-प्रदेश की मिट्टी

अत्यधिक उपजाऊ होने के कारण वहां पर सब प्रकार की फसल पैदा की जाती है। उत्तर-प्रदेश में जनसंख्या का घनत्व अधिक होने का मुख्य कारण वहां की भूमि की अत्यधिक उर्वरा शक्ति है।

४ भारत के वन

Q 5. भारत में कितने प्रकार के वन पाये जाते हैं? वनों के आर्थिक महत्व का वर्णन कीजिए। (Raj. 51, Sagar 50)

Ans. भारत एक बहुत बड़ा महाद्वीप है। इस कारण भारत की प्राकृतिक अवस्था, जलवायु एवं मिट्टियों मे पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है अतः भारत के वनों में विभिन्नता का पाया जाना बिलकुल ही स्वाभाविक है।

भारत जैसे कृषि प्रधान तथा गर्म देश में एक तिहाई भूमि पर वन होने चाहिए! वास्तव में भारत में २८१ लाख वर्ग मील क्षेत्र में वन है जो कुछ क्षेत्रफल का २२% है। सब राज्यों मे वनों का वितरण एक समान नहीं है। भारत के विभिन्न राज्यों में पाए जाने वाले वनों को हम निम्नलिखित पांच भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) सदाबहार वन।
(२) पतझड़ वन।
(३) शुष्क वन।
(४) डेल्टाई वन।
(५) पर्वतीय वन।

(१) सदाबहार वनः—यह वन उन स्थानों में पाए जाते हैं जहां पर ८०'' से १२०'' तक वर्षा होती है। यह वन पूरे वर्ष तक हरे भरे रहते हैं और घने होते हैं। इनके पेड़ काफी ऊंचे और छत्तरीनुमा होते हैं। इनके नीचे कई तरह की लताएं उठ कर उनमे लिपट जाती हैं। इनके मुख्य वृक्ष महोगिनी, ताड़, बांस, सिनकोना आदि है। ये वन पूर्वी हिमालय, बम्बई, केरल, आसाम, मैसूर, तथा अण्डमान में हैं।

(२) पतझड़ वनः—इन वनों के प्रदेश वह है जिनमें ६
तक वर्षा होती है। इनके वृक्ष ५०' तक ऊंचे होते हैं। गर्मी के

होती है। इस मिट्टी में चूना तथा पोटाश अधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं, परन्तु नाइट्रोजन तथा फासफोरस काफी कम मात्रा में विद्यमान होते हैं। यह मिट्टी पूर्वी मध्य-प्रदेश, दक्षिणी बिहार तथा मैसूर व बम्बई राज्य के कुछ भागों में पाई जाती है।

(४) लेटराइट मिट्टी (Laterite Soil) :—यह भी लाल रंग की होती है और इसका निर्माण लाल रंग की चट्टानों से घुल कर बह जाने पर उसके हल्के पर्त के जमते जाने के कारण होता है। यह बहुत ही कम उपजाऊ होती है। इसमे लोहा, अल्यूमिना अधिक मात्रा में विद्यमान होता है तथा नाइ-ट्रोजन, मैगनेशियम, फासफोरस और चूना अधिक मात्रा में मौजूद रहता है।

इसका क्षेत्र काफी सीमित है। यह मध्य-प्रदेश, उड़ीसा, आसाम, मैसूर व मद्रास के कुछ सीमित क्षेत्रों मे पाई जाती है।

(५) मरुस्थलीय मिट्टी (Desert Soil) :—यह मिट्टी बहुत ही कम उपजाऊ होती है। इस मिट्टी के टीले हवा के साथ उड़कर बन जाते हैं। यह पानी बहुत ही शीघ्र सोख लेती है। पानी प्राप्त होने वाले स्थानों पर बाजरा पैदा किया जाता है। यह मिट्टी राजस्थान के पश्चिमी भाग, तथा दक्षिणी पंजाब में पाई जाती है।

(६) हिमालय मिट्टी (Himaliyan Soil) :—यह हिमालय पर्वत के ढालों पर मिलती है। इसके कण काफी मोटे होते है। इस मिट्टी में लोहे का अंश अधिक और चूने का कम होता है। यह अनुपजाऊ होती है। ढालों पर चाय पैदा की जाती है। घाटियों में चांवल पैदा किया जाता है। यह मिट्टी काश्मीर, हिमाचल प्रदेश, आसाम तथा बंगाल के पहाड़ी भागों मे प्राप्त होती है।

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहां के अधिकतर लोगों का व्यवसाय कृषि ही है। इसी कारण मिट्टी ही न केवल किसान का बल्कि भारत का धन है। जिन स्थानों की मिट्टी उपजाऊ होती है वहां के कृषकों की आर्थिक अवस्था काफी ठीक होती है। उपजाऊ मिट्टी हो जाने पर छोटे से खेत मे ही कृषक के कुटुम्ब का भरण-पोषण हो जाता है। परन्तु यदि भूमि बिलकुल ही अनुपजाऊ है तो अधिक भूमि जोतने पर भी कृषक का जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त सामग्री प्राप्त नही हो पाती। जिन स्थानों पर काली मिट्टी प्राप्त होती है वहां का वातावरण नम रहता है और वह मिट्टी कपास के उपयुक्त होती है। इन स्थानों पर सूती कपड़े की मिलें स्थापित होती हैं। उत्तर-प्रदेश की मिट्टी

अत्यधिक उपजाऊ होने के कारण वहां पर सब प्रकार की फसल पैदा की जाती है। उत्तर-प्रदेश में जनसंख्या का घनत्व अधिक होने का मुख्य कारण वहां की भूमि की अत्यधिक उर्वरा शक्ति है।

४ भारत के वन

Q 5. भारत में कितने प्रकार के वन पाये जाते हैं ? वनों के आर्थिक महत्व का वर्णन कीजिए। (Raj. 51, Sagar 50)

Ans. भारत एक बहुत बड़ा महाद्वीप है। इस कारण भारत की प्राकृतिक अवस्था, जलवायु एवं मिट्टियों मे पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है अतः भारत के वनों में विभिन्नता का पाया जाना बिलकुल ही स्वाभाविक है।

भारत जैसे कृषि प्रधान तथा गर्म देश में एक तिहाई भूमि पर वन होने चाहिए ! वास्तव में भारत में २८१ लाख वर्ग मील क्षेत्र में वन है जो कुछ क्षेत्रफल का २२% है। सब राज्यों मे वनों का वितरण एक समान नहीं है। भारत के विभिन्न राज्यों में पाए जाने वाले वनों को हम निम्नलिखित पांच भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) सदाबहार वन।

(२) पतझड़ वन।

(३) शुष्क वन।

(४) डेल्टाई वन।

(५) पर्वतीय वन।

(१) सदाबहार वनः—यह वन उन स्थानों में पाए जाते हैं जहां पर ८०" से १२०" तक वर्षा होती है। यह वन पूरे वर्ष तक हरे भरे रहते हैं और घने होते हैं। इनके पेड़ काफी ऊंचे और छत्तरीनुमा होते हैं। उनके नीचे कई तरह की लताएं उठ कर उनसे लिपट जाती हैं। इनके मुख्य वृक्ष महोगिनी, ताड़, बांस, सिनकोना आदि हैं। ये वन पूर्वी हिमालय, बम्बई, केरल, आसाम, मैसूर, तथा अण्डमान में हैं।

(२) पतझड़ वनः—इन वनों के प्रदेश वह हैं जिनमें ६०" से ८०" तक वर्षा होती है। इनके वृक्ष ५०' तक ऊंचे होते हैं। गर्मी के दिनों में यह

अपने पत्ते गिरा देते हैं ताकि पेड़ शुष्क वायु और ताप से रक्षित रह सके। इन वनों में साल, सागवान, शीशम, चन्दन, आम तथा सेमल आदि के वृक्ष उगते हैं। इनकी लकड़ी काफी मूल्यवान होती है। इन वनों का प्रदेश उप हिमालय तथा दक्षिणी पठार है।

(३) शुष्क वनः—यह वन उन स्थानों पर होते हैं जहां पर ३८" से ४०" तक वर्षा होती है। इन वन प्रदेशों में कांटेदार वृक्ष तथा कंटीली झाड़ियां उगती है। इन वृक्षों की जड़ें लम्बी होती हैं ताकि गहराई से पानी प्राप्त कर सके। इनकी छाल कड़ी और मोटी होती है। पत्तियां कांटेदार होती हैं ताकि जानवर उसे खा न सके। इन वनों के मुख्य वृक्ष बबूल, खेजड़ा आदि हैं। यह वन राजस्थान, गुजरात, पश्चिमी मध्य प्रदेश तथा दक्षिणी पंजाब में पाये जाते हैं।

(४) डेल्टाई वनः—यह वन नदियों के डेल्टा प्रदेशों में पाए जाते हैं। इन्हें 'ज्वार प्रांतिक वन' भी कहते है क्योंकि वहां समुद्र का खारा पानी चढ़ आया करता है। यहां सुन्दरी वृक्ष काफी मिलता है। इस कारण उन्हें सुन्दर वन भी कहते हैं। इनमें सुन्दरी, नारियल, ताड़, मेनग्रोव वृक्ष मिलते हैं। यह वन गंगा, महानदी, कावेरी, कृष्णा तथा गोदावरी के डेल्टाओं में तथा पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और मद्रास तथा आंध्र के तटीय भागों में पाए जाते हैं।

(५) पर्वतीय वनः—हिमालय पर विशेष प्रकार के वन पाए जाते हैं। इनमें ऊंचाई के अनुसार परिवर्तन होता जाता है। उनमें मुख्यतः ओक, पाइन, साल, स्प्रस, बबुल और देवदार के वृक्ष उगते हैं। ६०१० फीट से ८००० फीट ऊंचाई तक देवदार की प्रधानता रहती है।

यद्यपि हमारे देश मे अनेक प्रकार के वन पाए जाते हैं परन्तु देश के क्षेत्रफल के अनुपात में उनका विस्तार बहुत कम है। वन किसी भी देश की अमूल्य निधि है और देश की आर्थिक व्यवस्था में उसका एक महत्वपूर्ण स्थान है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में इनका महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। वनों से उपलब्ध होने वाले लाभों को निम्न लिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) प्रत्यक्ष लाभ (२) अप्रत्यक्ष लाभ।

प्रत्यक्ष लाभः—(१) वनों से बहुमूल्य लकड़ी प्राप्त होती है जैसे साल, शीशम, सागौन, देवदार आदि। इनका प्रयोग फर्नीचर, रेल्वे स्लीपर, खेल का

(६) वन प्राकृतिक सौन्दर्य प्रदान करते हैं। इस प्राकृतिक छटा को देखने कई लोग आते हैं। इसमे आसपास के क्षेत्रों का विकास होता है और होटल उद्योग को प्रोत्साहन मिलता है।

(७) वन-भागों का पृथ्वी के नीचे दब जाने के कारण कालान्तर में कोयले का निर्माण हो जाता है।

(८) पृथ्वी के नीचे दब गए. जलीय वृक्षों तथा जल-जीवों के ढांचों के कारण भूमि के नीचे पेट्रोल का भण्डार संचित हो जाता है।

(९) वन भाग बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करते हैं। इस प्रकार वह देश में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने में अप्रत्यक्ष रूप मे सहायक सिद्ध होते हैं।

Q. 6. हमारे आर्थिक विकास में वनों के महत्व को स्पष्ट कीजिए। वर्तमान सरकार की वन नीति पर प्रकाश डालते हुए वनों के विकास के उपाय समझाइए। (Ajmer 45, 53, Raj. 59)

Ans. वनों के महत्व के लिए देखिए प्रश्न नं० (५)।

वनों का देश की आर्थिक व्यवस्था में अपना एक विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। भारत कृषि प्रधान देश है और ऐसा माना जाता है कि देश के लिए उसके १/३ भाग पर वन होने चाहिए, परन्तु भारत में २८१ लाख वर्ग मील क्षेत्र में वन हैं जो कुल क्षेत्रफल का २२% है तथा सब राज्यों में वनों का वितरण एक समान भी नहीं है। सरकार उनके विकास की आवश्यकता को समझती है। उनके विकास के लिए सरकार ने पिछले ९९ वर्षों मे ध्यान दिया है किन्तु इस शताब्दी के मध्यान्ह तक कोई विशेष उन्नति करना संभव न हो पाया। वनों की इस खराब दशा का ओर भारतीय योजना कमीशन ने ध्यान दिया और वनों के क्षेत्र का विस्तार करने का सुझाव दिया। उनमें मुख्य सुझाव निम्नलिखित थे :—(१) सड़कों और रेल्वे लाइन के सहारे २ वृक्ष लगाए जायं। (२) वन-क्षेत्रों का उचित निरीक्षण किया जाय और उनको नष्ट होने से बचाया जाय। (३) नदियों के खादर में वन लगाए जांए। (४) प्रत्येक राज्य अपनी वन-विकास योजना का विवरण 'वन-विभाग' के प्रधान निरीक्षक को भेजे।

उपरोक्त सुझावों को कार्य रूप में लाने के लिए योजना कमीशन ने प्रथम पंचवर्षीय योजना मे ९५९.५ लाख रुपया स्वीकृत किया था। इनमें से वन विकास पर ६११ लाख रुपया तथा वन सम्बन्धी [illegible]

रुपया व्यय किया गया। देश में ३५% भूमि पर वन लगाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। १९५२ में सरकार ने नवीन वन नीति का आरम्भ किया। अपनी वन नीति के पालन हेतु, एक केन्द्रीय वन बोर्ड की स्थापना की गई। वन विकास के लिए वन प्रेमी संघ की स्थापना की गई है। प्रत्येक वर्ष जुलाई में वन महोत्सव मनाया जाता है और कई वृक्ष लगाए जाते हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में छोटे २ बागान लगाने की अनेक योजनाएं आरम्भ की गई। ७५ हजार एकड़ भूमि पर फिर से वन या बागान लगाए गए। दो करोड़ से अधिक एकड़ गैर सरकारी वन प्रदेश सरकार ने अपने आधीन ले लिया है। देहरादून में अनुसन्धान कार्य किया जा रहा है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में वनों के लिए २०.९२ करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई है। तीन लाख अस्सी हजार एकड़ क्षेत्र में वनों की अवस्था को सुधारने का यत्न किया जायेगा। ३ लाख एकड़ भूमि पर नए बाग, १३ हजार एकड़ पर गोंद और दूसरे वृक्ष, २ हजार एकड़ पर जड़ी बूटियां तथा ५० हजार एकड़ पर टीक और अन्य व्यापारिक वृक्ष रोपे जायेंगे। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में राजस्थान सरकार के द्वारा वन-विकास पर १८२ लाख रु० व्यय किए जायेंगे जो कुल योजना व्यय का १.७% है। वनों में ७४००.मील लम्बी सड़कें बनाना या उनमें सुधार करना रखा गया है।

वन विभाग ने वनों के विकास तथा उसकी रक्षा के उद्देश्य से वनों का वर्गीकरण कर दिया है जो इस प्रकार है :—(१) सुरक्षित वन (२) रक्षित वन और (३) श्रेणी रहित वन। वनों की एक पेटी आगरे के पास लगाई गई है ताकि राजस्थान की ओर बढ़ते हुए रेगिस्तान को रोका जाय। तीसरी योजना में उत्तर-प्रदेश पंजाब, हिमाचल प्रदेश, प. बंगाल, जम्मू, काश्मीर में ५० हजार एकड़ भूमि पर साल एवं चौड़ी पत्ती वाले वन लगाए जायेंगे। २ लाख एकड़ भूमि पर सागवान के वन और ४॥ लाख एकड़ भूमि पर राजस्थान, केरल, और मद्रास में शीघ्र उगने वाले वृक्ष लगाए जायेंगे।

यद्यपि सरकार ने वन नीति की घोषणा कर दी है और पंचवर्षीय योजनाओं में वन के विकास को स्थान भी दिया गया है फिर भी यह सब प्रयत्न पर्याप्त नहीं है। वन लगाने के कार्य को अधिक प्रोत्साहन देना चाहिए ताकि बाढ़ और भूमि के कटाव को रोका जा सके। रेलवे लाइन और सड़कों के किनारे २ वृक्ष लगाए जाने चाहिए। पुराने वनों की रक्षा का उचित प्रबन्ध

होना चाहिए। आजकल वन-विभाग राज्य सरकारों के अधिकार में है और वनों से प्राप्त होने वाली आय भी राज्य को मिलती है। रुपये का अभाव होने के कारण राज्य सरकार वनों के विकास की ओर उचित ध्यान नहीं दे रही है। अत: केन्द्रीय सरकार को एक योजना बनाकर वन की रक्षा और उसके विकास का भार अपने आप पर लेना चाहिए। देश में कई अनुसंधान केन्द्र स्थापित करने चाहिए। वन-विभाग और कृषि विभाग में और अधिक सहयोग स्थापित किया जाय तथा वन अधिकारियों को शिक्षा देने के लिए और अधिक विद्यालय आरम्भ किए जांय।

Q. 7. भारत में किस २ प्रकार के वन पाए जाते हैं? कुछ उद्योगों का संक्षेप में वर्णन करिए जो वनों से प्राप्त होने वाली सामग्री पर निर्भर हैं।

Ans. वनों के प्रकार के लिए देखिए प्रश्न नं. (५)

वनों से बहुमूल्य लकड़ी और कई उद्योगों के लिए आवश्यक कच्ची सामग्री प्राप्त होती है। निम्नलिखित उद्योग इस सामग्री पर निर्भर हैं—

(१) फर्नीचर उद्योग:—वनों से फर्नीचर तथा अन्य इमारती काम के लिए आवश्यक लकड़ी प्राप्त होती है। बरेली के आसपास लकड़ी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने के कारण यह उद्योग वहां काफी उन्नत अवस्था में है।

(२) खेल का सामान बनाने वाले उद्योग:—खेल का सामान जैसे क्रिकेट बैट, हाकी आदि के निर्माण में लकड़ी की आवश्यकता रहती है जो वनों से ही प्राप्त होती है।

(३) दियासलाई का उद्योग:—वनों से ही दियासलाई के निर्माण में काम आने वाली चीड़ और समल आदि की लकड़ी प्राप्त होती है। इसके लिए अण्डमान से ४५ हजार टन लकडी काम में लाई जाती है।

(४) कागज का उद्योग :—कागज के उद्योग के लिए आवश्यक घास तथा बांस और अन्य मुलायम लकड़ियां भी वनों से उपलब्ध होती हैं।

(५) लाख का उद्योग:—यह एक महत्वपूर्ण पदार्थ है जो मुख्यतः बिहार के जंगलों में पाया जाता है। कुल उत्पादन का करीब ६८% अमेरिका तथा अन्य विदेशों को निर्यात किया जाता है।

(६) कत्थे का उद्योग:—कत्थे का निर्माण खेर नामक पेड के बुरादे से किया जाता

(७) तेल उद्योग:— चन्दन के तेल उद्योग तथा तारपीन के लिए आवश्यक सामग्री भी वनों से प्राप्त होती है।

(८) रेशम उद्योग:—रेशम के कीड़े शहतूत की पत्तियां ही खाते हैं और इन्हें इस पर पाला जाता है। इस कारण यह भी उद्योग वन पर निर्भर है।

(९) इनके अतिरिक्त मधुमक्खी पालन, रस्सी बनाने का उद्योग, रबड़ उद्योग, बीडी उद्योग, खिलौने निर्माण का उद्योग आदि वनों से ही प्राप्त होने वाली सामग्री पर निर्भर हैं।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश के बहुत सारे उद्योग धन्धे जो हजारों व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करते हैं, वनों से उपलब्ध होने वाली कच्ची सामग्री पर निर्भर हैं। अतः वनों का देश के आर्थिक जीवन में इस दृष्टि से काफी महत्व है।

५ भारत की खनिज सम्पत्ति

Q.8 भारत की खनिज सम्पत्ति का संक्षेप में वर्णन कीजिए और देश के भावी आर्थिक विकास में उसके महत्व का वर्णन कीजिए।

(Rajasthan 60)

Ans. खनिज पदार्थों का किसी देश विशेष की उन्नति के लिए बहुत अधिक महत्व है। भारत खनिज पदार्थ की दृष्टि से एक धनी देश है। आधुनिक औद्योगिक युग का आधार मशीन और शक्ति है जो क्रमशः दो खनिज पदार्थ लोहे और कोयले से बनती है। यह दोनों भारत के पास पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं परन्तु तांबा, टीन, सीसा, पेट्रोलियम का अभाव है। भारत में पाए जाने वाले मुख्य खनिज पदार्थ निम्नलिखित हैं:—

(१) कोयला:— यह सबसे महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ है और देश में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। ब्रिटिश शासन काल के समय में कुल दो करोड़ टन कोयला प्रतिवर्ष निकाला जाता था। १९५०—५१ में वह ३ करोड़ टन हो गया था। १९५६ में कोयले की उत्पत्ति लगभग ४ करोड़ टन थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि १९६०—६१ के अन्त तक कोयले का प्रतिवर्ष उत्पादन ६ करोड़ टन हो जायगा।

होना चाहिए। आजकल वन-विभाग राज्य सरकारों के अधिकार में है और वनों से प्राप्त होने वाली आय भी राज्य को मिलती है। रुपये का अभाव होने के कारण राज्य सरकार वनों के विकास की ओर उचित ध्यान नहीं दे रही है। अतः केन्द्रीय सरकार को एक योजना बनाकर वन की रक्षा और उसके विकास का भार अपने आप पर लेना चाहिए। देश में कई अनुसंधान केन्द्र स्थापित करने चाहिए। वन-विभाग और कृषि विभाग में और अधिक सहयोग स्थापित किया जाय तथा वन अधिकारियों को शिक्षा देने के लिए और अधिक विद्यालय आरम्भ किए जांय।

Q. 7. भारत में किस२ प्रकार के वन पाए जाते हैं? कुछ उद्योगों का संक्षेप में वर्णन करिए जो वनों से प्राप्त होने वाली सामग्री पर निर्भर हैं।

Ans. वनों के प्रकार के लिए देखिए प्रश्न नं. (५)

वनों से बहुमूल्य लकड़ी और कई उद्योगों के लिए आवश्यक कच्ची सामग्री प्राप्त होती है। निम्नलिखित उद्योग इस सामग्री पर निर्भर हैं—

(१) फर्नीचर उद्योगः—वनों से फर्नीचर तथा अन्य इमारती काम के लिए आवश्यक लकड़ी प्राप्त होती है। बरेली के आसपास लकड़ी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने के कारण यह उद्योग वहां काफी उन्नत अवस्था में है।

(२) खेल का सामान बनाने वाले उद्योगः—खेल का सामान जैसे क्रिकेट बैट, हाकी आदि के निर्माण में लकड़ी की आवश्यकता रहती है जो वनों से ही प्राप्त होती है।

(३) दियासलाई का उद्योगः—वनों से ही दियासलाई के निर्माण में काम आने वाली चीड़ और सेमल आदि की लकड़ी प्राप्त होती है। इसके लिए अण्डमान से ४५ हजार टन लकड़ी काम में लाई जाती हैं।

(४) कागज का उद्योग :—कागज के उद्योग के लिए आवश्यक घास तथा बांस और अन्य मुलायम लकड़ियां भी वनों से उपलब्ध होती हैं।

(५) लाख का उद्योगः—यह एक महत्वपूर्ण पदार्थ है जो मुख्यतः बिहार के जंगलों में पाया जाता है। कुल उत्पादन का करीब ६८% अमेरिका तथा अन्य विदेशों को निर्यात किया जाता है।

(६) कत्थे का उद्योगः—कत्थे का निर्माण खैर नामक पेड़ के बुरादे से किया जाता

(७) तेल उद्योगः— चन्दन के तेल उद्योग तथा तारपीन के लिए आवश्यक सामग्री भी वनों से प्राप्त होती है।

(८) रेशम उद्योगः—रेशम के कीड़े शहतूत की पत्तियां ही खाते हैं और इन्हें इस पर पाला जाता है। इस कारण यह भी उद्योग वन पर निर्भर है।

(९) इनके अतिरिक्त मधुमक्खी पालन, रस्सी बनाने का उद्योग, रबड़ उद्योग, बीडी उद्योग, खिलौने निर्माण का उद्योग आदि वनों से ही प्राप्त होने वाली सामग्री पर निर्भर हैं।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश के बहुत सारे उद्योग धन्धे जो हजारों व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करते हैं, वनों से उपलब्ध होने वाली कच्ची सामग्री पर निर्भर हैं। अतः वनों का देश के आर्थिक जीवन में इस दृष्टि से काफी महत्व है।

५ भारत की खनिज सम्पत्ति

Q.8 भारत की खनिज सम्पत्ति का संक्षेप में वर्णन कीजिए और देश के भावी आर्थिक विकास में उसके महत्व का वर्णन कीजिए।

(Rajasthan 60)

Ans. खनिज पदार्थों का किसी देश विशेष की उन्नति के लिए बहुत अधिक महत्व है। भारत खनिज पदार्थ की दृष्टि से एक धनी देश है। आधुनिक औद्योगिक युग का आधार मशीन और शक्ति है जो क्रमशः दो खनिज पदार्थ लोहे और कोयले से बनती है। यह दोनों भारत के पास पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं परन्तु तांबा, टीन, सीसा, पेट्रोलियम का अभाव है। भारत में पाए जाने वाले मुख्य खनिज पदार्थ निम्नलिखित हैं:—

(१) कोयलाः— यह सबसे महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ है और देश में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। ब्रिटिश शासन काल के समय में कुल दो करोड़ टन कोयला प्रतिवर्ष निकाला जाता था। १९५०—५१ में वह ३ करोड़ टन हो गया था। १९५६ में कोयले की उत्पत्ति लगभग ४ करोड टन थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि १९६०–६१ के अन्त तक कोयला का प्रतिवर्ष उत्पादन ६ करोड़ टन हो जायगा।

भारत में कोयले का करीब ८२% बिहार और पश्चिमी बंगाल (झरिया, रानीगंज में पाया जाता है। थोड़ी बहुत मात्रा में वह मध्य-प्रदेश, हैदराबाद, उड़ीसा, आसाम और राजस्थान में पाली नामक स्थान से प्राप्त होता है। कोयले के प्रमुख उपभोक्ता रेलवे (३१%) तथा इंजीनियरिंग उद्योग (१५%) हैं। कोयला कुछ उद्योगों में कच्ची सामग्री के रूप में काम में आता है। भारत में कोयला निकालने के लिए पुरानी रीति का प्रयोग किया जाता है, जिससे उसका उत्पादन व्यय बढ़ जाता है। एक कोल बोर्ड की स्थापना की गई है जो इनके विकास की ओर ध्यान दे रहा है।

(२) लोहा:—भारत में लोहे की खानें अच्छी किस्म की हैं और वह काफी मात्रा में मौजूद हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि भारतवर्ष में अच्छे लोहे का भंडार २१,००० मिलियन टन से भी अधिक है। यह संसार के कुल लोहे के भंडार का एक चौथाई है। अच्छे प्रकार का लोहा बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, मद्रास, बम्बई और मैसूर में मिलता है। १९५०—५१ में लोहे की उत्पत्ति ३० लाख टन के करीब थी जो बढ़ कर १९५५—५६ में ४३ लाख टन हो गई थी। १९५६ में कच्चा लोहा ७७५२ हजार टन उत्पन्न किया गया था। अब ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि १९६०—६१ तक उसकी कुल उत्पत्ति १ करोड़ २५ लाख टन हो जायगी।

(३) मैंगनीज:— भारत इसका प्रमुख उत्पादक है। यह धातु मुख्यतः मध्य-प्रदेश, बालाघाट, नागपुर, जबलपुर, बिहार, उड़ीसा, बम्बई के रत्नागिरी जिले में तथा राजस्थान में पाई जाती है।

उच्च कोटि के मैंगनीज की सुरक्षित मात्रा १५० लाख तथा २०० लाख टन के बीच है और निम्न कोटि की सुरक्षित मात्रा करीब इससे तिगुनी है। १९५८ में इसकी उत्पत्ति १२ लाख टन थी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य ३५ लाख टन है। इस धातु को अधिकतर अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, हॉलैंड, इटली आदि विदेशों में निर्यात किया जाता है।

(४) अभ्रक:— यह एक अत्यन्त उपयोगी धातु है जिसका प्रयोग विद्युत तथा दहकती भट्टियों में किया जाता है। भारत में इसका उत्पादन सबसे अधिक होता है। यह संसार की ८०% आवश्यकता को पूरा करता है। यह बिहार के हजारीबाग तथा मुंगेर जिलों में, अजमेर, मारवाड़ तथा मद्रास और आन्ध्र में पाया जाता है। विगत दस वर्षों से अभ्रक का उत्पादन दुगने से भी

अधिक हो गया है। १९५८ में इसका उत्पादन ६२६०४० हजार हण्डर था। अभ्रक के निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने एक Export Promotion Council बनाई।

(५) जिप्सम:—इसका प्रयोग खाद बनाने में, सीमेंट उद्योग तथा प्लास्टर आफ पेरिस बनाने में किया जाता है। यह राजस्थान, पंजाब, मद्रास, उत्तर-प्रदेश, मध्य प्रदेश और बम्बई में पाया जाता है। देश के कुल उत्पादन का करीब ९०% अकेले राजस्थान मे प्राप्त होता है। १९५८ में जिप्सम का उत्पादन ७ लाख ६० हजार टन था। इस कारण यहां पर सीमेंट उद्योग स्थापित हो गए हैं (लाखेरी, सवाई माधोपुर)।

(६) संगमरमर तथा अन्य मूल्यवान पत्थर:-सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध संगमरमर की खानें राजस्थान में मकराना नामक स्थान पर स्थित हैं इसके अतिरिक्त वह राजस्थान में उदयपुर, अलवर तथा जयपुर में पाया जाता है

(७) सोप स्टोन:-इसकी खानें मुख्यतः राजस्थान में मौजूद हैं। अधिकतर यह दौसा के आस पास प्राप्त होता है और वह बड़ी मात्रा में निर्यात किया जाता है।

(८) सोना:- संसार की कुल उत्पत्ति का केवल ५% भाग यहां पर उत्पन्न होता है। भारत में वह मैसूर की कोला खानों से प्राप्त होता है। इसके अलावा यह हैदराबाद के हट्टी, बम्बई के धारवार जिले में तथा मद्रास के अन्नतपुर नामक स्थान में पाया जाता हैं।

(९) तांबा:- यह धातु विशेष मात्रा में प्राप्त नहीं होती। १९५८ ई. में इसका उत्पादन लगभग ४½ लाख टन था। जो हमारी वर्तमान आवश्यकता का केवल १५% है इसलिए हमें विदेशों से उसका आयात काफी मात्रा में करना पड़ता है।

(१०) पेट्रोल:-भारतवर्ष से पेट्रोल नाम मात्रा का ही प्राप्त होता है। पेट्रोल का कुल उत्पादन ६ करोड़ ६७ लाख गैलन हैं जिसने भारत की स्थानीय मांग की केवल ५% ही पूर्ति होती है। यह आसाम में स्थित डिगबोई नामक स्थान पर प्राप्त होता है। अपनी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए भारत को यह ईरान, अमेरिका आदि से मंगाना पड़ता है। इसकी खोज निकालने का कार्य जारी है। राजस्थान में जैसलमेर इलाके तथा पंजाब में ज्वालामुखी और कच्छ में शोध कार्य चल रहा है। अभी कुछ दिनों पूर्व कच्छ में कुछ ऐसे

उपलब्ध हुए हैं जिनके आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि वहां से काफी मात्रा में वह प्राप्त होगा। हाल ही में आरम्भ किए गए प्रयत्नों से यह ज्ञात हुआ है कि अहमदाबाद के निकट प्राप्त हो सकेगी। इस कारण गुजरात सरकार ने कुछ समय तक के लिए अपनी नई राजधानी निर्माण की योजना को स्थगित कर दिया है। इसके अतिरिक्त देश में Refineries स्थापित की गई हैं जो बम्बई के निकट हैं।

किसी देश की औद्योगिक उन्नति उसके खनिज पदार्थों पर निर्भर करती है। हमारा देश खनिज पदार्थों की दृष्टि से धनी है। भारत में लोहा और कोयला सुलभता से प्राप्त किया जा सकता है और बड़े २ कल, कारखाने स्थापित किए जा सकते हैं। सरकार ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत तीन इस्पात के कारखाने (दुर्गापुर, रूरकेला, भिलाई मे) स्थापित किए हैं। देश में अब तक खानों में उत्पादन कार्य के लिए वही पुरानी रीति और मशीनों का प्रयोग किया जा रहा है। आधुनिकतम यंत्रों की सहायता से उत्पादन में वृद्धि करने क प्रयत्न किया जाना चाहिए। सिंदरी खाद के कारखाने की स्थापना के बाद जिप्सम का उचित प्रयोग किया जाने लगा है।

सरकार देश में औद्योगिक विकास के हर यथासंभव प्रयत्न कर रही है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में मूलभूत उद्योगों को प्राथमिकता दी गई है। खनिज विकास के कार्यक्रम को चलाने के लिए तीन संगठन काम कर रहे हैं:-

(1) Geological Survey of India (2) Indian Bueтau of Mines तथा (3) National Laboratories.

६ शक्ति के साधन

Q.9. भारत में शक्ति के प्रमुख साधन कौन २ से हैं? जल शक्ति के आर्थिक महत्व पर प्रकाश डालिए। (Raj. Board 57)

Ans. जिस प्रकार से किसी देश की कृषि की समृद्धि और उन्नति वहां पर प्राप्त होने वाली सिंचाई की सुविधाओं पर निर्भर करती है ठीक उसी प्रकार से उसका औद्योगिक विकास और उन्नति वहां पर प्राप्त होने वाले शक्ति के

साधनों पर निर्भर होती है। भारत में शक्ति के कई साधन हैं। वह निम्नलिखित हैं:—

(१) मनुष्य शक्तिः—मनुष्य केवल उपभोक्ता ही नहीं वरन् धनोत्पादन का एक अनिवार्य साधन भी है। उसके बिना किसी भी तरह का धनोत्पादन संभव नहीं हो सकता। वह स्वयं अपनी शक्ति से, औजारों और मशीनों की सहायता से धनोत्पादन का कार्य करता है। जनसंख्या का आधिक्य होने के कारण भारत में मनुष्य शक्ति की कमी नहीं है। वर्तमान युग में मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा है। इस कारण मनुष्य का शक्ति के साधन के रूप में महत्व कम होता जा रहा है।

(२) पशु-शक्तिः—भारत में अत्यन्त प्राचीन समय से पशु शक्ति का प्रयोग किया जाता रहा है। कृषि में इसका एक विशेष महत्व । यातायात के साधनों में भी उनका प्रयोग किया जाता है। परन्तु यहां के पशुओं की दिशा शोचनीय है। उनकी नस्ल को सुधारने का यत्न किया जाना चाहिए तथा उन्हें पर्याप्त भोजन दिया जाना चाहिए।

(३) वायु-शक्तिः—भारत में इसका प्रयोग बहुत ही कम किया जाता है। पहाड़ी प्रदेशों में आटा पीसने की चक्कियां वायु शक्ति द्वारा चलाई जाती है। खलियान के समय एक कृषक गेहूं, चना आदि खाद्य पदार्थों को हवा द्वारा ही भूसे से पृथक करता है।

(४) ईंधन-शक्तिः— अत्यन्त प्राचीन काल से यह शक्ति का एक महत्वपूर्ण साधन रहा है। उद्योग-धन्धों में भी इसका इस्तेमाल होता है। परन्तु इसके प्रयोग को प्रोत्साहन देने पर वन नष्ट हो जायेंगे। इन्डस्ट्रियल कमीशन का यह मानना है कि यदि वनों का वैज्ञानिक ढंग से शोषण किया जाय तो उस अवस्था में लकड़ी की शक्ति भी सरलता से उद्योग धन्धों काम में लाई जा सकेगी।

(५) कोयला-शक्तिः- कोयला भारत में यान्त्रिक शक्ति का प्रमुख साधन हैं। कल कारखानों में, रेलवे तथा छोटे उद्योग धन्धों में कोयला शक्ति से मशीनों को चलाया जाता है। भारत में पाए जाने वाला कोयला निम्न किस्म का है तथा अच्छी किस्म का कोयला कम उत्पन्न होता है। इन कोयला खानों की कई समस्याओं को हल करने के लिए १९५२ में सरकार ने Coal mines Conservation and Saftey Act पास किया है।

तेल-शक्ति:-छोटी २ मशीनों को चलाने के लिए तेल
जाता है। कृषि में भूसा काटने की मशीन, ट्रैक्टर, ट्यूबवेल
दि इसी से चलाए जाते हैं। यातायात के साधनों में जैसे मोटर,
हाज, समुद्री जहाज आदि को चलाने में इसका प्रयोग किया जाता है।
ह इतना महत्वपूर्ण होने पर भी हमारे देश को इसके लिए विदेशों पर
रहना पड़ता है। यहां पर स्थानीय आवश्यकता का केवल५% तेल प्राप्त होता
व सरकार ने तेल शोध कार्य को आरम्भ कर दिया है। कच्छ में तेल
को संभावना है। राजस्थान के जैसलमेर में शोध कार्य चल रहा है।

(७) जल शक्ति:—देश में कई नदियां हैं जो समय २ पर कृषि को
ट करती रहती है। इन नदियों पर बांध बांधकर बाढ़ की भयंकरता को न
वल रोका जा सकता है वरन् उससे विद्युत भी उत्पन्न को जा सकती है।
इसकी सहायता से उद्योगों का विकास किया जा सकता है। यह अन्य सब
शक्ति के साधनों के अभाव को दूर कर सकती है। देश में कई नदियों पर बांध
का निर्माण किया जा रहा है जैसे चम्बल, भाखरा, नांगल, दामोदर घाटी आदि।

(८) अणु-शक्ति;—भारत सरकार अणु-शक्ति का विकास करने का
यत्न कर रही है। ट्राम्बे में एक रिएक्टर की स्थापना की जा रही है। इसके
पूर्ण होने पर बिजली प्राप्त की जा सकेगी। भारत में अणु शक्ति का भविष्य
उज्जवल है क्योंकि देश में यूरेनियम, जिप्सम, थोरियम आदि आणविक खनिज
अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध हैं।

जल-शक्ति का आर्थिक महत्व:—भारत की नदियां जो अपनी बाढ़
की भयंकरता के कारण देश को कृषि को नष्ट करती हैं और आर्थिक ढांचे
पर बुरा प्रभाव डालती हैं। इन नदियों पर बांध बांध कर उनकी भयंकरता
को कम कर दिया जायेगा तथा संग्रहित जलका प्रयोग जल-विद्युत उत्पन्न करने
में किया जायेगा। इससे बिजली काफी सस्ती प्राप्त होगी और उद्योग धन्धों
प्रोत्साहन मिलेगा। देश का औद्योगिकरण तीव्र गति से होगा। बेकारी
समस्या काफी हद तक हल हो जायगी। उत्पादन में वृद्धि होगी।
परिवहन का भी विकास होगा। जल-शक्ति के विकास होने पर उत्पादन
भी कम हो जायगा क्योंकि उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले
उतना अधिक व्यय न होगा जितना कोयला या तेल से ले जाने में
इसके विस्तार होने पर विकेन्द्रीकरण संभव हो जायगा। ट्राम गा

वाले आठ बांध सम्मिलित हैं जिनका क्षेत्र ८,००० वर्गमील होगा। इस योजना का पूरा करने में कई वर्ष लगेंगे। इस योजना के द्वारा १३ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी तथा ५,००,००० किलोवाट विद्युत उत्पन्न की जायगी। बाढ़ पर नियंत्रण हो जायगा। नौका वहन का विकास होगा। इसको १९५२ में लम्बी नहर में से ८५ मील लम्बी नहर में नौका वहन किया जायेगा। योजना से बंगाल और बिहार को लाभ होगा।

(३) हीराकुंड योजना:–उड़ीसा राज्य में महानदी के जल पर नियंत्रण करके इस योजना के द्वारा ६०७ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई सम्बलपुर बालनगिरी नामक जिलों में हो सकेगी। इसके अतिरिक्त १८०७ लाख भूमि की सिंचाई कटक तथा पुरी जिलों में हो सकेगी। नवम्बर १९५६ लगभग ३ लाख ३१ हजार एकड़ भूमि का पानी की सुविधा उपलब्ध की नहरों की शाखाओं का निर्माण कार्य पूर्ण होने पर है। अनुमान है कि योजना पर करीब ७० करोड़ रुपया व्यय होगा। इसके निकट निर्माण किए जाने वाले विद्युत घर में १२३००० किलोवाट बिजली प्राप्त हो सकेगी। यह विद्युत हरकला के इस्पात कारखाने तथा आसपास के क्षेत्रों को प्रदान की जायेगी। विद्युत की बढ़ती हुई मांग के कारण दूसरे विद्युत घर के निर्माण कार्य की स्वीकृति दी गई है। अभी हाल में डेल्टा की सिंचाई के हेतु लगभग १५ करोड़ की एक योजना बनाई गई है जिससे करीब १८ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होगी।

(४) रिहन्द योजना :–उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में रिहन्द पर बांध बनाया जा रहा है। सम्बन्धित जलाशय में ८६ लाख वर्ग फीट पानी जमा हो सकेगा जिसमें उत्तर-प्रदेश में १४ लाख एकड़ भूमि तथा बिहार में ५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। २.५ लाख किलोवाट विद्युत उत्पन्न करने की क्षमता रखने वाला बिजली घर निर्मित किया जायेगा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि बांध और बिजली-घर का निर्माण कार्य १९६१ के अन्त तक पूरा हो जायगा।

(५) कोसी योजना :–तीन इकाई वाली कोसी योजना विशेषकर बाढ़ नियंत्रण की योजना है परन्तु इससे अन्य प्रकार के लाभ भी प्राप्त हो सकेंगे। इस योजना के अन्तर्गत दो बांध कोसी नदी पर बनाए जायेंगे और उन पर करीब १८० करोड़ रुपया व्यय किया जायेगा। इस योजना के पूरे होने पर

लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न करना और २० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करना संभव हो सकेगा।

(६) चम्बल योजना :—इस योजना का प्रथम चरण मध्य प्रदेश एवं राजस्थान सरकार द्वारा आरम्भ किया गया है। इसके अंतर्गत गांधीसागर बांध तथा बिजली घर कोटा बांध तथा इसके दोनों तरफ नहरें बनाने का काम सम्मिलित हैं। इससे ११ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी और १.५ लाख किलोवाट बिजली तैयार होगी।

(७) तुंगभद्रा योजना :—यह योजना आंध्र प्रदेश तथा मैसूर राज्य के संयुक्त प्रयत्न से बनाई जा रही है। तुंगभद्रा नदी पर ७६४२ फीट लम्बा तथा १६२ फीट ऊंचा बांध बनाया जा रहा है। कई नहरें तथा दो बिजली घरों का निर्माण किया जायेगा। ८.३ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की जा सकेगी। बिजली घर से १,६५,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न की जाने लगी है। इस योजना पर करीब ६० करोड़ रुपए खर्च होंगे।

८ जवाई योजना :—यह बांध राजस्थान में जोधपुर डिवीजन में जवाई नदी पर बनाया जा रहा है। इस पर लगभग ८ करोड़ रुपया खर्च होगा। १.१ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की जायगी तथा ४५०० किलोवाट बिजली पैदा की जा सकेगी।

(९) कोयला योजना :—बम्बई राज्य की कोयना नदी पर २०८ फीट ऊंचे बांध का निर्माण किया जायेगा। इस योजना पर ६० करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है। ३७००० एकड़ भूमि की सिंचाई की जा सकेगी और ७.२ लाख किलोवाट विद्युत उत्पन्न की जा सकेगी।

(१०) मयूराक्षी योजना :—यह योजना पश्चिमी बंगाल सरकार की प्रमुख योजना है। इस पर १५ करोड़ रुपए व्यय होने का अनुमान है। ४००० किलोवाट विद्युत उत्पन्न की जा सकेगी तथा ७.२ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की जा सकेगी।

७ भारतीय कृषि

Q. 11 भारतीय कृषि की मुख्य उपज की वस्तुएं आप इनकी उत्पत्ति में वृद्धि करने के लिए क्या सुझाव देंगे

Ans. भारत एक कृषि प्रधान देश है और अधिकतर भाग की भूमि उपजाऊ तथा नर्म है। वर्षा काफी मात्रा मे होती है जो कृषि की अच्छी उपज के लिए आवश्यक है। ३७ करोड़ एकड़ भूमि पर देश की ७२% जन संख्या अपना जीवन निर्वाह करती है। कृषि-योग्य भूमि के ६०% भाग पर खाद्य पदार्थ उत्पन्न किए जाते हैं और शेष पर अन्य प्रकार की फसलें पैदा की जाती हैं। भारतीय कृषि की मुख्य उपज की वस्तुएं निम्नलिखित है :-

(१) चावल :—यह भारत की सबसे प्रसिद्ध उपज है। भारत में खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने वाली भूमि के ३५% भाग पर चावल की कृषि की जाती है। चावल के मुख्य उत्पादन क्षेत्र पश्चिमी बंगाल, आन्ध्र, मध्य-प्रदेश, मद्रास, [उड़ी]सा, बिहार, आसाम, बम्बई तथा उत्तर-प्रदेश है। पञ्चवर्षीय योजना के [अन्तर्ग]त चावल के उत्पादन में वृद्धि करने का यत्न किया जा रहा है। १९५२-५३ में चावल की उपज २२५.३७ लाख टन थी परन्तु उसके अगले वर्ष में वह बढ़ कर २७७.६६ लाख टन हो गई। १९५९-६० मे ४ करोड़ ४३ लाख टन चावल उत्पन्न किया गया।

भारत में अन्य देशों की तुलना में चावल का प्रति एकड़ उत्पादन काफी कम है। वह प्रति एकड़ औसतन लगभग ७८२ पौण्ड है जब कि जापान की उपज २४७४ पौण्ड है तथा स्पेन की ५००० पौण्ड है। देश को अपनी आवश्यकता को पूरा करने के लिए विदेशों से चावल मंगाना पड़ता है।

देश में चावल के उत्पादन में वृद्धि करने का यत्न किया जाना चाहिए। इसके लिए जापानी विधि को अपनाना चाहिए और अधिक भूमि पर उसकी कृषि आरम्भ की जानी चाहिए। जापानी रीति का प्रयोग १९५४ से किया जाने लगा है। इसके बाद उत्पादन में वृद्धि हुई है। आसाम में उसका उत्पादन बढ़ कर ७० मन प्रति एकड़ हो गया। किसानों को इस रीति से परिचित कराने का प्रयत्न करना चाहिए तथा चावल के क्षेत्रों में सिंचाई की सुविधाओं को बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

भी इसकी पैदावार होती है। १९५८–५९ में गेहूं की उपज ९९६,९४ लाख टन थी।

इसका भी प्रति एकड़ उत्पादन कम है। इसमें वृद्धि करने का प्रयत्न जारी है १९४८–४९ में प्रति एकड़ उपज ५६६ पौण्ड थी परन्तु १९५४–५५ में वह ७१३ पौण्ड हो गई। गेहूं की उपज में वृद्धि करने के लिए अच्छे किस्म के बीजों का प्रयोग किया जाना चाहिए तथा उत्पादन सुधार के लिए अनुसन्धान कार्य किया जाना चाहिए। उसमें सफलता मिलने पर उसका प्रचार किया जाना चाहिए।

(३) जौः—गेहूं की भांति यह भी रबी की फसल है। यह विशेषकर भारत की जनता का मुख्य खाद्य पदार्थ है। भारत में जौ की कुल उपज का २/३ भाग अकेले उत्तर प्रदेश में पैदा किया जाता है। इसके अतिरिक्त इसकी पैदावार पंजाब, राजस्थान, बिहार तथा मध्य प्रदेश में भी होती है। १९५६–५७ में इसकी कुल उत्पत्ति २७.४४ लाख टन थी। इसकी उपज कम होकर १९५८–५९ में २६.४० लाख टन ही हुई।

(४) ज्वार, बाजराः—यह जौ की भांति निर्धन लोगों का भोजन है। ज्वार की कृषि मुख्यत बम्बई, मध्य प्रदेश, आंध्र, उत्तर प्रदेश, मद्रास, पंजाब और राजस्थान में की जाती है। १९५६–५७ में इसकी कुल उत्पत्ति ७४.२७ लाख टन थी। बाजरा बम्बई, उत्तर-प्रदेश, आंध्र में पैदा किया जाता है। १९५६–५७ में इसकी उत्पत्ति २९.२६ लाख टन थी। १९५८–५९ में इसकी उपज ७४८० हजार टन थी।

(५) चनाः—इसकी कृषि के लिए वर्षा बहुत कम चाहिए तथा सिंचाई की भी आवश्यकता नहीं रहती। इसका उत्पादन सबसे अधिक पंजाब में होता है (लगभग १/३)। इसकी पैदावार उत्तर-प्रदेश, बम्बई, राजस्थान, बिहार और पश्चिमी बंगाल में भी होती है।

(६) गन्नाः—यह भी भारत की मुख्य उपज है। संसार में गन्ने की खेती के क्षेत्र का लगभग १/३ भाग भारत में है। इसकी खेती अधिकतर उत्तर-प्रदेश में की जाती है और इसके उत्पादन में इसका प्रथम स्थान है। पंजाब, बिहार, बम्बई, मद्रास, मध्य-प्रदेश, बंगाल, आसाम और उड़ीसा में भी यह उत्पन्न किया जाता है। इस पर चीनी उद्योग निर्भर है। इसके उत्पादन में वृद्धि करने का यत्न किया जा रहा है। १९६०–६१ तक गन्ने का क्षेत्र बढ़ा

कड़ करने की योजना है जिसमे गन्ने का उत्पादन ७८ लाख टन

मान किया जाता है। तीसरी योजना में गन्ने के उत्पादन का ध्येय ६०

लाख टन रखा गया है।

(७)तिलहनः–यह एक सहायक फमल है। इसमें मुख्य सरसों, अलसी,
अण्डी, मूंगफली तथा बिनौले है। इनकी फसल प्रायः सारे देश में की
ा है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इनके उत्पादन का लक्ष्य ६० लाख टन
र्धारित किया गया है।

(८) दालें:–कुछ दालें रबी की फमल है और कुछ खरीफ की। यह
ी प्रायः सारे देश में पैदा की जाती है। १९५५–५६ में इनका कुल उत्पादन
१ करोड़ टन था।

(९) आलूः–यह उत्तर-प्रदेश, पंजाब, बिहार, पश्चिमी बंगाल, बम्बई,
मद्रास तथा मध्य प्रवेश में पैदा किया जाता है। इसकी वर्ष में कई फसलें
उत्पन्न की जाती हैं। भारत की कुल उत्पत्ति का ४५% उत्तर प्रदेश में पैदा
होता है।

(१०) चायः–इसकी उपज पहाड़ी ढालों पर होती है। भारत में लग–
भग ८ लाख एकड भूमि पर इसके बाग है। इन बागों की संख्या ६००० है।
आसाम में भारत की कुल उपज का ५५% भाग उत्पन्न होता है तथा बंगाल में
दार्जिलिंग की पहाड़ियों पर २५%, केरल, मद्रास, उत्तर-प्रदेश पंजाब तथा त्रिपुरा
के पहाड़ी स्थानों पर इसके बाग लगे हुए हैं। भारत से इसका निर्यात किया
जाता है। चाय की खपत में वृद्धि करने के लिए **Tea Board** कार्यशील है।

(११) कहवाः–चाय की भांति यह भी पहाड़ी ढालों पर उगाया जात
है। भारत की कुल उत्पत्ति का ५०% भाग मैसूर में पैदा होता है और शे
मद्रास तथा केरल में। इसमे करीब १० करोड़ रुपए की प्रतिवर्ष आ
होती है।

(१२) कपासः—भारत की कपास का ६०% भाग दक्षिण भारत
पैदा होता है। अधिकांश बम्बई और मध्य प्रदेश में उत्पन्न किया
है धीरे २ आन्ध्र, मद्रास,पंजाब तथा राजस्थान में भी इसकी फसल तैया
जाने लगी है। दूसरी योजना का ध्येय बिन्दु ६५ लाख गांठें और तीस
७२ लाख टन है। देश में उत्पन्न होने वाला कपास हमारी सूती मि

आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त नहीं है। मिश्र की प्रणाली को अपनाकर इसके उत्पादन में वृद्धि करने का यत्न किया जा रहा है।

(१३) जूटः—विभाजन के पहले जूट के उत्पादन में संसार में भारत का प्रथम स्थान था परन्तु अब जूट के उत्पादन का प्रमुख भाग पाकिस्तान (पूर्वी बंगाल) में चला गया है। जूट की अधिकतर मिलें भारत में हैं। अतः जूट के उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न किया जारहा है। पश्चिमी बंगाल, बिहार, आसाम, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और आन्ध्र मे जूट का खेती की जाने लगी है। १६५८-५६ में इसकी उपज ५१.७८ लाख गांठें थीं और तीसरी योजना का लक्ष्य ६५ लाख गांठें रखा गया है। पश्चिमी बंगाल कुल उत्पत्ति का ५०% और बिहार २०% जूट पैदा करता है।

(१४) तम्बाकूः—भारत में प्रायः सभी स्थानों पर इसकी थोड़ी बहुत मात्रा में उत्पत्ति की जाती है। तम्बाकू उपज में भारत का संसार में दूसरा स्थान है। देश की कुल उपज का ४०% तम्बाकू आन्ध्र पैदा करता है। बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, पंजाब और मध्य प्रदेश में इसकी खेती की जाती है। इसके उत्पादन मे देश को ४० करोड़ की आय होती है और प्रतिवर्ष १६ करोड़ रु० की तम्बाकू का निर्यात किया जाता है।

भारत एक कृषि प्रधान देश है परन्तु उसकी प्रायः प्रत्येक उपज अन्य देशों की तुलना मे प्रति एकड़ के हिसाब मे काफी कम है। उसकी उपज देश की अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं है। उसे अन्य विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। देश की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए बंजर पड़ी हुई भूमि को खेती योग्य बनाना चाहिए। सिंचाई के साधनों का विकास करना चाहिये। नहरों का जाल बिछाना चाहिए ताकि एक वर्ष में दो फसलें होना संभव हो सके और वर्षा की अनिश्चितता की भयंकरता से बचा जा सके। कृषि में अच्छे खाद, बीज तथा अन्य रासायनिक उर्वरक पदार्थों का प्रयोग किया जाना चाहिए। खेती के पुराने तरीकों को त्याग कर उनके स्थान पर आधुनिक तरीकों से मशीनों द्वारा खेती की जानी चाहिए। फसलों का हेर फेर करना चाहिए। जोत के क्षेत्र को बढ़ाना चाहिए। इसके लिए सहकारी खेती को प्रोत्साहन देना चाहिए। अधिक से अधिक रूप में विकसित तरीकों को अपनाना चाहिए। जैसे चावल के लिए जापानी [illegible] प्रणाली आदि।

यदि देश अपनी कृषि में आधुनिक तरीकों का जो विश्व के अन्य देशों में प्रचलित हैं प्रयोग करता है तथा अच्छे बीज और खाद का प्रयोग करता है तो अवश्य ही कुछ वर्षों में वह पूर्णतया स्वावलम्बी हो सकेगा और खाद्य पदार्थों तथा अन्य सामग्री मंगवाने में जो विदेशी विनिमय चला आता है उसे बचाया जा सकेगा।

Q. 12. भारतीय कृषि के पिछड़े होने के क्या कारण हैं, समझाइये तथा उसके सुधार के लिए अपने सुझाव दीजिए।

(Nag. 45, Sagar 50, Raj. 60)

Ans. भारत एक कृषि प्रधान देश है। १९५१ की जन-गणना के अनुसार इस व्यवसाय में करीब ७०% लोग लगे हुए हैं। राष्ट्रीय आय समिति के अनुमान के अनुसार १९५६–५७ में राष्ट्रीय आय का ४७.७% कृषि और पशु पालन से प्राप्त हुआ था। कृषि से हमें न केवल आवश्यक खाद्य पदार्थ प्राप्त होते हैं वरन् वह सामग्री भी प्राप्त होती है जिनका कच्चे माल के उपज में कई उद्योग धन्धों में प्रयोग किया जाता है। कृषि पर देश का बजट निर्भर करता है। परन्तु इतना महत्व होने पर भी कृषि की दशा अत्यन्त शोचनीय है। डाक्टर क्लाप्रस्ट के अनुसार "भारत में हमारी अछूत और पिछड़ी हुई जातियां तो हैं ही, उद्योग धन्धे भी पिछड़े हुए है तथा दुर्भाग्यवश कृषि उनमें से एक है।" हमारे देश मे प्रति एकड़ उत्पादन विदेशों की अपेक्षा काफी कम है। उदाहरण के लिए १९५३–५४ में चावल की प्रति–एकड़ उत्पत्ति ७९१ पौंड थी जब कि जापान की ३३२१ पौंड थी। कपास का प्रति एकड़ उत्पादन ९१ पौंड है और मिश्र का ५९० पौण्ड। अतः हम यह कह सकते है कि भारत की कृषि उन्नत अवस्था मे नहीं है। इसके पिछड़े होने के कारण निम्नलिखित हैं :–

(१) वर्षा की अनिश्चितता :—भारतीय कृषि लगभग पूर्ण रूप से वर्षा पर निर्भर है। यदि किसी वर्ष वर्षा अधिक आती है तो बाढ़ के कारण फसल नष्ट हो जाती है और कम हुई तो अकाल पड़ता है। राजस्थान मे वर्षा काफी कम होती है।

(२) खेती का पुराना ढंग:—भारत के कृषक इस मशीन युग में अब भी लकीर के फकीर बने हुए है। कृषि के लिए वह अब भी अपने पुराने औजारों का प्रयोग करते हैं।

(३) अच्छे खाद और बीज की कमी :—देश के किसान कृषि उपज को सुधारने के लिए अच्छे खाद का प्रयोग नहीं करते। बहुत सी खाद उपलों के रूप में जला दी जाती है। हड्डी तथा मछली के खाद का प्रयोग नहीं किया जाता है। किसान बीज की ओर विशेष ध्यान नहीं देते और जैसा भी उन्हें मिल जाता है वो देते है। बीज खराब होने के कारण फसल भी अच्छी नहीं होती।

(४) दुर्बल पशु :—कृषि यहाँ हल और बैल द्वारा की जाती है। परन्तु भारतीय कृषि का यह सहारा घटिया नस्ल का और निर्बल होता है।

(५) भूमि का उप विभाजन :—खेत दूर दूर है और उनका क्षेत्र भी काफी छोटा है। इसके कारण बहुत सारी जमीन फेनसिंग में बेकार चली जाती है। बीज, खाद और उपज को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में काफी समय, शक्ति और सम्पत्ति का अकारण ही व्यय होता है।

(६) भूमि का कटाव :—इसके कारण भूमि की उपजाऊ शक्ति कम होती जा रही है और यह विस्तृत खेती के योग्य नहीं रही है।

(७) अकुशल कृषक :—देश के अन्य श्रमिकों के भांति हमारे कृषक अधिक कार्य-कुशल नहीं है। खेती की शृंखला में सबसे निर्बल कड़ी किसान स्वयं है। भारतीय किसान भाग्यवादी है। इस कारण जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसीमें संतुष्ट रहते हैं। 'कम खाना और गम करना' उनके जीवन का उद्देश्य बन गया है। इसके कारण उनका जीवन-स्तर भी काफी निम्न स्तर का बन गया है जिसका विपरीत प्रभाव उनकी कार्य-क्षमता पर पड़ता है।

(८) पूंजी का अभाव :—किसान स्वयं अन्नदाता होते हुए भी निर्धन है। अपनी कृषि में सुधार करने के लिए उसके स्वयं के पास धन नहीं है और न ही पूंजी प्राप्त करने की सुविधाएं उपलब्ध हैं। उनके पास खाद, बीज, औजार आदि खरीदने के लिए आवश्यक पूंजी नहीं होती है।

(९) कर्ज का भार :—पूंजी की कमी होने के कारण उसे अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं को खरीदने के लिए धन महाजन से कर्ज के रूप में लेना पड़ता है। अधिकतर किसान बहुत सारा कर्जा अनुत्पादक कार्यों के लिए लेते है। जैसे विवाह, मृत्यु भोज आदि के लिए। महाजन उनकी विवशता से लाभ उठाकर ऊंची सूद की दर लेता है। यह ठीक ही है कि भारतीय किसान कर्ज में पैदा होता है, कर्ज में पलता है और उसकी मृत्यु कर्ज में ही होती है।

(१०) बिक्री की सुविधाओं का अभाव :—कृषि की फसल की बिक्री के लिए उचित प्रबन्ध नहीं है। किसान को अपना कर्ज चुकाने के लिए रुपए की आवश्यकता होती है। यातायात के साधनों के अभाव में उसे कई बार अपनी उपज गाँव में ही बेच देनी पड़ती है। पूर्ति अधिक होने के कारण उसे काफी कम मूल्य मिलता है। मंडी में उनकी आढ़त, दलाली, तुलाई और धर्मादा आदि के लिए काफी खर्च करना पड़ता है। कई बार महाजन स्वयं उससे उसकी फसल कर्ज के बदले में ले लेता है और उसे काफी कम मूल्य देता है।

(११) सहायक-उद्योग धन्धों का अभाव :—भारतीय कृषि पूर्ण रूप से वर्षा पर निर्भर है। वर्षा वर्ष में कुछ महीनों ही होती है। अतः बाकी के समय में किसान बेकार ही बैठा रहता है। सहायक उद्योग धन्धों के न होने पर उसका समय व्यर्थ चला जाता है और उसके परिवार के इन सदस्यों का जो बेकार पड़े रहते है रोजगार प्राप्त नहीं होता है। सहायक धन्धों के अभाव में उसकी आय कम रहती है।

(१२) कृषि पर जन भार की वृद्धि :—सहायक उद्योग धन्धों के अभाव में कृषि पर जन-संख्या के भार का बढ़ जाना स्वाभाविक है। इससे भूमि का उपविभाजन और अपखण्डन हो जाता है। किसान की आय कम हो जाती है।

(१३) लगान नीति :—श्री आर० सी० दत्त का कहना है कि भारत मे लगान निरन्तर बढ़ रहा है और वह काफी सख्ती से वसूल किया जाता है। इस कारण उसे चुकाने के लिए कृषक को गांव के महाजन से कर्ज लेना पड़ता है और अपनी फसल उस समय बेचनी पड़ती है जब बाजार में उसकी पूर्ति अधिक होने के कारण भाव कम होते है।

(१४) कीड़ों द्वारा नुकसान :—ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि कीड़ों द्वारा देश को १०% से २०% तक उपज नष्ट कर दी जाती है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि १९५८–५९ मे कीड़ों के द्वारा खेतों पर से ८० लाख टन अनाज नष्ट कर दिया गया है। टिड्डी दल के आक्रमण पर तो वह प्रायः नष्ट ही हो जाती है।

सुधार के लिए उपाय :—भारतीय कृषि की हीन दशा को सुधारने के लिए अथक प्रयत्नों की आवश्यकता है। वर्षा की अनिश्चितता की भयंकरता को दूर करने के लिए सिचाई के साधनों का विकास करना चाहिए। इससे दो

फसलें भी प्राप्त करना संभव होगा। कृषि में उत्तम बीज, खाद तथा उत्तम रासायनिक पदार्थों का प्रयोग किया जाना चाहिए। खेती में आधुनिक तरीकों (ट्रैक्टर आदि) का प्रयोग आरम्भ करना चाहिए। पशुओं की नस्ल को सुधारना चाहिए। खेत की जोत को बढाना चाहिए तथा सहकारी खेती को प्रोत्साहन देना चाहिए। किसानों को उत्पादक कार्य के लिए कम सूद पर कर्ज देने की व्यवस्था होनी चाहिए। इसके लिए सहकारी बैंक तथा कृषि बैंक आरम्भ करने चाहिए और उनका विकास करना चाहिए। खेती में सुधार करने के हेतु अनुसन्धान कार्य करना चाहिए। जहां संभव हो सके, विदेशी रीति को अपनाना चाहिए जैसे चावल के लिए जापानी रीति को। कृषि की उपज की बिक्री के लिए सहकारी बिक्री समितियां स्थापित करनी चाहिए। कृषि-बिक्री विभाग बिक्री व्यवस्था को सुधारने का प्रयत्न कर रहा है। कीटों से होने वाले नुकसान को रोकना चाहिए। टिड्डी दल से रक्षा करने का उचित प्रबन्ध हो। देश में सहायक कुटीर उद्योग धन्धों का विकास किया जाय। इससे किसान को पूरे वर्ष के लिए कार्य मिलेगा और उसकी आय में वृद्धि होगी। उससे जीवन स्तर में सुधार होने पर उसकी कार्य-कुशलता भी बढ़ेगी। कुटीर उद्योगों के विकास होने पर कृषि पर जनसंख्या का भार कम होगा और उपविभाजन की हानि से बचाया जा सकेगा। कुटीर उद्योगों के महत्व को ध्यान में रखकर ही द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उनके विकास के लिए २०० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। सरकार को अपनी नीति में परिवर्तन करना चाहिए। जब कभी आवश्यक हो लगान दर कम करनी चाहिए। समय २ पर किसानों को तकावी देनी चाहिए और उनकी वसूली में सख्ती नहीं की जानी चाहिए।

अगर उपरोक्त सुधारों को कार्यशील किया गया तो कुछ ही वर्षों में भारत कृषि क्षेत्र में अन्य देशों के समान हो जायगा। यह न केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर पायेगा बल्कि विदेशों को भी काफी मात्रा में सामग्री निर्यात कर सकेगा।

Q. 13. भारत में सिंचाई के साधनों का महत्व बताते हुए, विभिन्न सिंचाई के साधनों का वर्णन कीजिए तथा सिंचाई की नवीन योजना का वर्णन कीजिए।

Ans. भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहां पर कृषि पूर्ण रूप से वर्षा पर निर्भर रहती है। वर्षा अनियमित और अनिश्चित रहती है

कारण सदा बाढ़ या अकाल का भय बना रहता है। इस कारण सिंचाई का महत्व बढ़ जाता है।

सिंचाई का महत्व :–

(१) अनिश्चित वर्षा :—वर्षा अनियमित और अनिश्चित होती है और वर्ष में केवल चार महीनें होती है। वर्षा से खरीफ का फसल प्राप्त हो सकती है। वर्षा की अनिश्चितता का मुकाबला सिंचाई के साधनों का विकास करके किया जा सकता है। रबी की फसल भी प्राप्त की जा सकती है। उन स्थानों पर भी कृषि की जा सकती है जहां वर्षा की कमी है। सिंचाई के साधन उपलब्ध होने पर राजस्थान की बंजर भूमि भी कृषि योग्य हो जायेगी।

(२) अधिक पानी चाहने वाली फसलें :–कुछ फसलें जैसे गन्ना, चावल, जूट आदि को अधिक तथा नियमित रूप से पानी की आवश्यकता होती है। इस कारण उनके लिए सिंचाई के साधनों का बहुत महत्व है।

(३) अधिक फसलें :–सिंचाई के साधन उपलब्ध होने पर जिन स्थानों में वर्षा से केवल एक ही फसल प्राप्त की जाती है, वहां से दो या इससे अधिक फसलें प्राप्त करना संभव हो सकेगा।

(४) कृषि उत्पादन में वृद्धि :–अधिक फसलें होने पर तथा सिंचाई की सुविधा के कारण बंजर भूमि पर कृषि की संभावना हो जाने के कारण कृषि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होगी।

(५) कृषि का व्यापारीकरण :—सिंचाई के साधन उपलब्ध होने के कारण कृषि का व्यापारीकरण हो गया है। कृषि-उपज का विदेशों में निर्यात किये जाने लगा है।

(६) सरकारी आय में वृद्धि :–बेकार पड़ी हुई भूमि पर खेती होने पर सरकार को इससे मालगुजारी प्राप्त होगी। सिंचाई के साधनों के सरकार को आय प्राप्त होगी। १९५०–५१ में सरकार को इन साधनों से १४ करोड़ रुपए की आय-प्राप्त हुई थी।

सिंचाई का देश के आर्थिक जीवन में काफी महत्व है। इससे कृषि उत्पादन में वृद्धि होगी। बेकार भूमि कृषि योग्य हो जायेगी। अकाल का भय समाप्त होगा और सरकारी आय में वृद्धि होगी।

सिंचाई के साधन :—

(१) कुंए :–प्राचीन काल से यह सिंचाई का सस्ता और सुगम साधन है। इनके द्वारा देश की कुल सींची हुई भूमि की लगभग २५% भूमि सींची

जाती है। देश में करीब २५ लाख कुएं हैं। 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारें ट्यूब वेलस को बनाने का प्रोत्साहन दे रही हैं। १९५५ के अन्त तक २२८६ ट्यूब वेलस बनाए गए थे। प्रथम पंचवर्षीय योजना में ४,४२२ ट्यूब वेलस का निर्माण किया गया तथा द्वितीय योजना में ३५८१ बनाने की योजना है। इनसे ९ लाख एकड़ भूमि की सिचाई की जा सकेगी।

(२) तालाबः—तालाबों का निर्माण उन स्थानों पर किया जाता है जहां कुऐं और नहरों का बनाना कठिन होता है। यह भी कुएं की भांति प्राचीन काल से भारत में सिचाई का प्रमुख साधन रहा है। इनसे करीब १२% सिचाई की जाती है। तालाबों की संख्या दक्षिण भारत में अधिक है। वहां यह ४०,००० हैं।

(३) नहरें:—नहर भी सिचाई का मुख्य साधन है। संसार में सबसे अधिक नहरें हमारे देश में हैं। ये लगभग ६० हजार मील लम्बी हैं और उनके द्वारा करीब ७५ लाख एकड़ भूमि की सिचाई होती है। सन् १९५३–५५ में कुल ५४.४ मिलियन एकड़ सिंचित भूमि का २२.४ मिलियन एकड़ भाग नहरों द्वारा सींचा गया था। इन नहरों में ८० करोड़ से भी अधिक रुपया लगा हुआ है।

भारत की प्रमुख नहरें:—

उत्तर प्रदेशः—नहरों की संख्या के दृष्टिकोण से प्रथम स्थान है। देश की प्रमुख नहरें इसी प्रान्त में हैं।

(१) ऊपरी गंग नहरः—यह हरिद्वार में गंगा से निकाली गई है। यह नहर मेरठ, साहरनपुर, एटा, बुलन्दशहर व कानपुर आदि जिलों की लगभग दस लाख एकड़ भूमि की सिचाई के लिए जल प्रदान करती है। इस नहर पर सात स्थानों पर जल-विद्युत उत्पन्न की जाती है।

(२) निचली गंग नहरः—यह नहर बुलन्दशहर जिले में नरोरा नामक स्थान से निकाली गई है। इसके द्वारा अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, इटावा और कानपुर जिलों की भूमि की सिचाई की जाती है।

(३) पूर्वी जमना नहरः—यह नहर बोधरीवाला नामक स्थान से निकाली गई है। इसकी लम्बाई ६०० मील है और लगभग ४ लाख एकड़ भूमि की सिचाई करती है। (सहारनपुर, मेरठ और मुजफ्फरनगर

यह नहर दिल्ली के पास यमुना में मिल जाती हैं।

(४) आगरा नहरः—यह नहर दिल्ली के पास स्थित ओखला नामक स्थान से निकाली गई है। यह आगरा, मथुरा तथा भरतपुर जिलों की भूमि को सिंचाई करती है। इससे ४.४७ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती है।

(५) शारदा नहरः—यह वर्भदेव नामक स्थान में शारदा नदी से निकाली गई है। वह अवध और रूहेलखण्ड जिलों की भूमि की सिंचाई करती है। इसके द्वारा १६.७२ हजार एकड़ भूमि की सिंचाई होती है।

पंजाबः—

(१) पश्चिमी जमना नहरः—यह नहर अम्बाला जिले के ताजवाला नामक स्थान से निकाली गई है। इससे करनाल, हिसार, देहली व राजस्थान के कुछ प्रदेशों की सिंचाई की जाती है। यह प्रतिवर्ष करीब ८ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करती है।

(२) सरहिन्द नहरः—यह सतलज नदी से रूपर नामक स्थान से निकाली गई है। इससे लुधियाना, फीरोजपुर व हिसार जिलों की सिंचाई की जाती है।

(३) अपरबारी दोआब नहरः—यह रावी नदी से माधोपुर नामक स्थान से निकाली गई है। वह अमृतसर और गुरूदासपुर जिलों की भूमि की (लगभग २ लाख एकड़) सिंचाई करती है।

मद्रासः—

(१) पैरियर नहरः—इससे मदुरा जिले में सिंचाई की जाती है। लगभग १० लाख एकड़ भूमि को वह सींचती है।

(२) कावेरी मैटूरः—इससे १३ लाख एकड भूमि की सिंचाई होती है।

बम्बईः—

(१) लायड बांधः—यह कृष्णा नदी की एक सहायक नदी पर बनाया गया है। इससे पूना और शोलापुर जिलों की भूमि की सिंचाई की जाती है।

(२) मंदरदारा बांधः—इससे भी नहरें निकाली गई हैं और अहमद नगर जिले में करीब ६० हजार एकड़ भूमि की सिंचाई की जाती है।

राजस्थानः—राजस्थान में वर्षा काफी कम होती है और उसका अधिकतर भाग रेगिस्तान है।

अतः सिंचाई के साधनों की सुविधा काफी कम है।

(१) राजस्थान नहर :–यह नहर पंजाब में से सतलज और व्यास के संगम के पास बन रहे बांध से निकाला जायेगी। इसकी लम्बाई ४७५ मील, चौड़ाई १३४ फीट और गहराई २१ फीट होगी। इसकी कुल लागत ६६ करोड़ रुपए होगी। इससे हनुमानगढ़, जैसलमेर तथा रामगढ़ के प्रदेशों की सिंचाई की जा सकेगी। इसके निर्माण और आरम्भ के बाद भारत का रेगिस्तान अन्नालय में बदल जायेगा।

(२) इसके अलावा चम्बल और जवाई योजना के अन्तर्गत उन बांधों से भी नहरें निकाली जाएंगी [देखिये प्रश्न १०]

सिंचाई की नवीन योजनाओं के लिए (देखिए प्रश्न नं० १०)

Q. 14. भारतवर्ष में कृषि की फसल की बिक्री के दोष तथा उनके परिणामों का उल्लेख करते हुए उनके सुधारों के लिए उपाय बताइये।

Ans. प्राचीन भारत मे जब यातायात के साधनों का उचित विकास नहीं हुआ था, उस समय कृषि की उपज बड़े सीधे साधे तरीके से बेची जाती थी। प्रत्येक गांव प्रायः अपनी आवश्यकताओं के लिए आत्म निर्भर था। हमारे देश में किसान अपनी फसल का विक्रय गांव के महाजन जो उसे समय समय पर कर्ज देता है, कर देता है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि पंजाब में गेहूं की कुल उपज का ६०%, कपास का ३५% गांव में ही बेच दिया जाता है। अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से सामने आता है कि कृषक क्यों अपना माल गांव में ही बेच देता है जहां उसे उचित मूल्य भी नहीं मिलता और वह मण्डी तक जाने का कष्ट क्यों नहीं करता ? इसका मुख्य कारण बिक्री प्रथा के दोष हैं—

(१) संगठन का अभाव :—कृषि की फसल छोटे २ किसानों द्वारा थोड़ी २ मात्रा में मण्डी तक लाई जाती है। वहां पर दलाल, आढ़ती आदि सगठित होते हैं जो किसानों की विवशता को भली भांति जानते हैं और उनसे लाभ उठाने में नहीं चूकते।

(२) मध्यस्थों की अधिकता :–मण्डी में किसान को अपनी आय का जो उसे फसल के विक्रय से प्राप्त होती है, काफी सारा हिस्सा दलालों, आढ़तियों को देना पड़ता है।

(३) मण्डी की लागत और अन्य प्रथा :–मण्डी में किसान से तुलाई,

धर्मादा आदि के लिए काफी रुपया ले लिया जाता है। नमूने के रूप में उसे अपनी उपज का काफी भाग दे देना पड़ता है।

(४) तोल में विभिन्नता :-व्यापारी किसान की अज्ञानता से अनुचित लाभ उठाते हैं। वह दो प्रकार के तोल रखते हैं। माल खरीदते समय वह गलत तथा ज्यादा तोल वाले बांटों का प्रयोग करते हैं।

(५) श्रेणी विभाजन का अभाव :-किसान लोग अपनी फसल को अलग २ भाग में उनकी श्रेष्ठता के आधार पर बांटने का प्रयत्न नहीं करते। उन्हें अच्छी और बुरी फसल के लिए प्रायः एक सा ही मूल्य दिया जाता है।

(६) यातायात के साधनों का अभाव :-गांव से मण्डी तक अच्छी सड़कों का अभाव है तथा यातायात के साधन भी उचित नहीं हैं। इससे माल ले जाने में काफी असुविधा होती है। माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में काफी व्यय होता है।

(७) मूल्य परिवर्तन की सूचना का अभाव :-किसान के पास ऐसा कोई साधन नहीं होता जिससे वह यह ज्ञात कर सके कि किसी वस्तु विशेष का कहां पर क्या भाव है। ऐसी स्थिति में वह व्यापारी द्वारा बताए गए भाव पर विश्वास कर लेता है और उसी कम मूल्य पर अपना माल बेच देता है।

(८) स्टोर करने के साधनों का अभाव :-किसान के पास अपनी उपज को अधिक समय तक संग्रहित करके रखने के लिए कोई व्यवस्था नहीं होती। इस कारण उसे ऐसे समय पर अपना माल बेचना पड़ता है जब बाजार में पूर्ति अधिक होने पर वस्तुओं का मूल्य कम होता है।

(९) महाजन :-किसान सदैव महाजन के कर्ज के नीचे दबा रहता है। महाजन उससे अपने कर्ज के बदले में उसका माल ले लेता है और उसकी विवशता से लाभ उठाकर उसे कम मूल्य देता है।

दुष्परिणाम :--इस प्रकार की बातों के कारण कई बुरे परिणाम होते हैं। किसान को अपने माल के उचित मूल्य से भी काफी कम मिलता है और फिर उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए महाजन से कर्ज लेना पड़ता है। वह कभी भी महाजन के चंगुल से नहीं निकलने पाता। उसका जीवन स्तर निम्न कोटि का हो जाता है और इसके कारण उसकी कार्य-कुशलता कम हो जाती है। उचित मूल्य न मिलने पर उसके पास धन

Q. 15. भारत में ग्रामीण ऋण ग्रस्तता के क्या कारण हैं? इस समस्या के समाधान हेतु सुझाव दीजिये।

(U. P. 38, 44, Raj. 49. 52. 55, Ajmer 49, 53)

Ans. भारतीय अर्थशास्त्र की सबसे बड़ी समस्या किसानों की भारी और अनुत्पादक ऋणग्रस्तता है। ऊल्फ का कथन है, कि देश महाजनों के चंगुल में फंसा हुआ है। ऋण की जंजीरों ने खेती को जकड़ रखा है। समय २ पर इस ऋण ग्रस्तता का अनुमान लगाया गया है। १८५७ के दक्षिण स्वलवा कमीशन के अनुमान के अनुसार ऋण की मात्रा प्रति किसान ३७१ रु० थी। १९११ में सर एडवर्ड मैकलागन के अनुसार कुल ऋण ३०० करोड़ रुपए था। केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति के १९३१ के अनुमान के अनुसार कुल ग्रामीण ऋण ९०० करोड़ रुपए थे। १९३५ में डा० राधा मल मुकर्जी द्वारा लगाए गए अनुमान के अनुसार वह १,२०० करोड़ रु० था और १९३८ में लगाए गए अनुमान के अनुसार वह १,८००२ करोड़ रु० था।

इस वृहत ग्रामीण ऋण ग्रस्तता के कारण निम्नलिखित हैं—

(१) निर्धनता:—ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता का प्रमुख कारण कृषकों की कम आय तथा उनकी निर्धनता है। उसे अपनी रोजाना की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए भी महाजनों से कर्ज लेना पड़ता है।

(२) भूमि पर जन संख्या का अधिक दबाव:—कुटीर उद्योग धन्धों के अभाव, व्यवसायों के ग्रामीणीकरण तथा जन-संख्या की वृद्धि के कारण भूमि पर जन-भार अधिक हो गया है। इस कारण प्रति व्यक्ति आय काफी कम हो गई है और कृषक को अपना साधारण से जीवन-निर्वाह तक के लिए महाजन से कर्ज लेना पड़ता है।

(३) उप विभाजन तथा अपखण्डन:—खेतों के दूर २ तक बिखरे होने के कारण तथा उनका क्षेत्र काफी कम होने के कारण किसान को अच्छी आय प्राप्त नहीं हो पाती और उसे कर्ज लेने के लिए वाध्य होना पड़ता है।

(४) कुटीर उद्योगों का विनाश:—प्राचीन भारत में यह उद्योग धन्धे अपनी उन्नति की चरम सीमा पर थे परन्तु कालान्तर में कई कारणों से उनका विनाश हुआ। कृषक के पास कोई सहायक पेशा नहीं रहा जिसको वह अपने वेकार समय में अपना कर अपनी आय में वृद्धि कर सके। कुटीर उद्योग के विनाश के कारण भूमि पर जन-भार भी बढ़ गया है।

(५) शारीरिक अस्वस्थता—इस कारण उनकी कार्य कुशलता कम हो जाती है जिसका विपरीत प्रभाव कृषि पर पड़ता है।

(६) फसलों की अनिश्चितता:—भारतीय कृषि वर्षा पर पूर्णतया निर्भर है। वर्षा अनियमित और अनिश्चित होती है। अतः कृषि वर्षा के साथ एक प्रकार का जुआ है। प्रति पांच वर्ष में एक वर्ष अच्छा, एक बुरा और शेष मध्यम रहते हैं। टिड्डी तथा अन्य कीड़ों द्वारा फसल को काफी नुकसान पहुंचाया जाता है। किसान फिर ऋण लेने के लिए विवश हो जाता है।

(७) मुकदमेबाजी:—भारतीय कृषक जरा सी बात पर कोर्ट का सहारा लेते हैं। न्यायालय तथा वकीलों की फीस तथा पेशियों के समय शहर आने जाने में उनका बहुत सारा धन व्यय हो जाता है। इन सब के लिए उसे ऋण लेना पड़ता है।

(८) पैतृक ऋण:—किसान को उसके ऋण का अधिकांश भाग उसे वसियत में मिलता है। वह पैतृक ऋण को इज्जत का ऋण मानता है। अधिकतर किसान ऋण में जन्म लेते हैं, पलते हैं और मृत्यु पर अपने ऋण का भार अपने पुत्रों पर डाल जाते हैं।

(९) अदूरदर्शी व्यय:—यद्यपि साधारणतया भारतीय किसान सादा और मितव्ययी जीवन व्यतीत करता है, परन्तु फिर भी वह विवाह, मृत्यु भोज, नामकरण संस्कार आदि विशेष अवसरों पर अपनी समर्थता से भी अधिक व्यय करता है। यह अपव्यय वह सामाजिक रीति-रिवाजों की कठोरता और अपनी अज्ञानता के कारण करता है। वह इन कार्यों के लिए महाजन से ऋण लेता है और एक बार उसके चुंगल में फंसने के बाद वह आसानी से उससे छुटकारा नहीं पा सकता।

(१०) साहूकार और सूद खोरी:—भारतीय ग्रामों की एक विशेषता साहूकारी काम रहा है। पंचायतों के समाप्त हो जाने से कृषक असहाय हो गए है और दीवानी न्यायालयों के कारण उनकी स्थिति काफी विरुद्ध हो गई। साधारण भारतीय कृषक का जीवन निर्वाह येन केन प्रकारेण होता है। महाजन उनकी विवशता से लाभ उठाकर सदैव उनसे ऊंची की दर लेते है। वह बहुधा कृषक की निरक्षरता, अज्ञानता तथा अभाव

से अनुचित लाभ उठा कर कई बार अग्रिम ब्याज की मांग करता है, ऋण देते समय गिरह खुलाई मांगता है तथा ऋणी के अहित में हिसाब लिखता है।

(११) सरकार की भूमि कर नोतिः—श्री आर० सी० दत्त के अनुसार भूमि कर का अधिक होना तथा उसकी वसूली के समय बरती जाने वाली कठोरता भी ग्रामीण–ऋण ग्रस्तता का एक प्रमुख कारण है।

दूर करने के उपायः—ग्रामीण ऋणग्रस्तता भारतीय कृषि की एक विकट समस्या है जिसका हल शीघ्र ही किया जाना चाहिए। इसके लिए निम्नलिखित उपाय काम में लाने चाहिएः—

(१) अनावश्यक ऋण लेने से बचाने के उपायः—कृषकों में अधिक से अधिक शिक्षा का प्रसार कर उनकी अज्ञानता को दूर करने का यत्न किया जाना चाहिए। अकाल तथा अन्य कठिन परिस्थितियों में लगान माफी तथा वसूली स्थगित करने की नीति अपनानी चाहिए। कृषको को पूंजी का संचय करने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु डाक खानों में सेविंगज बैंक खोले गए हैं।

(२) भूमि के हस्तान्तरण पर रोकः–किसान के हाथों से भूमि निकल कर साहूकार के हाथों में चली गई है। इससे भूमि रहित श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हुई है। साहुकार प्रायः किसान की ऋण चुकाने को असमर्थता से लाभ उठाकर उसकी भूमि उससे छीन लेता है। इस प्रवृति को रोकने के लिए सबसे पहले पंजाब ने भूमि हस्तान्तरण अधिनियम (१९१०) बनाया।

(३) साहुकारों को प्रभावित करने वाले नियमः–साहूकारों की अनुचित कार्यवाही पर रोक लगाने के लिए नियम बनाए जाने चाहिए तथा उनका पालन कठोरता के साथ किया जाना चाहिए। उनके लिए लाइसेंस और रजिस्ट्रेशन की प्रथा आरम्भ की गई है। १९३४ में प्रायः सभी राज्यों ने यह नियम बनाया था कि साहुकार उचित लेखा रखें जिसमें हर लेन देन को दिखाया जाय तथा समय समय पर या मांगने पर ऋणी को मूल तथा ब्याज का लेखा दें तथा जो कुछ रकम वह ऋणी से प्राप्त करता जाय उसको रसीद उसे दे। इस नियम का कोई आशाजनक परिणाम नहीं निकला। अब सरकार ने इसका कठोरता से पालन करना आरम्भ कर दिया है। ब्याज की दर भी निर्धारित करदी है।

(४) अनिवार्य रूप से ऋण को कम करनाः—मध्य प्रान्त तथा

बरार ऋणिता सहायता अधिनियम १६३६ द्वारा ऋण समझौता परिषदों का स्थान ऋण सहायता न्यायालयों ने ले लिया। उन्होंने कृषकों को काफी सहायता दी। कुछ राज्यों में ऐच्छिक आधार पर पंच निर्णय द्वारा बकाया ऋण की रकम को किश्तों में चुकाने की व्यवस्था की गई है। कुछ राज्यों मे अनिवार्य रूप से कर्ज कम करने के लिए अधिनियम भी बनाए गए हैं। इस कार्य को अधिक वेग मिलना चाहिए।

(५) तकावी प्रथा:—वर्तमान ऋण को समाप्त करना या उसमें कानून के द्वारा अपेक्षाकृत कमी करना उतना कठिन नहीं है जितना किसानों को ऋणिता की दशा से बचाना। सरकार को चाहिए की वह किसानों को उत्पादक कार्यों के लिए तकावी दे! ऋण दिलाने में विशेष विलम्ब नहीं होना चाहिए तथा उसकी वसूली में अनावश्यक सख्ती नहीं की जानी चाहिए।

(६) कृषि साख—ग्रामीण साख सर्वेक्षण रिपोर्ट में एक फ्रांसीसी कहावत का हवाला दिया गया है कि "कर्ज किसान की उसी तरह से सहायता करता है जिस तरह रस्सी फांसी पर लटके हुए व्यक्ति की करती है।" किसान को कई बार ऋण लेना आवश्यक हो जाता है। उसे वह शीघ्रता से तथा सस्ते सूद की दर पर प्राप्त होना चाहिए ताकि वह महाजन के चंगुल में न फंस सके। उसे चालू उत्पादन के लिए अल्पकालीन ऋण देना चाहिए। कुएं, मशीनें तथा बैल आदि के लिए मध्यमकालीन तथा पुराने ऋण को चुकाने के लिए, भूमि खरीदने के लिए और उसमें स्थायी सुधार के लिए दीर्घ-कालीन ऋण दिया जाना चाहिए। सरकारी बैंकों की स्थापना की जानी चाहिए जो उन्हें काम दर पर ऋण दे सके। रिजर्व बैंक इस दिशा में कदम उठा रही है।

Q. 16. भारत में भूमि के उपविभाजन तथा अपखण्डन के क्या कारण हैं? इनके दोषों को दूर करने के लिए किन उपायों को काम में लिया जाना चाहिए? (Agra 54, 57, Rajputana 54)

Ans. भारत एक कृषि प्रधान देश है। भारत में खेतों का क्षेत्रफल अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। भारत का औसत फार्म ५ एकड़ होता है। जबकि अमेरिका का १५ एकड़ का और इंगलैंड का २१ एकड़ का। खेतों के छोटे २ होने का अर्थ है एक व्यक्ति की भूमि का उत्तराधिकार [illegible] कारण कई छोटे २ भागों में विभक्त हो जाना। १६५० की एक

आधार पर यह पता चला है कि पश्चिमी बंगाल के हुगली जिले के एक खेत का औसत क्षेत्रफल २.६७ एकड़ था। इसके कृषक का काफी श्रम, समय तथा धन व्यर्थ में व्यय होता है। भूमि पर स्थायी सुधार करना संभव नहीं हो पाता इस उपविभाजन के कारण निम्नलिखित हैः---

(१) उत्तराधिकार का नियमः—इंगलैंड में ज्येष्ठाधिकार का नियम प्रचलित है। इसके अनुसार पिता की मृत्यु पर भू-सम्पति का विभाजन नहीं किया जाता। वह सारी सम्पति ज्येष्ठ पुत्र को मिलती है। इस कारण वहां के खेत बड़े २ हैं। भारत में उत्तराधिकार के नियम के अनुसार पिता की सम्पति पर सब पुत्रों का एक समान अधिकार होता है। उसकी मृत्यु पर उसकी भू-सम्पति का उसके उत्तराधिकारियों में विभाजन होता है।

(२) कुटीर उद्योग धन्धों का विनाश तथा जन संख्या में वृद्धिः— प्राचीन भारत में कुटीर उद्योग उन्नति की चरम सीमा पर थे। देश के काफी लोग उनमें लगे हुए थे। कालान्तर में विदेशी माल की प्रतिस्पर्धा के कारण उनका विनाश हुआ। अंग्रेजों की नीति के कारण उसे प्रोत्साहन न मिल पाया और बेकारों की संख्या में वृद्धि हुई। अन्य उद्योगों के अभाव में वह कृषि पर आश्रित हो गए जिसके कारण उपविभाजन की समस्या का उदय हुआ। इसके अलावा देश की जन संख्या भी काफी तीव्र गति से बढ़ती जा रही हैं। उद्योग धन्धों का विकास नहीं हो रहा है। भूमि को मात्रा सीमित है। इस कारण भूमि पर आश्रित मनुष्यों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है। उद्योग के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार को भू-सम्पति का अपना हिस्सा प्राप्त करने के लिए तत्पर रहता है। भूमि पर आश्रित जन संख्या का अनुपात १९३१ के आंकड़ों के अनुसार ६६% था और १९५१ के आकड़ों के अनुसार वह ७०% था।

(३) व्यक्तिवादी भावनाः---जब देश में संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित थी। उस अवस्था में परिवार के समस्त सदस्यों की सम्पति सामूहिक और अविभाजित थी। उस समय खेतों के विभाजन का कोई प्रश्न न था। परन्तु वर्तमान युग में संयुक्त परिवार प्रथा नष्ट होती जा रही है और व्यक्तिवादी भावना का विकास होता जा रहा है। इस परिवर्तन के कारण उपविभाजन की समस्या और भी अधिक विकट बन गई है।

(४) साझे की प्रथा---अधिकतर भू-स्वामी अपनी भूमि पर स्वयं

कृषि नहीं करते हैं। वह अपनी सारी भूमि एक किसान को कृषि के लिए नहीं देते परन्तु उसे कई किसानों को देते हैं। इससे भूमि का स्वामित्व का अखण्ड रहता है परन्तु वह भूमि उसकी नीति के कारण कई पृथक २ छोटे भागों में विभाजित हो जाती है।

(५) भूमि में आसक्तिः—भारतीय कृषकों को अपने पूर्वजों की भूमि से विशेष स्नेह होता है जिसे छोड़ कर वह कहीं भी जाना पसन्द नहीं करते। वह कृषि के अलावा अन्य किसी व्यवसाय को अपनाना नहीं चाहते।

इन कारणों के अतिरिक्त बलजीत के मतानुसार जाति प्रथा भी इसके लिए उत्तरदायी है। उनके अनुसार चमार लोगों के पास जाटों की तुलना में निम्न श्रेणी के यन्त्र होते हैं और खेत भी छोटे और कम उपजाऊ होते हैं।

सुधार के उपायः—

(१) ज्येष्ठाधिकार का नियमः—उपविभाजन की समस्या का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए हमारे उत्तराधिकार नियम में संशोधन कर इंगलैंड वाले नियम को अपना लेना चाहिए।

(२) सामूहिक खेतीः—उपविभाजन तथा अपखण्डन के दोषों का हल करने के लिए कई बार यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि भारत को भी रूस की भांति अपनी समस्त भूमि का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिए तथा बड़े २ फार्म पर मजदूरी पर कृषि कराई जानी चाहिए। भारत में इसे सफलता पूर्वक अपनाना सम्भव नहीं है।

(३) सहकारी खेतीः—इस प्रथा के अनुसार भूमि का राष्ट्रीयकरण नहीं किया जाता बल्कि किसान स्वयं अपनी भूमि के स्वामी बने रहते हैं। वह सब कृषि के लिए अपनी भूमि को मिला एक इकाई के रूप में उसका प्रयोग करते हैं और उससे प्राप्त होने वाली उपज को आपस में बांट लेते हैं। इस प्रथा को अपनाने पर बाड़ बनाने में व्यर्थ जाने वाली काफी जमीन को बचाना संभव होगा। समय, श्रम और धन की बचत होगी और सुधार की योजनाओं का बनाना संभव होगा। इस रीति को अधिक से अधिक लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(४) चक बन्दीः—इसके अनुसार खेतों को आपस में अदला बदल कर उनकी जोत को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। इसका उद्देश्य प्रत्येक

कृषक को इतनी भूमि प्रदान करना है कि वह उत्तम खेती कर अपनी आर्थिक दशा में सुधार कर सके। सरकार को चाहिए कि वह किसानों को चक बन्दी से प्राप्त होने वाले लाभों से परिचित कराने का यत्न करे और उनको स्वेच्छा से वह कार्य करे। आवश्यकतानुसार सरकार को उसे कानूनन अनिवार्य भी कर देना चाहिए। बम्बई (१६४७), पंजाब (१६४८), दिल्ली (१६४८) और राजस्थान (१६५४) ने इस सम्बन्ध में कानून बनाए हैं।

(५) आर्थिक जोत का निर्धारण:—खेतों के उप विभाजन को ..न द्वारा रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। आर्थिक जोत का अर्थ है कि खेत का क्षेत्र इतना होना चाहिए जिससे औसत परिवार का जीवन-निर्वाह भली भांति उसकी आय से चल सके।

कभी २ यह भी तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि भूमि की अधिकतम सीमा भी निश्चित कर दी जानी चाहिए और यदि किसी व्यक्ति के पास निर्धारित सीमा से अधिक भूमि है तो उसे क्षति पूर्ति देकर उस अधिक भूमि को भूमि हीनों या सहकारी कृषि के लिए वितरित कर देनी चाहिए।

(६) उद्योग-धन्धों का विकास:—देश में बड़े तथा छोटे २ कुटीर उद्योग धन्धों का विकास किया जाना चाहिए ताकि रोजगार के लिए पर्याप्त अवसर प्राप्त हो सके और भूमि पर जन संख्या का भार कम हो।

Q. 17. उपविभाजन तथा अपखण्डन के लाभ तथा हानियों का वर्णन करते हुए उनके दोषों को दूर करने के उपायों के सुझाव दीजिए।

Ans. खेतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन से निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं—

(१) विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की भूमि प्राप्त होने के कारण किसान को कई प्रकार के जैसे चरागाह, गेहूं व चावल की जमीन प्राप्त होती है जिनमें विभिन्न प्रकार की फसलें पैदा की जा सकती हैं। इससे उसको विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

(२) विभिन्न प्रकार की फसलों के कारण कृषकों को पूरे वर्ष तक काम मिलता है।

(३) उपविभाजन से समाज के कृषक-स्वामियों के रूप में एक स्थिर तत्व उत्पन्न होता है।

(४) डा० राधा कमल मुकर्जी का कहना है कि उप विभाजन और अपखण्डन से सबसे बड़ा लाभ यह है कि उसे कई प्रकार की भूमि का प्रयोग करने को मिलता है बल्कि उसे वर्षा की अनिश्चितता से संरक्षण प्राप्त होता है। वर्षा की कमी के कारण एक स्थान की कृषि नष्ट हो सकती है परन्तु दूसरे स्थान की फसल उसे प्राप्त हो जाती है।

उपविभाजन और अपखण्डन में जितने लाभ प्राप्त होते हैं उससे कई गुनी अधिक उसे हानियां भी होती हैं:—

(१) खेतों की जोत छोटी होने के कारण बैलों तथा औजारों को पूरा काम नहीं मिल पाता। इससे प्रति इकाई की उत्पादन लागत में वृद्धि होती है।

(२) उपविभाजन के कारण बहुत सारी जमीन बाड़ लगाने में व्यर्थ चली जाती है। फसल की रक्षा का कार्य मुश्किल बन जाता है।

(३) छोटे २ खेतों में सुधार करना सम्भव नहीं हो सकता। उनमें कुआ खोदना तथा बड़ी मशीनों का प्रयोग करना लाभहीन साबित होता है।

(४) श्रम बचत के उपायों तथा यांत्रिक खेती को नहीं अपनाया जा सकता।

(५) दूर २ स्थित खेतों में खाद, बीज उपज, औजार आदि को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने में काफी समय, शक्ति तथा धन का अनावश्यक अपव्यय होता है। कई बार दूसरे खेतों के गुजरने पर कलह भी उत्पन्न होते हैं।

(६) अन्य व्यक्तियों के खेत बीच में आ जाने के कारण पानी के निकास या सिंचाई के लिए स्थायी नालियां कृषक नहीं बना पाता।

डाक्टर सेन के अनुसार, "इससे साहसीजन का विनाश होता है, श्रम काफी मात्रा में व्यर्थ जाता है, सीमा बनाने में भूमि का काफी भाग बेकार होता है, गहरी खेती सम्भव नहीं हो पाती, अच्छी मशीनों और तरीकों का उपयोग नहीं हो पाता।"

सुधार के उपाय के लिए देखिए प्रश्न १६

Q. 18. भारत में सहकारी आन्दोलन के लाभों का वर्णन कीजिए और उसकी मर्यादाओं का उल्लेख करिए। (Raj 1953)

Ans. भारत में सहकारिता आन्दोलन का आरम्भ करीब ५० वर्षों

पूर्व हुआ था। इस अवधि में इस आन्दोलन ने काफी प्रगति की है परन्तु देश की विशालता तथा जनाधिक्य को ध्यान में रखते हुए उसका यह विकास काफी कम है। सहकारिता के कई लाभ है जो निम्नलिखित हैं—

(१) आर्थिक सहकारी साख समितियां कृपकों तथा कारीगरों को कम सूद की दर पर ऋण प्रदान करती हैं। इससे वह साहुकार के चंगुल से बच जाते हैं।

(२) इस आन्दोलन के बाद धीरे २ ग्रामों में साहुकार का एकाधिकार [illegible] हो रहा है और इन समितियों के कारण उन्हें सूद की दर में कमी करने के लिए विवश होना पड़ा है।

(३) सहकारी समितियों ने पुराने ऋण को कम करने में काफी सहायता प्रदान की है।

(४) सहकारी समितियों ने अनुत्पादक संचय की प्रवृति को रोका है और किसानों में धन को बैंक में जमा कराने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है।

(५) सहकारी समितियों ने कृपकों व कारीगरों को अन्य कई प्रकार से सहायता दी है। वह उनके लिए उत्तम बीज, उत्तम खाद और उत्तम औजार आदि का प्रवन्ध करती है तथा उनकी उपज को भी उचित मूल्य पर बेचने का प्रवन्ध करती है।

नैतिक लाभः—इसके नैतिक लाभ भी हैं। सहकारी समितियों के कारण गांवों में बहुत कुछ हद तक कलहों का अन्त हो गया है और उनमें सहकारिता की भावना बढ़ रही है उनकी फिजूल खर्ची की आदतें (जुआ, शराब) समाप्त हो ती जा रही है। उनमें आत्म विश्वास, उचित व्यवहार, ईमानदारी, शिक्षा, मितव्ययता, स्वावलम्बन तथा पारस्परिक सहायक की आदतें बढ़ रही हैं।

शैक्षिक लाभः—इस आन्दोलन ने अनेक प्रकार से लोगों के ज्ञान को बढ़ाने में सहायता दी है। सहकारी समिति एक प्रकार की पाठशाला है जहां इसके सदस्यों को नागरिकता के कर्त्तव्यों तथा स्वशासन की प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त होती है। अच्छी समितियों के सदस्य इस बात का अच्छी प्रकार से अवलोकन करते हैं कि सदस्य किस तरह से ऋण का प्रयोग करता है। इस [illegible]ह साधारण सदस्य को अपने धन का प्रयोग तथा सदस्यों पर नियंत्रण [illegible]ने का तथा हिसाब रखने को शिक्षा मिलती है। यह समिति या एक

प्रकार से ग्रामीण वित्त व्यवस्था के प्रारम्भिक स्तून हैं।

सहकारी आन्दोलन की कमियां:—सहकारी आन्दोलन से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं परन्तु उसमें कई कमियां हैं जो निम्नलिखित हैं—

(१) सहकारिता के मूल सिद्धान्तों की उपेक्षा:—भारत की अधिकांश जनता सहकारिता के मूल सिद्धान्तों से अनभिज्ञ है। वे उसे सरकारी समिति के रूप में लेते हैं। इससे सहयोग, सहानुभूति और विश्वास आदि की कमी रहती है।

(२) गैर साख समितियों की उपेक्षा:— प्रारम्भ से इस आन्दोलन में साख का तत्व प्रधान रहा है। सहकारी खेती, सहकारी वितरण या उपभोग आदि के क्षेत्रों में इसकी अवहेलना की जाती है।

(३) कुप्रबन्ध:—गांव के लोग प्रायः अशिक्षित होते हैं और उनमें आपसी मनमुटाव होता है। एक-दूसरे के प्रति पक्षपात करने की शिकायतें होती रहती हैं। बकाया ऋण को छिपाने के लिए लेखा परिवर्तन, बनावटी अदायगी और बार २ स्वतः ऋणों का नवीनीकरण किया जाता है। नियम भंग करने वालों के साथ किसी प्रकार की सख्ती नहीं की जाती। ऋण का उपभोग उसी कार्य के लिए हो रहा है जिसके लिए वह प्रदान किया गया था, इसकी छानबीन करने का कोई कष्ट नहीं करता।

(४) पूंजी की कमी:—समितियों के पास चालू पूंजी काफी कम होती है। उन्हें सदैव पूंजी के लिए केन्द्रीय बैंक से आशा लगाए रहना पड़ता है। जब उनसे भी पर्याप्त पूंजी प्राप्त नहीं हो पाती तब सदस्यों को उनकी आवश्यकतानुसार ऋण नहीं दिया जाता है। कई बार ऋण उस समय प्राप्त होता है जब वह अवसर जिसके लिए उसकी मांग की गई थी गुजर चुका होता है।

(५) ब्याज की ऊंची दर:—साख समितियों का मुख्य ध्येय कम ब्याज पर ऋण देना होता है परन्तु व्यवहारिक जीवन में बिलकुल इसका विपरीत होता है। इस कारण स्पष्ट है उनके पास पूंजी की कमी होने के कारण वह केन्द्रीय बैंक से पूंजी उधार लेते हैं। केन्द्रीय बैंक राज्य बैंक से रुपया उधार लेते हैं। इस प्रकार अन्तिम ऋणी और प्रारम्भिक ऋणदाता के मध्य में कई संस्थायें आती हैं और ब्याज की दर में वृद्धि होती चली जाती है। ब्याज की दर की अधिकता के कारण साख समितियों की स्थापना का

प्रयोजन अपूर्ण रह जाता है।

(६) लोच का अभावः—ऋण देने का तरीका काफी कठोर और अपरिवर्तनशील है। सदस्यों को उनकी आवश्यकतानुसार ऋण प्राप्त नहीं हो पाता। इस पर वे विवश होकर साहुकार स कर्ज लेते हैं।

(७) दीर्घकालीन साख का अभावः— साख समितियां अपने सदस्यों को भूमि के स्थायी सुधार के लिए, पुराने ऋण का भुगतान करने तथा चक-बन्दी की योजना को कार्यशील करने के लिए दीर्घकालीन ऋण देने में समर्थ नहीं है।

(८) सरकारी नियंत्रण की अधिकताः—भारत में सहकारी आन्दोलन आरम्भ तथा विकास करने में सरकार का ही प्रमुख हाथ था। अब उसके संचालन में सरकारी हस्तक्षेप होता रहता है। इस कारण जनता ने उसे जन-आन्दोलन के रूप में स्वीकार नहीं किया है।

(९) अशिक्षाः—सहकारिता आन्दोलन के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट जनता में फैली हुई अशिक्षा है। शिक्षा के अभाव में उन्हें सहकारिता से प्राप्त होने वाले लाभों से अवगत कराने में काफी कठिनाई होती है। इससे साधारण व्यक्ति इस आन्दोलन से अछूता रह जाता है।

(१०) जलवायु पर आश्रितताः—भारत एक कृषि प्रधान देश है और इस कारण यहां कृषि समितियों की ही प्रधानता रही है। कृषि वर्षा पर निर्भर करती है और जब तक यह अवस्था बनी रहेगी जब तक उसकी प्रधानता बनी रहेगी।

(११) विकट आर्थिक समस्याः—देश की आर्थिक समस्या अत्यन्त विकट है। ऋण देकर सदस्यों की तत्कालीन आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है परन्तु उन्हें इस व्यवस्था से कोई लाभ प्राप्त नहीं हो सकता जब तक उनकी ऋण ग्रस्तता के प्रारम्भिक कारणों को हल न किया जाय।

Q.19. भारतीय सहकारी आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास लिखिए। (Punjab 49.)

Ans. भारत में सहकारी आन्दोलन का आरम्भ १९०४ में हुआ। इसके पहले जस्टिस रानाडे ने ग्रामीण ऋण की समस्या का हल करने के हेतु कृषि बैंकों की स्थापना करने का प्रस्ताव रखा था जिसे तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार नहीं किया। १९०१ में भारत सरकार ने कृषि बैंकों की

स्थापना के विषय में सुझाव देने के लिए एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर सन् १९०४ में सहकारिता कानून पास किया गया और यहां से भारत में सहकारी आन्दोलन के इतिहास का आरम्भ होता है।

देश भर में १९०४ के साख समिति विधान के अनुसार कई ग्रामीण साख समितियों की स्थापना की गई। इस प्रकार की समितियों के साथ २ सहकारिता के अन्य रूपों का भी उदय हुआ।

सन् १९१२ में सरकार ने सहकारी समिति एक्ट बनाया जिसमें साख के अलावा अन्य प्रकार की सहकारी समितियों को भी स्थान दिया गया और सहकारी यूनियन, केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा प्रान्तीय सरकारी बैंकों को मान्यता प्रदान की गई। किसी क्षेत्र की प्रारम्भिक सहकारी समितियों को मिलाकर सहकारी यूनियन का निर्माण किया जाता है जो समितियों पर नियंत्रण रखती है। केन्द्रीय बैंक सहकारी समितियों को पूंजी उधार देता है। इस समय भारत में कुल १४ प्रान्तीय सहकारी बैंक हैं।

सन् १९१४ में सरकार ने मेकलागन कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी की सिफारशों के अनुसार कुछ परिवर्तन किए गए। उन सहकारी समितियों का अन्त कर दिया गया जो सहकारिता के सिद्धान्तों की अवहेलना करती थी। सहकारी समितियों का पुर्नसंगठन किया गया।

सन् १९१९ में सरकार ने सहकारिता को एक प्रान्तीय विषय घोषित कर दिया। प्रत्येक प्रान्त में उसका शासन एक मन्त्री को सुपुर्द कर दिया गया। कई राज्यों ने सहकारिता सम्बन्धी अपने कई निजी नियम भी बनाए। १९२६ में शाही कृषि कमीशन तथा १९३१ की भारतीय बैंकिंग जांच समिति के सुझाव पर कई सुधार किए गए।

१९३५ में प्रान्तीय स्वराज प्राप्त हुआ। इस समय कई कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने सहकारिता को प्रोत्साहन देने का यत्न किया।

१९४५ में सहकारी आयोजन समिति नियुक्त की गई। इसकी सिफारिश पर प्रारम्भिक सहकारी समितियों को बहुउद्देशीय समितियों में परिवर्तन कर दिया गया। इसने यह भी सुझाव दिया कि ऐसे प्रयत्न किए जाने चाहिए जिससे अगले १० वर्षों में ५०% गांव और ३०% ग्रामीण जनता इस आन्दोलन से लाभ प्राप्त कर सकें।

१९५१ में रिज़र्व बैंक ने एक समिति नियुक्त की जिसने ग्रामीण

व्यवस्था की जांच कर सन् १९५४ में रिपोर्ट प्रस्तुत की।

इस रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया है कि सरकारी संस्थाओं में सब स्तरों पर राज्य की साझेदारी होनी चाहिए और सहकारी कर्मचारियों की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। सन् १९५६ में रिजर्व बैंक आफ इंडिया ने राष्ट्रीय कृषि साख, दीर्घकालीन कार्य कोष की स्थापना की। इसी वर्ष राष्ट्रीय सरकारी विकास तथा वेयरहाउसिंग बोर्ड की भी स्थापना की गई। १९५९ में लिए गए निर्णय के अनुसार एक प्रारम्भिक साख समिति का कार्य क्षेत्र एक गांव ही होगा। एक समिति १ हजार लोगों के लिए ही हो सकती है।

द्वितीय योजना के अन्त तक (१९६०-६१) १५० करोड़ रु० लघुकालीन ऋण के रूप में तथा २५ करोड़ रु. दीर्घकालीन ऋण के रूप में दिये जायेंगे। १०४०० बड़ी और १८०० प्रारम्भिक समितियां स्थापित की जायेगी और ४००० गोदामों का निर्माण बड़ी प्रारम्भिक कृषि साख समितियों के लिए किया जावेगा।

Q. 20. जमींदारी प्रथा के मुख्य दोष क्या हैं? उनको दूर करने के लिए क्या किया गया है? (Ajmer 49)

Ans. इस प्रथा में सरकार और कृषक के मध्य में कोई एक व्यक्ति होता है जो जमींदार कहलाता है। वह किसी एक क्षेत्र विशेष का भूस्वामी होता है। प्रायः वह कृषि नहीं करता और अपनी भूमि कृषि के लिए अन्य कृषकों को खेती के लिए देता है तथा उनसे उसके प्रयोग के बदले में लागत लेता है। इस प्रकार से प्राप्त सरकार को तय की गई मालगुजारी देता है और बाकी रुपया अपने पास ही रख लेता है। इस प्रथा में राज्य और कृषक के बीच में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रहता और जमींदार उनके बीच में रहता है।

इस प्रथा के दोष निम्नलिखित हैं—

(१) जमींदारों द्वारा भूमि की उन्नति की अवहेलना की जाती थी। वह कृषक को किसी भी प्रकार की सहायता प्रदान न करते थे। उनका मुख्य उद्देश्य प्राप्त आय से ऐशो आराम का जीवन व्यतीत करना था।

(२) वह सदैव अपने कृषकों से लगान के रूप में अत्यधिक रकम कठोरता से वसूल करते थे। कृषकों का आर्थिक शोषण किया जाता था। वसूल की गई रकम में से कुछ भाग ही वह राज्य को मालगुजारी के रूप में देते थे।

(३) वह कृषकों पर अनावश्यक अत्याचार करते थे और समय समय पर उनसे बेगार लिया करते थे।

(४) जमींदार प्रायः रूढ़िवादी होते थे तथा कृषकों को किसी भी प्रकार की सुविधा देने के पक्ष में न थे और न ही सुधार के लिए।

(५) विशेष अवसर तथा उत्सवों पर कृषकों से वह काफी धन या अन्य वस्तुएं भेंट के रुप में लेते थे।

(६) कृषक से थोड़ी सी भी अनबन हो जाने पर वह बिना किसी संकोच के उन्हें बेदखल कर दिया करते थे।

इन दोषों को दूर करने के लिए विभिन्न प्रान्तों की सरकारों ने स्वतंत्रता के बाद कई अधिनियम पास किए है।

उत्तर प्रदेश की सरकार ने सन् १९५० में जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार कानून पास किया जिसे १९५१ में राष्ट्रपति ने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। जमींदारों ने इसके विरुद्ध न्यायालय की शरण ली परन्तु निर्णय उनके विपक्ष में रहा। १ जुलाई १९५२ से यह कानून लागू किया गया और जमींदारी प्रथा का अन्त आरम्भ हुआ।

जमींदारों से भूमि वापिस ले ली गई है और उनको उनके बदले में मुआवजे दिए जा रहे है। जमींदारों को मुआवजा देने के लिए एक विशेष उन्मूलन कोष की स्थापना की गई है। छोटे २ जमींदारों को पुनः बसाने की भी व्यवस्था की जा रही है।

नई व्यवस्था के अन्तर्गत चार प्रकार के कृषक होंगे—

(१) भूमिधरः—इन्हें भूमि पर से बेदखल नहीं किया जा सकता। वे अपनी भूमि का अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सकते हैं।

(२) सीरदारः—इनका भी भूमि पर स्थायी अधिकार है परन्तु यह अपनी भूमि को न तो बेच सकता है और न ही कृषि के अलावा उसका किसी अन्य कार्य के लिए प्रयोग कर सकता है।

(३) आसामीः—वे किसान जिन्हें उपरोक्त दो प्रकार के कृषकों ने अपनी भूमि लगान पर दे दी है आसामी कहलाते हैं।

(४) अधिवासीः—छोटे जमींदारों की भूमि पर कृषि करने वाले तथा जिन्हें जमींदार अपनी इच्छानुसार बेदखल कर सकता है वे इस श्रेणी में आते है। ये यदि पांच वर्ष के अन्दर लगान का दस गुना [illegible] करा देते है तो वह भूमिधर बन सकते है।

राजस्थान में भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद वर्षों से चली आ रही जागीरदारी प्रथा का अन्त कर दिया गया है। १९५२ में राजस्थान भूमि सुधार तथा जागीर पुर्नग्रहण अधिनियम बनाया गया। अब तक लगभग ६५३७ जागीरें पुर्नग्रहण की जा चुकी है। १ जनवरी १९५९ से सरकार द्वारा दस हजार रु० वार्षिक आय से कम वाली जागीरों को भी पुर्नग्रहण कर लिया गया है। इन जागीरदारों को सरकार द्वारा मुआवजा दिया जा रहा है जिस पर कुल मिला कर ३६ करोड़ रु० खर्च होंगे।

८ श्रम

Q. 21. जनसंख्या के घनत्व का अर्थ समझाइये। भारत के भिन्न २ भागों में यह भिन्न २ किन कारणों से है?

(M. B. 52, Ajmer 44, Raj. 52, 57)

Ans. जन संख्या के घनत्व का अर्थ किसी देश विशेष के प्रति वर्ग मील निवासियों की सख्या से है। इस घनत्व को प्राप्त करने के लिए किसी देश या स्थान की कुल जनसंख्या को वहां के क्षेत्रफल से भाग दिया जाता है।

$$\text{जनसंख्या का घनत्व} = \frac{\text{कुल जन संख्या}}{\text{कुल क्षेत्रफल}}$$

=घनत्व प्रति वर्ग मील

उदाहरण के लिए किसी स्थान विशेष की जनसंख्या १००० है और क्षेत्रफल १०० वर्ग मील है तो घनत्व $=\frac{१०००}{१००}=१०$

व्यक्ति प्रति वर्ग मील हुआ।

सब स्थानों का घनत्व एकसा कदापि भी नहीं होता। किसी स्थान का अधिक और किसी का कम। १९५९ के आंकड़ों के अनुसार भारत के विभिन्न राज्यों का घनत्व नीचे दी हुई तालिका के अनुसार है—

राज्य	जन संख्या का घनत्व
१ आन्ध्र	२९६
२. आसाम	१७१
३. बिहार	५७८

(४) जलवायु:—जिन स्थानों का जलवायु अच्छा होता है वहां का घनत्व हमेशा अधिक होता है। आसाम में अस्वास्थ्य कर जलवायु के फलस्वरूप वहां की जनसंख्या का घनत्व कम है।

(५) जान-माल की सुरक्षा:—इस सुरक्षा के अभाव का प्रभाव जनसंख्या पर पड़ता है। सीमा प्रदेशों पर जहां इस सुरक्षा का अभाव होता है, घनत्व कम रहता है। जब किसी स्थान पर जीवन और सम्पति के लिए भय उत्पन्न हो जाता है तो वहां के लोग किसी अन्य सुरक्षित स्थान पर चले जाते हैं।

(६) उद्योग धन्धे:—जिस स्थान पर उद्योग धन्धे अधिक मात्रा में होंगे वहां पर जीवन निर्वाह के साधन भी उतने ही अधिक होंगे और इस कारण घनत्व भी अधिक होगा। बंगाल, बम्बई में जीवन निर्वाह के कई साधन उपलब्ध हैं इस कारण वहां का घनत्व अधिक है परन्तु राजस्थान में जहां उनका अभाव है, जनसंख्या का घनत्व कम है।

(७) धार्मिक स्थान:—धार्मिक स्थानों का भी जनसंख्या के घनत्व पर प्रभाव पड़ता है। उत्तर प्रदेश में कई धार्मिक स्थान हैं जिस कारण घनत्व अधिक है (जैसे-मथुरा, हरिद्वार, बनारस, वृन्दावन आदि)।

(८) राजधानी:—इसका प्रभाव भी घनत्व पर पड़ता है। दिल्ली का घनत्व अधिक होने का कारण यही है।

उपरोक्त कारणों के फलस्वरूप जनसंख्या के घनत्व में विभिन्नता पाई जाती है।

Q. 22 क्या भारत में जनाधिक्य है? (U. P. 1953)

Ans. भारत में संसार की कुल जनसंख्या का पांचवां भाग रहता है। चीन के बाद जनसंख्या क दृष्टि से भारत का स्थान है। १८९१ में यह २२.५९ करोड़ थी, १९४५ में यह ३१.२८ थी और १९५१ में ३५.६६। उपरोक्त आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि भारत में जनसंख्या निरन्तर बढ़ रही है। इस कारण कई बार यह प्रश्न पूछा जाता है—क्या भारत में जनाधिक्य है? अब प्रश्न यह उठता है कि जनाधिक्य किसे कहते हैं? आदर्श जनसंख्या किसी देश विशेष के लिए वह होती है जिसका जीवन निर्वाह भली भांति से होता हो और प्रति व्यक्ति-आय अधिकतम हो। इसमे वृद्धि होने पर प्रति व्यक्ति आय कम होने लगती है। इस आदर्श जनसंख्या के बिन्दु के बाद बढ़ने वाली जन-

संख्या को ही जनाधिक्य कहते हैं । भारत में इसके पक्ष और विपक्ष दोनों के लिए भिन्न २ तर्क उपस्थित किए जाते हैं ।

निराशावादी विचारधारा:—इसके अनुसार भारत में जनाधिक्य है । माल्थस का सिद्धान्त पूर्ण रूप से भारत पर लागू होता है । माल्थस के अनुसार किसी देश विशेष में जनाधिक्य की परिस्थिति उस समय होती है जब वहां की खाद्य-सामग्री समस्त जनसंख्या के लिए पर्याप्त न हो सके । डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार १९३८ में देश की खाद्य सामग्री केवल ८८% लोगों के लिए पर्याप्त थी । डा० रामचन्दर के अनुसार १९०० और १९३४ के मध्य में भारत की जनसंख्या २१% बढ़ी और कृषि भूमि में वृद्धि ११% हुई । भारत को अपनी जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रत्येक वर्ष लाखों टन अनाज विदेशों से मंगाना पड़ता है । अब भी जब द्वितीय पंच-वर्षीय योजना समाप्त होने जा रही है भारत खाद्य सामग्री के विषय में आत्म-निर्भर नहीं बन पाया है ।

भारत के निवासियों की प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है और उनका जीवन स्तर काफी निम्न कोटि का है ।

माल्थस के अनुसार जब किसी देश में जनसंख्या पर प्रतिबन्धक रोक नहीं होती तो वहां जनाधिक्य होता है । भारत में कम आयु में विवाह होने के कारण तथा गर्भ निरोधक साधनों के प्रयोग के अभाव में जनसंख्या में वृद्धि काफी तीव्र गति से हो रही है । इससे जनाधिक्य की परिस्थिति पैदा हो गई है ।

माल्थस के अनुसार जब प्रतिबन्धक रोक के अभाव में जनसंख्या निरन्तर बढ़ती चली जाती है तब प्रकृति अपना कार्य करती है अर्थात् नैसर्गिक प्रति-बन्ध लगाती है ताकि जनसंख्या तथा खाद्य सामग्री में सन्तुलन स्थापित हो जाए । भारत में समय २ पर अकाल, बाढ़, रोग, दंगे आदि होते रहते हैं जिससे जन-संख्या नष्ट होती रहती है । इनका होना जनाधिक्य का प्रमाण है ।

भारत में जन्म दर मृत्यु दर की अपेक्षा काफी अधिक है । इसके फल-स्वरूप जनसंख्या काफी तीव्र गति में बढ़ती चली जा रही है । भारत में बेकारों की संख्या अधिक है ।

(२) आशावादी विचारधारा :—इसके अनुसार भारत में जना-धिक्य की अवस्था नहीं है । इसके अनुसार भारत में जब तक उसके प्राकृतिक

साधनों का उचित व पूर्ण शोषण नहीं किया जा सका है। प्राकृतिक साधन काफी मात्रा में उपलब्ध हैं। उनका उचित और पूर्ण उपयोग करने पर कई नए कल कारखानें और उद्योग स्थापित होंगे जिनसे लाखों बेकार व्यक्तियों को रोजगार मिलेगा तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी।

खाद्य-सामग्री के लिए अवश्य भारत अन्य देशों पर निर्भर है परन्तु उसकी अधिकतर भूमि पर वर्ष में एक ही फसल ली जाती है तथा बहुत सारी भूमि बंजर पड़ी है। कृषि के लिए उत्तम बीज तथा उत्तम खाद और आधुनिक साधनों का प्रयोग नहीं किया जा रहा है। सिंचाई के साधन उपलब्ध होने पर वर्ष में दो या इससे अधिक फसलें उत्पन्न करना संभव होगा और बंजर भूमि पर खेती की जाने लगेगी। राजस्थान नहर के निर्माण के बाद देश का रेगिस्तान प्रदेश भी मरुस्थल में परिवर्तन हो जायगा। इन सबके विकास और आवश्यक सुधारों के होने पर खाद्य-सामग्री में देश आत्मनिर्भर बन सकता है।

देश में प्रति व्यक्ति आय बढ़ रही है। १९३१-३२ में श्री राव के अनुसार वह ६५ रु० थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना की समाप्ति के बाद प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हुई है तथा द्वितीय योजना की समाप्ति के बाद उसके ३६१ रु० होने की आशा है। अतः भारत में जनाधिक्य की स्थिति नहीं है।

भारत में जन्म दर अधिक होने का कारण जल्दी विवाह होना और गर्भ निरोधक साधनों के प्रयोगों का अभाव है। शिक्षा के प्रसार के बाद विवाह अब बड़ी उम्र में होने लगे हैं और लोग परिवार नियोजन को अपना लगे हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार ने देश में स्थित प्राकृतिक साधनों का प्रयोग करने तथा जीवन-स्तर में वृद्धि करने के लिए पंचवर्षीय योजनाएं बनाई। इनके अन्तर्गत कई योजनाओं पर कार्य हो रहा है। कई बांध निर्माणाधीन हैं। बड़े २ कारखाने (जैसे दुर्गापुर, भिलाई) स्थापित किए जारहे हैं। कृषि में आधुनिकतम प्रणाली का प्रयोग किया जा रहा है। श्री विश्वेशरिया का कथन है कि यदि भारत उन सब आधुनिक और वैज्ञानिक तरीकों को अपनाए जिनसे संसार के अन्य देश परिचित हैं तो अवश्य १० वर्षों में उसके उत्पादन को दुगना और १५ वर्षों में तिगुना किया जा सकता है। तमाम योजनाओं के पूर्ण होने पर देश का उत्पादन बढ़ेगा। कृषि उपज में वृद्धि होगी तथा लाखों

व्यक्तियों को रोजगार मिलेगा और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होने के कारण जीवन-स्तर में वृद्धि होगी।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत में जिस तेजी के साथ जनसंख्या बढ़ रही है उसे रोकने का प्रयत्न न किया जाय। सरकार ने अपनी योजनाओं में इसी कारण परिवार नियोजन को स्थान दिया है और उसके प्रसार का प्रयत्न कर रही है। भारत में जनाधिक्य है या नहीं इसका निर्णय भविष्य में उसी समय होगा जब उसके तमाम प्राकृतिक साधनों का उचित शोषण किया जाने लगेगा। कुछ लोगों का मानना यह है कि उस समय जब यह संभव होगा शायद भारत की जनसंख्या उसके लिए कम रहे।

Q. 23. क्या भारत में जनाधिक्य है? बढ़ती हुई जनसंख्या को किस प्रकार से रोकने का प्रयत्न करना चाहिए?

(Raj. 60)

Ans. जनाधिक्य के लिए देखिए प्रश्न नं० २२

जनसंख्या की तेजी से बढ़ रही दर को कम करने के लिए निम्नलिखित उपाय काम में लाने चाहिए :-

(1) आर्थिक विकास :—यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से भारत एक धनिक देश है जहां मानव शक्ति प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। अब तक देश ने अपने प्राकृतिक साधनों का पूर्ण रूप से प्रयोग नहीं किया है। कृषि भी वही पुराने तरीके से की जाती है और उद्योगों में पुरानी मशीनों का ही प्रयोग हो रहा है। बहुत सारी भूमि बंजर पड़ी हुई है। अब आवश्यकता इस बात की है कि प्राकृतिक साधनों का उचित शोषण किया जाय। सिंचाई के साधनों का विकास कर बंजर भूमि पर खेती प्रारम्भ की जाय और अबतक एक फसल जिन भूमियों पर ली जाती रही है, उनसे अधिक फसलें लेने का प्रयत्न किया जाय। उद्योगों में पुरानी मशीनों के स्थान पर आधुनिकतम मशीनों का प्रयोग आरम्भ किया जाय। इन सबके कारण राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी और प्रति व्यक्ति आय बढ़ने के कारण जीवन-स्तर में भी वृद्धि होगी।

(२) शिक्षा का प्रसार:—भारत की अधिकांश जनता अशिक्षित है। वह इस कारण भाग्यवादी और लकीर की फकीर बनी हुई है। वे किसी भी नई प्रणाली को अपनाने में रुचि नहीं रखते। शिक्षित होने पर वह इसका महत्व समझ पायेंगे और कम आयु में विवाह वाली प्रथा का भी अन्त होगा।

इससे जन्म दर कम हो जायगी।

(३) परिवार नियोजनः—इससे बढ़ती हुई जनसंख्या को रोकना संभव होगा। इसकी सफलता के लिए गर्भ निरोधक साधनों का अधिक से अधिक प्रयोग किया जाना जरुरी है और मनुष्य स्वयं अपने आप नियंत्रण रखे। परिवार नियोजन को जनप्रिय बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। माध्यमिक कक्षा में लड़कियों को यौन शिक्षा, विवाह सम्बन्धी बातों की शिक्षा दी जानी चाहिए।

परिवार नियोजन का महत्व होने के कारण पंचवर्षीय योजनाओं में सरकार ने उसे स्थान दिया है। सरकार द्वारा **Family Planing Research and Programme Comnittee** की स्थापना की गई है। द्वितीय योजना में केन्द्रीय सरकार द्वारा इस पर ५ करोड़ रु० व्यय किए जायेंगे। गांवों में ५०० तथा शहरों में २००० शफाखाने आरम्भ किए जायेंगे।

(४) आत्म संयमः— भारतीयों द्वारा बहुत ही कम मात्रा में इसका प्रयोग किया जाता है। विवाह देर से किए जाने चाहिए ताकि बच्चे कम पैदा हों।

(५) देशान्तर गमनः—विश्व के अधिकतर देशों में जहां जनाधिक्य होता है वहां के निवासियों को अन्य देशों में जाकर बसने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है परन्तु अब इसकी सम्भावना नहीं के बराबर ही रह गई है। आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका तथा लंका में बसे भारतीयों की हालत ठीक नहीं है। भारतीयों को देशान्तर गमन की संभावनाएं में विशेष नहीं हैं।

Q. 24 भारतीय श्रमिकों की अकुशलता के क्या कारण हैं? उनमें सुधार करने के लिए अपने सुझाव दीजिए।

(M. B. 52, U.P. 50,55)

Ans. भूमि तथा श्रम उत्पादन के दो प्रमुख साधन हैं परन्तु इनमें श्रम की महत्ता ही अधिक है। किसी देश का उत्पादन उसके श्रमिकों की कार्य कुशलता पर ही पूर्ण रूप से निर्भर करता है। श्रमिक कार्य-कुशलता का अर्थ उसकी उत्पादन करने की शक्ति से है। यह एक तुलनात्मक शब्द है।

किसी एक विशेष निश्चित समय तथा एक समान परिस्थितियों में, मात्रा में ज्यादा या गुण में अच्छी या दोनों प्रकार की वस्तुओं को उत्पादित करने की शक्ति को ही श्रम की कार्यकुशलता कहते हैं।

प्रायः यह कहा जाता है कि भारत का श्रमिक इंगलैंड और अमेरिका आदि विदेशों के श्रमिक की तुलना में कम कार्य-कुशल है। सर एलेक्जेंडर मैकरोबर्ट के अनुसार इंगलैंड का एक श्रमिक भारतीय श्रमिक की अपेक्षा साढे तीन या चार गुना अधिक कार्य-कुशल होता है। इस कथन में अतिशयोक्ति है जिसे डा० गिलबर्ट ने भी स्वीकार किया है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतीय श्रमिक इंगलैंड के श्रमिक की तुलना में कम कार्य-कुशल है।

अकुशलता के कारणः—

(१) जातीय अवगुणः—श्रमिकों की कार्य-कुशलता निश्चय रूप से उनकी जाति और कुटुम्ब द्वारा प्रभावित होती है। सीमा प्रदेश (पंजाब) का निवासी अधिक सशक्त और कार्यकुशल होता है। भारतीय श्रमिक ऐसे वंशज की सन्तान है जिनमें औद्योगिक क्षमता विद्यमान न थी।

(२) गर्म जलवायुः—देश का जलवायु गर्म होने के कारण उसका विपरीत प्रभाव श्रमिकों की कार्य-कुशलता पर पड़ता है। वह आलसी बन जाते हैं।

(३) शिक्षा का अभावः—किसी भी प्रकार की शिक्षा या उचित शिक्षा के न मिलने के कारण भारतीय श्रमिक न केवल अकुशल और अविश्वसनीय बन जाता है वरन् उसकी आत्मोन्नति की समस्त अभिलाषाएं भी समाप्त हो जाती हैं। साधारण सी शिक्षा न मिलने पर उनकी मानसिक और नैतिक शक्तियों का विकास नहीं हो पाता तथा Technical शिक्षा के अभाव में वह आधुनिक कार्य प्रणाली से अपरिचित रह जाते हैं।

४ भाग्यवादी होनाः—भारतीय श्रमिक धर्म में अत्यधिक विश्वास रखते हैं और वह भाग्यवादी हैं। वह यह मान लेते हैं कि जो कुछ उनके भाग्य में लिखा है, उससे अधिक वह प्राप्त नहीं कर सकते। इस कारण वह अपनी उन्नति का प्रयत्न नहीं करते।

(५) नीचा जीवन-स्तरः—उनकी अकुशलता का प्रमुख कारण उनके जीवन स्तर का नीचा होना है। इस कारण उनमें शिक्षा का अभाव रहता है। पौष्टिक भोजन और अच्छे मकान रहने के लिए उपलब्ध न होने के कारण उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है। मानसिक चिंताएं बनी रहती हैं। इन सबका विपरीत प्रभाव उनकी कार्य-कुशलता पर पड़ता है।

(६) साधारण बुद्धि की कमी:—वर्षों से अशिक्षित रहने के कारण उनमें साधारण बुद्धि का विकास नहीं हो पाया है और उनमें न तो नए आविष्कार करने की क्षमता है और न ही किसी वस्तु को शीघ्रता से सीखने की।

(७) कारखाने का वातावरण :—कारखानों की दशा ठीक नहीं है। उनमें हवा तथा प्रकाश आने के लिए उचित प्रबन्ध नहीं होता और न ही स्वच्छ पानी पीने के लिए प्राप्त होता है। इन सबका प्रभाव कार्य-कुशलता को कम कर देता है।

(८) काम करने का समय :—प्रायः भारतीय उत्पादक इस बात को मानते हैं कि श्रमिक से जितनी अधिक देर काम लिया जायेगा उसे उतना ही अधिक लाभ होगा। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि इससे उनकी कार्य-कुशलता कम हो जाती है।

(९) औद्योगिक वर्ग की अस्थाइता :—यहां पर स्थायी रूप से औद्योगिक वर्ग नहीं है। कारखानों में काम करने वाले श्रमिक प्रायः गांव से ही आते हैं जिन्हें अपने गांव के प्रति विशेष स्नेह होता है। वह जब कभी भी अवसर प्राप्त होता है, गांव चले जाते हैं। इस प्रकार की प्रवृति के कारण वे पर्याप्त प्राविधिक दक्षता प्राप्त नहीं कर पाते।

(१०) अकुशल व्यवस्थापक :—उत्पादन क्षमता बहुत कुछ व्यवस्थापक की योग्यता पर निर्भर करती है क्योंकि उत्पादन के साधनों का उचित रूप से लगाना उसी का कार्य होता है। वह अकुशल हो तो उत्पादन पर उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। वे श्रमिक को उसकी योग्यतानुसार कार्य नहीं देते। वे अच्छी तथा आधुनिकतम मशीन और औजारों का प्रबन्ध नहीं करते।

भारतीय श्रमिक की अकुशलता को दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय काम में लाने चाहिए :—

उनमें शिक्षा का प्रचार करना चाहिए ताकि साधारण बुद्धि का विकास हो। प्राविधिक शिक्षा का प्रबन्ध हो जिससे अपने विशेष व्यवसाय में, वह दक्षता प्राप्त कर सकें। शिक्षा के कारण उनका अन्धविश्वास भी समाप्त हो जायगा।

उनके जीवन-स्तर को उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। उन्हें अच्छा वेतन देना चाहिए। खेल-कूद, मनोरंजन के अन्य साधनों, चिकित्सा तथा अच्छे,

साफ मकानों की व्यवस्था की जानी चाहिए। कुशल व्यवस्थापकों को नियुक्त किया जाना चाहिए ताकि वह उत्पादन के विभिन्न साधनों से उचित कार्य ले सकें।

कारखानों की दशा सुधारने का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। हवा तथा रोशनी के लिए उचित प्रबन्ध किया जाना चाहिए। स्वच्छ पानी तथा अच्छे केन्टीन की व्यवस्था हो।

श्रमिकों के काम करने का समय कम किया जाना चाहिए क्योंकि देश का जलवायु गर्म है।

सरकार ने समय २ पर उनकी दशा सुधारने का प्रयत्न किया है। कानून द्वारा श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी तय कर दी गई है। कारखानों की दशा पर नियंत्रण रखने के लिए तथा श्रमिकों के हितार्थ फेक्टरी नियम बनाए गए हैं। कारखानों में उनके मनोरंजन की व्यवस्था की गई है। श्रम हितकारी केन्द्र खोले गए हैं। राजकीय बीमा योजना आरम्भ की गई है। श्रम अधिकारियों की नियुक्ति अनिवार्य कर दी गई है (केवल उन कारखानों में जहां ५०० से अधिक श्रमिक कार्य करते हैं।) श्रमिक विभाग आरम्भ किया गया है और कमिश्नर नियुक्त किए गए हैं।

९ भारतीय उद्योग

Q. 25. हमारे आर्थिक जीवन में कुटीर उद्योगों का क्या महत्व है ? उनके विकास तथा उन्नति के लिए आप क्या सुझाव देंगे ?

(Raj. 52, 57)

Ans. कुटीर उद्योग के अन्तर्गत केवल वही उद्योग आते हैं जिनमें पूर्णतः या विशेषकर एक ही परिवार के सदस्य कार्य करते हों। प्राचीन भारत सोने की चिड़िया के नाम से प्रसिद्ध था। यहां पर कुटीर उद्योग अपनी उन्नति की चरम सीमा पर थे। वास्तव में उन दिनों का भारत 'विश्व का कारखाना' (Industrial workshop) था। औद्योगिक क्रान्ति के तथा भारत में यूरोपीय जातियों के आगमन के बाद शनैः २ उनका विनाश कालान्तर में आरम्भ हुआ। राज्य द्वारा जो संरक्षण इन उद्योगों को प्राप्त था उनका भी अन्त हुआ।

इस प्रकार हमारे देश में कुटीर उद्योगों की अवनति हुई परन्तु आज भी उन उद्योगों का देश की अर्थ-व्यवस्था में अपना एक विशेष और महत्व पूर्ण स्थान है।

(१) उत्पादन की दृष्टि से:—इनका महत्व राष्ट्रीय आय में है। इससे देश को १६५१ में राष्ट्रीय आय का १६.१% भाग प्राप्त हुआ था। वर्तमान परिस्थितियों में इनका और भी विशेष महत्व है क्योंकि उनमें से कच्चे माल का प्रयोग होता है जिसके लिए विदेशी विनिमय (Foreign Exhange) खर्च नहीं करना पड़ता।

(२) बेकारी की समस्या का हल:—देश की जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है। इस बढ़ती हुई जनसंख्या के जीवन-निर्वाह के प्रश्न को सुलझाने में यह उद्योग महत्वपूर्ण योग दे सकते हैं। इनमें इस समय १ करोड़ ५० लाख से ऊपर व्यक्ति लगे हुए हैं। देश में स्थापित किए जा रहे बड़े उद्योगों से उत्पन्न होने वाली बेकारी का यह सही उत्तर है।

(३) सहायक उद्योग:—देश की कृषि पूर्ण रूपेण वर्षा पर निर्भर है। अतः कृषक वर्ष में कई महीने बेकार पड़ा रहता है और उसके पास आय का अन्य साधन नहीं होता। कुटीर उद्योगों का विकास होने पर उन्हें बेकार जाने वाले समय में काम मिल जायेगा जिससे उनकी आय में वृद्धि होगी।

(४) स्थिरता:—वर्षा अनिश्चित होने कारण (बाढ़ या अकाल) ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की स्थिति सदा संकटपूर्ण बनी रहती है। कुटीर उद्योगों के विकसित होने पर कृषि की पूर्ण निर्भरता कम हो जायेगी और ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में स्थिरता आजायेगी।

(५) जनसंख्या का भूमि पर भार कम होना:—कुटीर उद्योगों के विकास होने पर कई लोगों को रोजगार प्राप्त होगा। इससे भूमि पर जन-संख्या के भार को कम करने में सहायता प्राप्त होगी। उपविभाजन और अप-खण्डन की बुराइयों से बचा जा सकेगा।

(६) विकेन्द्रीकरण:—उद्योगों का स्थानीयकरण हो जाने के फल-स्वरूप बड़े २ नगर स्थापित हो जाते हैं और कारखाना प्रणाली के दोष आ जाते हैं। कुटीर उद्योगों के विकास होने पर इनसे बचा जा सकेगा और गांवों का समुचित विकास संभव हो सकेगा।

(७) सैनिक महत्व:—युद्ध के समय यदि सारे उद्योग एक स्थान

पर स्थित है तो शत्रु एक ही आक्रमण में उन्हें पूर्ण रूप से नष्ट कर सकता है परन्तु बिखरे हुए होने पर यह संभव नहीं।

(८) कार्य सीखने में कम समय—कुटीर उद्योगों में कार्य सीखने में बहुत ही कम समय लगता है।

(९) कम पूंजी की आवश्यकता—भारत में पूंजी का अभाव है और इस कारण बड़े २ उद्योग स्थापित करने में कठिनाई होती है परन्तु कुटीर उद्योगों में छोटी २ मशीनों का प्रयोग किए जाने के कारण, कम औजारों की आवश्यकता के कारण तथा कच्चा माल गांव में ही उपलब्ध हो जाने के कारण प्रबन्धकों की आवश्यकता न रहने पर बहुत ही कम पूंजी की आवश्यकता रहती है।

(१०) पूंजी श्रम कलह से मुक्ति—बड़े २ उद्योगों में मालिकों और श्रमिकों में समय २ कलह उत्पन्न होते रहते हैं और इस कारण कई बार हड़ताल या तालाबन्दी की नौबत आ जाती है। इससे समाज का वातावरण अशांत हो जाता है। कुटीर उद्योगों में इस प्रकार से कलह और अशांति उत्पन्न होने का भय नहीं रहता।

कुटीर उद्योगों का अर्थ-व्यवस्था में जो महत्वपूर्ण स्थान है उसे सरकार ने पहचाना है। इसी कारण द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उनके विकास के लिए २०० करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। तीसरी योजना में इसके लिए सार्वजनिक क्षेत्र में २५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। सरकार द्वारा बैंकों द्वारा दी ज़ाने वाली साख की गारन्टी दी जायगी। यह योजना अहमदाबाद, अमृतसर, बंगलोर, कलकत्ता, कटक, देहली, गुन्टूर बम्बई, हावड़ा, हैदराबाद, जयपुर, कामरूप, कानपुर, लुधियाना, सूरत, त्रिवेन्द्रम, मद्रास, कृष्णा कोल्हापुर में १ जुलाई १९६० से आरम्भ किया जायेगा। इसके लिए स्टेट बैंक आफ इंडिया तथा उसकी अन्य ८ उप बैंक, ४९ व्यापारिक बैंक २२ सरकारी बैंक और १४ स्टेट फाइनेन्स कारपोरेशन कार्य करेंगे। फिर भी उनके विकास के लिए निम्नलिखित उपायों को काम में लाना जरूरी है:—

(१) आधुनिकतम औजार और प्रणाली का प्रयोग—भारतीय कुटीर उद्योग के कारीगर सदियों की लकीर के फकीर बने हुए हैं। उन्हें नवीन प्रणालियों से तथा औजारों से परिचित कराने के लिए प्राद्योगिक संस्थाएं खोली

जानी चाहिए। उन्हें इन नई रीतियों को अपनाने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए ताकि उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं की उत्पादन लागत कम हो सके।

(२) आर्थिक सहायता:—कुटीर उद्योगों को पूंजी प्राप्त करने में काफी कठिनाई होती है। विवश होकर उन्हें साहूकार से ऊंची ब्याज दर पर कर्ज लेना पड़ता है। राज्य की ओर से उन्हें आर्थिक सहायता देने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। राज्य वित्त निगम स्थापित किए गए हैं जो कम सूद पर ऋण देते हैं। राजस्थान में एक State Finance Corporation है।

(३) माल का प्रचार:—कुटीर उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के लिए विदेशों में बाजार तलाश करने चाहिए। समय २ उनके द्वारा बनाए गए माल की प्रदर्शनी भी आयोजित की जानी चाहिए। विज्ञापन का भी सहारा लिया जाना चाहिए। एम्पोरियम (बिक्री केन्द्र) स्थापित किए जाने चाहिए।

(४) सहकारी समितियों की स्थापना:—सहकारी समितियों की स्थापना की जानी चाहिए जो कारीगरों के लिए सस्ता कच्चा माल, औजार आदि खरीदने का प्रबन्ध करे। उनके द्वारा उत्पादित माल के विक्रय का प्रबन्ध उनके द्वारा किया जाना चाहिए।

(५) संरक्षण:—कुटीर उद्योगों को विदेशी माल की प्रतिस्पर्धा से संरक्षण दिया जाना चाहिए।

सरकार कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए यथा संभव प्रयत्न कर रही है। उसके द्वारा अखिल भारतीय खादी और ग्राम उद्योग आयोग, अखिल भारतीय हस्तकला मण्डल, केन्द्रीय रेशम मण्डल, आदि की स्थापना की गई है। प्रादेशिक शिल्प स्कूल बम्बई, कलकत्ता, मदुराई तथा फरीदाबाद में आरम्भ किया गया है।

प्रश्न नं० २६:—भारत के कुटीर उद्योग धन्धों के पतन के मुख्य कारणों का वर्णन कीजिए तथा उनके वर्तमान समय में क्या आर्थिक महत्व है उनको बतलाते हुए उनकी उन्नति के लिए उपायों का सुझाव दीजिए।

प्राचीन भारत कुटीर उद्योगों में काफी बढ़ा चढ़ा था। उसके उद्योगों द्वारा निर्मित माल दूर २ तक विदेशों में जाता था। यह अपनी आकर्षणता और कलात्मक रूप के लिए प्रसिद्ध था और अपने उन्नति की चरम

सीमा पर था । उन दिनों में भारत 'विश्व के कारखाने' के नाम से विख्यात था। परन्तु कालान्तर में कुटीर उद्योगों का पतन हो गया जिसके कारण निम्न-लिखित हैं:—

(१) महाराजाओं के संरक्षण का अन्तः—प्राचीन राज्य में राजा, महाराजा तथा नवाब लोग कलापूर्ण वस्तुओं के प्रेमी थे। वे कारीगरों को उनकी कला के कारण उचित पुरस्कार तथा प्रोत्साहन देते थे। इन कला के पारिखों के अन्त के साथ २ उद्योगों का भी पतन आरम्भ हुआ।

(२) विदेशी वस्तु से प्रतिस्पर्द्धाः--औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् विदेशों में काफी कम मूल्य पर अधिक संख्या में निर्माण होने लगा और उन्होंने उसका निर्यात आरम्भ किया। मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुएं सुन्दर व सस्ती होती हैं और इन वस्तुओं की प्रतियोगिता में भारत के कुटीर उद्योग की वस्तुएं ठहर न सकी। इस कारण कुटीर उद्योगों का पतन प्रारम्भ हुआ।

(३) ब्रिटिश सरकार की नीतिः—भारत में अंग्रेजी शासन स्थापित हुआ जिसका मुख्य उद्देश्य देश का इंगलैंड के हितार्थ आर्थिक शोषण करना था। उन्होंने अपनी लंकाशायर, मैनचेष्टर, बंकिमगम आदि की मीलों के हित में भारतीय उद्योगों को किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं दिया। उन्होंने मुक्त व्यापार नीति को अपनाया। ब्रिटिश माल के समक्ष प्रतिस्पर्धा में भारत का माल ठहर न सका। अतः धीरे २ कुटीर उद्योग पतन की ओर अग्रसर हुए।

(४) पश्चिमी सभ्यता का प्रभावः—अंग्रेजी शासन के साथ विदेशी शिक्षा और सभ्यता का प्रचार बढ़ा। इसके प्रभाव में आकर लोगों ने देश में निर्मित वस्तुओं का उपयोग बन्द कर विदेशों में मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुओं का उपभोग आरम्भ किया। इस कारण कुटीर उद्योगों द्वारा बनाई गई वस्तुओं का बाजार संकुचित होने लगा और उनका पतन होता चला गया।

(५) भारतीय कारीगरों की अदूरदर्शिताः—भारतीय कारीगर निरक्षर, अज्ञानी, और अन्ध विश्वासी होने के कारण अपने आपको तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बना पाए। वे लकीर के फकीर ही बने रहे और प्रतिस्पर्धा की दौड़ में पीछे रह गए।

आर्थिक महत्व और उपायों के सुझाव के लिए देखिए प्रश्न नं० (

प्रश्न नं० (२७):–भारत के प्रमुख कुटीर उद्योगों का वर्णन कीजिए और राजस्थान के कुटीर उद्योगों का भी संक्षेप में वर्णन कर उनका देश की आर्थिक व्यवस्था में क्या महत्व है,समझाइये।

प्राचीन काल में भारत मे कुटीर उद्योगों का विशेष महत्व था परन्तु कालान्तर मे उनकी अवनीति हुई। देश की वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उनका आर्थिक व्यवस्था मे एक महत्वपूर्ण स्थान है। बहुत से प्राचीन कुटीर उद्योग अब भी जीवित है और नए रूप से उनको विकसित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। भारत के कुछ प्रमुख कुटीर उद्योग निम्नलिखित है:—

(१) हाथ कर्घा उद्योग:—यह प्राचीन भारत में एक महत्वपूर्ण उद्योग था। विदेशी माल की प्रतियोगिता के सामने उसका विनाश हुआ परन्तु गांधी जी के स्वदेशी आन्दोलन के पश्चात् उसे काफी प्रोत्साहन मिला। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकार उसे विकसित करने का प्रयत्न कर रही है। अखिल भारतीय हाथ कर्घा बोर्ड की स्थापना की गई है। हाथ के बने कपड़े पर १ रु० में ३ आने छूट क्रेताओं को दी जाती है तथा मिलों मे निर्मित कपड़े पर १ पैसा प्रतिगज के हिसाब से कर वसूल किया जाता है। इस आय का उपयोग हाथ कर्घा उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए किया जाता है। यह उद्योग थोड़े बहुत रूप में पूरे देश में प्रचलित है। इसमें करीब ६० लाख मनुष्य लगे हुए हैं।

(२) ऊन उद्योग:—इसमें भेड़ पालन भी सम्मिलित है जो विशेषकर पहाड़ी क्षेत्रों में अधिक प्रचलित है। भेड़ों से प्राप्त ऊन से कम्बल, नम्दे, तथा अन्य वस्तुएं बनाई जाती हैं।

(३) चमड़ा उद्योग :—चमड़े का पकाना, रंगना तथा जूते तथा अन्य वस्तुओं का निर्माण करना भारत का प्रमुख कुटीर उद्योग है। चमड़े का निर्यात भी किया जाता है।

(४) खेल का सामान बनाने वाला उद्योग :—यह उद्योग विशेष कर उत्तर-प्रदेश के मेरठ शहर में केन्द्रित है। सरकार इसे अधिक प्रोत्साहन देने का प्रयत्न कर रही है।

(५) मिट्टी के बरतन बनाना :—मिट्टी से सुराही, कलस, खिलौने

ईंट आदि का निर्माण किया जाता है। यह उद्योग भारत के प्रत्येक गांव और नगर में फैला हुआ है।

(६) तेल निकालना :—यह भी एक प्राचीन कुटीर उद्योग है। यह भी देश के प्रत्येक गांव और शहर में फैला हुआ है। पुराने ढंग का कोल्हू का प्रयोग कर तिलहनों से तेल निकाला जाता है।

(७) गुड़ और खांडसारी उद्योग:—कृषकों गन्ने से गुड़ और खांड तैयार करता है। यह उद्योग चीनी उद्योग के पूरक के रूप में कार्य करता है और देश की बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करता है।

१० राजस्थान के प्रमुख कुटीर उद्योग

(१) खिलौने का उद्योग :—यह राजस्थान का मुख्य उद्योग है। लकड़ी से कई प्रकार के आकर्षक खिलोने बनाए जाते हैं जिनकी मांग देश भर में है। यह उद्योग विशेष कर सवाई माधोपुर, जयपुर तथा उदयपुर में विकसित है।

(२) मूर्ति उद्योग :—राजस्थान आरम्भ से ही इस कला के लिए विश्व में विख्यात रहा है। संगमरमर आदि पत्थरों से आकर्षक मूर्तियां तैयार की जाती हैं जिनकी मांग न केवल पूरे देश में है बल्कि विदेशों में भी। जयपुर में यह उद्योग काफी विकसित अवस्था में है।

(३) हाथी दांत का उद्योग:—हाथी दांत से आकर्षक खिलौने और चूड़ियां बनाई जाती हैं जिनकी काफी मांग रहती है। इनका उत्पादन स्थान जयपुर और उदयपुर हैं।

(४) देशी जूतों का उद्योग:—राजस्थान की देशी जूतियां अत्यधिक प्रसिद्ध हैं और उनकी मांग देश और विदेशों में भी काफी है। इसके उत्पादन केन्द्र जयपुर, सीकर तथा जोधपुर हैं।

(५) लाख उद्योग:—लाख से आकर्षक वस्तुओं और चूड़ियों का निर्माण किया जाता है, यह राजस्थान के प्रत्येक नगर में फैला हुआ है।

(६) ऊन उद्योग:—राजस्थान में बीकानेर डिविजन में भेड़ पालन किया जाता है। उनसे प्राप्त ऊन से कम्बल, नम्दे बनाए जाते हैं।

(७) हाथकर्घा उद्योग:—यह भी राजस्थान का प्रमुख उद्योग है।

(८) रंगाई:—राजस्थान की रंगाई देश भर में प्रसिद्ध है। सांगानेरी छपाई भी काफी लोकप्रिय है। और सांगानेरी प्रिन्टस् की मांग विदेशों में है। राजस्थानी ओढ़णी की मांग देश भर में है।

(९) कागज उद्योग:—सांगानेर मे स्थित है। आर्थिक महत्व के लिए देखिए। प्र. नं. २५ का उत्तर।

28. भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन के क्या कारण हैं? औद्योगिक उन्नति के लिए अपने सुझाव दीजिए।

उत्तर:—प्राचीन भारत कुटीर उद्योग के क्षेत्र मे काफी उन्नतिशील था और उसका विदेशों से काफी व्यापार होता था। कालान्तर में औद्योगिक क्रान्ति के बाद मशीनों द्वारा बनाई गई वस्तुओं की प्रतियोगिता के कारण उनका विनाश हुआ। देश औद्योगिक क्षेत्र में धीरे २ आगे बढ़ने लगा और बीसवीं शताब्दि के मध्यान्त तक उसने काफी प्रगति करली। यह विश्व के १० बड़े औद्योगिक देशों में से एक है परन्तु भारत की विशालता, प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता तथा जनसंख्या को देखते हुए औद्योगिक क्षेत्र में काफी पिछड़े हुए है। भारत एक कृषि प्रधान देश है और उसकी जनसंख्या का ७०% भाग इस व्यवसाय पर निर्भर है। इस दृष्टि से भारत औद्योगिक क्षेत्र में पीछे रह गया है। इस पिछड़ेपन के कारण निम्नलिखित हैं:—

(१) देश का भौगोलिक वातावरण:—देश का जलवायु गर्म है। और इस कारण यहां के निवासी आलसी है। ये कठिन परिश्रम नहीं करपाते।

(२) खाद्य पदार्थों की कमी:—इसके कारण देश को अपना बहुत सा विदेशी विनिमय खाद्य सामग्री को विदेशों से मंगवाने पर व्यय कर देना पड़ता है और मशीनों और अन्य औद्योगिक वस्तुओं को आयात करना संभव नहीं हो पाता।

(३) प्राकृतिक साधनों का पूर्ण शोषण नहीं:—देश के प्राकृतिक साधनों का पूर्ण रूप मे शोषण नहीं किया गया है। खनिज पदार्थों के विषय में पूर्ण जानकारी नहीं हो पाई है।

(४) अकुशल श्रमिक:—हमारे देश के श्रमिक कई कारणों से विदेशों के श्रमिक की तुलना में कम कार्य कुशल हैं। इस कारण भी भारत औद्योगिक क्षेत्र में पीछे रह गया है।

(५) पूंजी का अभाव:—देश में बड़े २ कल कारखाने तभी स्थापित

किए जा सकते हैं जब उनके लिए आवश्यक पूंजी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो। देश को निर्धनता इसमें सबसे बड़ी बाधा है। बिड़ला, डालमिया जैसे व्यक्ति बहुत कम संख्या में हैं।

(६) अकुशल संगठनकर्ता और व्यवस्थापक—भारतीय उद्योग पति न केवल अकुशल ही है बल्कि उनमें ईमानदारी का भी अभाव है। संगठन और व्यवस्था भी उचित प्रकार से नहीं होती है। सारी व्यवस्था दोष युक्त मैनेजिंग एजेन्सी पर निर्भर करती है।

(७) कर भार में वृद्धिः—सरकार धन कर, आयकर, मृत्यु कर आदि के रूप में काफी रुपया ले लेती है। इससे पूंजी के संचय को प्रोत्साहन नहीं मिल पा रहा है जिसके अभाव में उद्योगों का विकास संभव नहीं हो सकता।

(८) सामाजिक प्रथाएं:— देश की चली आ रही सामाजिक प्राथाएं भी औद्योगिक उन्नति में बाधा साबित हुई हैं। जाति प्रथा तथा संयुक्त कुटुम्ब प्रथा ने श्रम की गतिशीलता तथा पूंजी के संचय पर विपरीत प्रभाव डाला है।

(९) ब्रिटिश सरकार की नीतिः—यह भी काफी हद तक इसके लिए उत्तरदायी थी। ब्रिटिश सरकार ने इंगलैंड के उद्योगों के हित को सुरक्षित रखने के लिए मुल्य व्यापार नीति को अपना रखा था जिससे यहां उद्योग पनप नहीं पाए।

देश की औद्योगिक उन्नति के लिए निम्नलिखित उपायों को काम में लाना चाहिए:—

(१) प्राकृतिक साधनों का उचित शोषणः—

(a) जल विद्युत का विकास।

(b) खनिज सम्पदा का पता लगाना।

(c) खानों में आधुनिक तरीकों का प्रयोग।

(२) श्रमिक को कुशल बनानाः—

(a) प्राविधिक स्कूल खोलना।

(b) जीवन-स्तर को ऊंचा उठाना—

अन्य सुझावों के लिए देखिए प्रश्न २४

(३) पूंजी की व्यवस्थाः—

(a) सरकार द्वारा आर्थिक सहायता।

(३) राजकीय वित्त निगमों का विस्तार।

(४) बैंकिंग प्रणाली को प्रोत्साहन।

(४) संरक्षण नीति।

(५) विदेशों में प्राविधिक शिक्षा के लिए युवकों को भेजना।

Q. 29 भारत के लोहे और फौलाद के उद्योगों का विकास तथा उनकी उन्नति के विषय में लिखिए और उनकी उन्नति के लिए सुझाव दीजिए।

उत्तर:—लोहे और फौलाद (Iron and Steel) उद्योग मूल भूत (Basic) उद्योग है और उन पर ही अन्य उद्योग आश्रित रहते हैं। उदाहरण के लिए मशीनरी, रेल व रक्षा सम्बन्धी।

प्राचीन भारत में यह उद्योग अपनी उन्नति की चरम सीमा पर था और यहां की निर्मित वस्तुओं की मांग विश्व के अन्य देशों में काफी थी। इस उद्योग की निपुणता का स्पष्ट प्रमाण हमें देहली के पास के लोहे के डेढ हजार वर्ष पुराने स्तम्भ में मिलता है।

आधुनिक ढंग पर इस उद्योग का आरम्भ कुछ ही वर्षों पूर्व हुआ है। १८८९ में मार्टिन कम्पनी ने कलकत्ता के निकट एक कारखाने की स्थापना की। १९०७ में जमशेदजी टाटा ने बिहार में एक बड़ी कम्पनी की स्थापना की। इस कारखाने ने (Tata Iron and steel Co.) कुछ ही वर्षों में अत्यधिक उन्नति कर ली और प्रथम महायुद्ध के दौरान (१९१४–१८) मे इस कारखाने ने काफी प्रगति की और उसका विकास भी किया गया। १९०८ मे Indian Iron and steel Co. की स्थापना की गई और मैसूर आयरन वर्क्स की स्थापना भद्रावती मे १९२३ में की गई और लगभग इसके १५ वर्षों बाद बंगाल स्टील कारपोरेशन की स्थापना की गई।

इस उद्योग की आशातीत प्रगति का मुख्य कारण यह था कि सरकार ने टैरिफ बोर्ड के सुझाव को मानकर उसे १९२४ में तीन वर्ष तक के समय के लिए अधिक आयात कर तथा निर्यात–वृति के रूप में संरक्षण प्रदान किया। सरकार द्वारा किए गए इस संरक्षण की अवधि को समय २ पर बढ़ाया गया परन्तु १९४७ में टैरिफ बोर्ड द्वारा इसका समर्थन न किए जाने पर उसे समाप्त कर दिया गया। १९५८ में गले हुए लोहे का उत्पादन २० लाख टन और फौलाद का उत्पादन १३.०० टन था।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान में (१९३९–४५) फौलाद का आयात बन्द

होगया और देश में उसकी मांग बढ़ने लगी। इस कारण देश के उद्योगों को उन्नति के लिए पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ। परन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद इस उद्योग को कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। मुद्रा-प्रसार युद्ध के समय की मांग में कमी आजाना आदि समस्याएं थीं। युद्ध के समय में मशीनों से अत्यधिक कार्य लिए जाने के कारण वह काफी घिस चुकी थी परन्तु पूंजी के अभाव में उन्हें बदलना संभव न था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकार ने देश के औद्योगिक विकास की ओर ध्यान दिया है और पंचवर्षीय योजनाएं बनाई हैं। सरकार ने टाटा कम्पनी को बिना ब्याज के १० करोड़ रु० का कर्ज दिया और उतनी ही राशि का कर्ज इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी को बिना ब्याज के प्रदान किया गया। विश्व बैंक द्वारा टाटा कम्पनी को ७५ मिलियन डालर का कर्ज तथा इण्डियन आयरन को २० मिलियन डालर का कर्ज दिया गया। अब टाटा कम्पनी का फौलाद का उत्पादन १५ लाख टन और इण्डियन आयरन का उत्पादन ८ लाख टन प्रतिवर्ष हो जायेगा। भद्रावती कारखाने का उत्पादन १ लाख टन फौलाद प्रतिवर्ष होगा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (१९५६-६१) के अन्तर्गत तीन स्टील प्लान्टस् (रुरकेला, भिलाई और दुर्गापुर) स्थापित किए गए हैं। १९६१ तक यह तीनों कारखाने पूर्ण रूप से उत्पादन कार्य आरम्भ कर देंगे। रुरकेला कारखाने का उत्पादन ७ लाख २० हजार टन, भिलाई का स्टील उत्पादन ७ लाख ७० हजार टन और **Pig Iron** का उत्पादन ३ लाख टन और दुर्गापुर का स्टील उत्पादन ७ लाख ९० हजार टन तथा **Pig Iron** का उत्पादन ३½ लाख टन होगा।

जब यह प्लान्ट्स अपना उत्पादन कार्य पूर्ण रूप से आरम्भ कर देंगे तब वह न केवल देश की आन्तरिक आवश्यकताओं के लिए ही पर्याप्त होगा बल्कि प्रतिवर्ष ५० करोड़ का फौलाद विदेशों को निर्यात किया जा सकेगा।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में फौलाद की उत्पत्ति का लक्ष्य १०.२ मिलियन टन तथा **Pig Iron** का लक्ष्य १.५ मिलियन टन रखा गया है। योजना के दौरान में चौथा स्टील प्लान्ट बकारों में स्थापित किया जायेगा।

१९५६ की रिपोर्ट के अनुसार देश में लोहे और इस्पात के कारखानों की संख्या १४० है जिनमें ५२.९ करोड़ की अचल और ४३.१ करोड़ की चल पूंजी लगी हुई है।

देश के इस उद्योग के विकास में कई बाधाएं हैं जो निम्नलिखित हैं:—

(१) कोयले की कमी—कोयले की वर्तमान स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है कि तीसरी योजना का लक्ष्य प्राप्त न हो सकेगा। देश मे कोकिंग कोल की कमी है।

(२) यातायात की कमी:—स्टील प्लान्टस् का देश के अन्य भागों और खानों से सम्बन्धित करने का रेल मार्ग का कार्य विशेष प्रगति नहीं कर पाया है। यातायात के साधनों का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल भेजने में काफी कठिनाई होती है और वेगनों की कमी कारण इसमें और भी अधिक वृद्धि हुई है।

(३) पूंजी का अभाव:—इस उद्योग के विकास के होड में पूंजी की अत्यधिक मात्रा में आवश्यकता है जो उनके पास उपलब्ध नहीं हो पाती है तीसरी योजना के बाद जब स्टील का उत्पादन अपनी चरम सीमा पर होगा। तब उसकी मांग सम्भवत् कम हो जायेगी और ऐसा होने पर इस उद्योग को एक नई ही समस्या का सामना करना होगा।

सुझाव:—यह उद्योग मूल-भूत उद्योग है और इस कारण सरकार को इसकी उन्नति और विकास के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रहना चाहिए इस उद्योग के विषय में सरकार को सलाह देने के लिए (Iron and steel Advisory Council) की स्थापना भारतीय सरकार द्वारा की गई है।

देश में रेल मार्ग और सड़कों का विकास किया जाय। यातायात दर में कमी करनी चाहिए और पर्याप्त मात्रा में रेल वेगन उपलब्ध किए जांय। उद्योग के विकास के लिए सरकार को उन्हें उदारता पूर्वक आर्थिक सहायता प्रदान की जानी चाहिए। कोकिंग कोल का उत्पादन बढ़ाया जाना चाहिए। इन उद्योगों को भविष्य में संकट से बचाने के हेतु सर जहांगीर गांधी ने यह सुझाव दिया है कि आजकल समानीकरण कोष के लिए जो सर चार्ज वसूल किया जाता है, उसे समाप्त कर देना चाहिए।

११ भारत में परिवहन

प्र० ३०:—भारत में रेलों के विकास से आर्थिक और सामाजिक जीवन पर क्या परिणाम हुए हैं? (M. B. 54, Raj. 48, 50, 52, 53)

उत्तर:--भारत के यातायात के साधनों में रेलों का एक महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि भारत एक विशाल देश है और एक स्थान से दूसरे स्थान तक माल शीघ्रता से पहुँचाना पड़ता है। भारत में रेलों का आरम्भ १९वीं शताब्दी के मध्यान्ह में हुआ था।

रेल के निर्माण और विकास से देश में सामाजिक व आर्थिक जीवन पर प्रभाव;--

सामाजिक परिणाम:--(१) रेलों के निर्माण और विकास के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर आना जाना सहज बन गया है और यात्रा की दिक्कतें, समय और खर्च भी काफी कम हो गया है। इस कारण यात्रा करने की प्रवृति को प्रोत्साहन मिला है।

(२) यातायात के साधनों के अभाव में देश का एक भाग दूसरे के सम्पर्क में नहीं आ पाता था। गांवों का जीवन अपने तक ही सीमित था। परन्तु अब गांवों और नगरों के मध्य में काफी निकट सम्बन्ध स्थापित हो गया है और पृथकत्व का अन्त हुआ है।

(३) पहले देश में एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति के व्यक्ति के साथ बैठना या बोलना पसन्द नहीं करता था। रेलों में साथ २ यात्रा करने के कारण ये जातीयता तथा प्रान्तीयता के बन्धन ढ़ीले पड़ गये हैं। दृष्टिकोण में व्यापकता आगई है। राष्ट्रीयता तथा एकता की भावना का विकास हुआ है।

आर्थिक लाभ:--

(१) रेलों क विकास के कारण एक स्थान की उपज दूसरे स्थान पर शीघ्रता से कम व्यय पर पहुंचाई जा सकती है इस कारण मण्डियों का विस्तार हुआ है। अगर किसी स्थान पर अकाल पड़े तो उसका सामना किया जा सकता है।

(२) रेलों के आगमन के पहले भारत का प्रत्येक गांव आत्म निर्भर था। वह अपनी आवश्यकताओं की तमाम वस्तुएं स्वयं उत्पन्न करता था। परन्तु रेलों के विकास के बाद यह आत्म निर्भरता की अवस्था समाप्त हो गई है और अब किसान केवल उन फसलों को पैदा करने लगा है जिसके लिए उसकी भूमि सबसे अधिक योग्य है। अपनी अन्य आवश्यकताओं के लिए वह दूसरे स्थानों पर निर्भर रहने लगा है। इस कारण कृषि का व्यापीकरण और स्थानीयकरण हो गया है।

(४) रेलों के विकास के कारण शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं जैसे फल, सब्जी, दूध का उत्पादन अधिक होने लगा है क्योंकि उन्हें जहां उनकी

आवश्यकता है जल्दी मे पहुंचाया जा सकता है ।

(५) रेलों के विकास के कारण देश की उपज तथा निर्मित माल का अन्य देशो में भेजना संभव हो गया है। संसार की अन्य मण्डियों मे सम्बन्ध स्थापित हो जाने के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव गांवों की अर्थ व्यवस्था पर पड़ना आरम्भ हो गया है।

(६) रेलों के विकास का प्रभाव वन उद्योग पर पड़ा है जैसे डिब्बे के निर्माण में लकड़ी, स्लीपर आदि की मांग में वृद्धि होने के कारण वन उद्योग को प्रोत्साहन मिला है। लकड़ी का एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना सरल बन गया है। वन की अन्य उत्पत्ति को भी प्रोत्साहन मिला है।

(७) रेलों के विकास और निर्माण के कारण देश का औद्योगिकरण संभव हुआ है। कच्चा माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीघ्रता से पहुंचाया जा सकता है। इससे औद्योगिक साहस को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला है।

(८) आन्तरिक व्यापार को प्रोत्साहन मिला है। यातायात के कम खर्च तथा कम समय ने व्यापार की उन्नति में सहायता दी है;

(९) देश भर में वस्तुओं के मूल्यों को एक समान स्तर पर ला दिया है।

(१०) रेलों के कारण श्रम की गतिशीलता में वृद्धि हुई है।

(११) रेलों के कारण लाखों व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त होता है और इस प्रकार से वह देश की बेरोजगारी की समस्या को हल करने में महत्व-पूर्ण योग देती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रेलों के निर्माण और विकास के कारण सामाजिक विषमता दूर हुई है, राष्ट्रीय तथा एकता की भावना बनी है और देश का आर्थिक विकास संभव हो पाया है तथा रोजगार की समस्या हल हुई है।

Q. 31. भारत में परिवहन के मुख्य साधन क्या हैं? रेलों के आर्थिक महत्व पर प्रकाश डालिए।

किसी भी देश में यातायात के साधनों का प्रभाव उसकी आर्थिक उन्नति पर पड़ता है। यातायात मार्ग को राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था रूपी शरीर का रक्तवाहिनी धमनियां कहना कोई अतिशयोक्ति न होगी। भारत की विशालता तथा वर्तमान परिस्थितियों के फलस्वरूप जब कि एक राष्ट्र दूसरे

राष्ट्र पर किसी वस्तु के लिए निर्भर है, उनका महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

भारत के परिवहन साधनों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) वायु (२) जल और (३) स्थल

(१) वायु यातायात:—सन् १९११ में सर्व प्रथम भारत में वायुयान उड़ाने का प्रदर्शन किया गया था और १९२८ में कराची, बम्बई, दिल्ली तथा कलकत्ता में Flying Clubs आरम्भ किए गए। १९२९ में इम्पीरियल एयरवेज कम्पनी ने इंगलैंड और भारत के मध्य में सर्विस आरम्भ की। इसके तीन वर्ष बाद टाटा एयरलाइन्स का आरम्भ हुआ। धीरे २ देश में कई वायुयान कम्पनियां स्थापित हुई, जैसे भारत एयरवेज, डेकन एयरवेज आदि। सरकार ने १९५३ में सब कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण कर एयर इन्डिया इण्टर नेशनल और इन्डियन एयरलाइन्स लि. की स्थापना की। पहले का सम्बन्ध विदेशी मार्गों से और दूसरे का आन्तरिक से है। देश में अब वायुयान भी बैंगलोर में स्थित फैक्ट्री में बनाए जाने लगे हैं और द्वितीय पंचवर्षीय योजना में वायु यातायात के विकास के लिए ३०५ करोड़ रु० खर्च किए जायेंगे। एयर इन्डिया इण्टर नेशनल के जहाज २३४८३ मील मार्ग पर १७ देशों की उड़ान करते हैं। इन्डियन एयर लाइन्स के वायु मार्गों की लम्बाई २२,७०० मील है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में वायु यातायात के विकास के लिए १२.५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है और योजना काल में ८ नए हवाई अड्डे बनाए जायेंगे। तीसरी पंचवर्षीय योजना में वायु-यातायात के लिए ५५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है।

(२) जल यातायात:—भारत में इसका प्रयोग प्राचीन काल से होता चला आया है। देश के आन्तरिक व्यापार में उनका महत्व है। गंगा नदी के मुहाने से पटना तक छोटी २ स्टीमरों का प्रयोग किया जाता है। ब्रह्मपुत्र, महानदी, कावेरी, कृष्णा, ताप्ती आदि नदियों में नावें चलाई जाती हैं। इसके अलावा कई नहरों में भी नावें चलाई जाने लगी हैं जैसे गोदावरी नहर, कृष्णा नहर आदि।

भारत हिन्द महासागर के शीर्ष पर है। इस कारण उसका सम्बन्ध अन्य देशों के विभिन्न मार्गों से होना स्वाभाविक है। भारत की समुद्री तटरेखा

जर्मनी आदि इसके प्रमुख ग्राहक हैं। १९५५ में लगभग २० करोड़ रु० की कच्ची धातुएं निर्यात की गई थी और १९६०–६१ में २७ करोड़ रु० के बराबर होगी।

(५) मसाले :—प्राचीन समय में भारत से कालीमिर्च, तेजपात, लौंग आदि गर्म मसालों का निर्यात किया जाता था। इन दिनों में उनके निर्यात में वृद्धि हुई है। १९५८ में करीब ६ करोड़ रु० के मसालों का निर्यात हुआ।

(६) चमड़ा व खालें :—१९५८ में भारत से २७ करोड़ रु० का चमड़ा व खालों का निर्यात किया गया। १९६०–६१ तक वह २८ करोड़ के लगभग होगा।

(७) तेल :—जब देश में तेल निकालने के कारखानों का विकास नहीं हुआ था उस समय तिलहनों का निर्यात किया जाता था परन्तु उनके विकास होने पर तेलों का निर्यात किया जाने लगा है। १९६०–६१ तक २४ करोड़ रु० का तेल निर्यात किया जाने लगेगा।

(८) अन्य वस्तुएं :—कच्चा लोहा, कांच, औषधियां, बाल बेयरिंग, ...े की बनी वस्तुएं, तम्बाकू, गोंद, रेशम, रबड़, नारियल का रेशा, बिजली ... सामान तथा छोटी मशीनों का भी निर्यात किया जाता है।

आयात

(१) खाद्यान्न :—भारत कृषि प्रधान देश होते हुए भी अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने लायक खाद्य पदार्थ उत्पन्न नहीं कर पाता। इस कारण विदेशों से लाखों टन अनाज आयात करना पड़ता है। इनका आयात बर्मा, इन्डोनेशिया, कनाडा, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों से किया जाता है।

(२) मशीनरी :—स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में तीव्र गति से हो रहे औद्योगीकरण के फलस्वरूप इनके आयात में वृद्धि हुई है। इनका आयात डालर मुद्रा वाले देशों से अर्थात् अमेरिका, कनाडा आदि से किया जाता है। रूस, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी आदि से भी मशीनरी आयात की जाती है। १९५८ में १७७ करोड़ रुपये की मशीनरी मंगाई गई थी। देश में चल रहे विकास कार्यक्रम को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अब भी उनके आयात में वृद्धि होगी।

(३) कपास :—देश की सूती मिलों की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त कपास का उत्पादन नहीं होता। अतः उसका विदेशों से आयात करना पड़ता है। १९५८ में २९.६ करोड़ रुपये की कपास मंगाई गई। इसका आयात मिश्र, पाकिस्तान आदि देशों से किया जाता है।

(४) रसायन व दवायें :—देश में रासायनिक पदार्थों का तथा दवाइयों का आयात काफी मात्रा में किया जाता है। इनका आयात इङ्गलैंड, अमेरिका, जर्मनी तथा जापान, स्विजरलैंड, आदि देशों से किया जाता है। १९५९ में इन पर ६२ करोड़ रुपये व्यय किए गए।

(५) कागज :—देश के कागज के कारखाने यहां की आवश्यकताओं को पूर्ण करने जितना माल उत्पन्न करने में असमर्थ हैं अतः उसका आयात विदेशों से किया जाता है। १९५८ में ७.७ करोड़ रुपये का कागज आयात किया गया था।

(६) पेट्रोल :—भारत में पेट्रोल बहुत ही कम मिलता है। इसका आयात इराक, अमेरिका, बर्मा आदि से किया जाता है।

(७) यातायात की सामग्री :—रेल के इन्जिन, समुद्री जहाज, मोटर कार तथा हवाई जहाजों का आयात विदेशों से किया जाता है। यह इङ्गलैंड, अमेरिका, कनाडा तथा फ्रांस आदि देशों से मंगाए जाते हैं। देश में इनको बनाने वाले कारखानों का निर्माण और विकास होने पर इनके आयात की मात्रा कम हो रही है।

(८) कच्ची जूट :—देश विभाजन के बाद जूट उत्पन्न करने वाले क्षेत्र के पाकिस्तान में चले जाने के कारण भारत को अपनी मिलों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए उसका आयात पाकिस्तान से करना पड़ता है। सरकार इसके उत्पादन को प्रोत्साहन दे रही है। इसकी कृषि देश के कई भागों में की जाने लगी है।

(९) अन्य वस्तुए :—चीनी, कच्ची धातुएं, नकली रेशम, घड़ियां, बिजली का सामान, छोटे २ औजार, आदि का आयात किया जाता है।

व्यापार की दिशा :—इङ्गलैंड तथा अमेरिका भारत के प्रम[illegible]क्रेता और विक्रेता है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत का निर्यात स्टर्लि[illegible]

र्मनी आदि इसके प्रमुख ग्राहक हैं। १९५५ में लगभग २० करोड़ रु० की च्ची धातुएं निर्यात की गई थी और १९६०–६१ में २७ करोड़ रु० के राबर होगी।

(५) मसाले :—प्राचीन समय में भारत से कालीमिर्च, तेजपात, लौंग ादि गर्म मसालों का निर्यात किया जाता था। इन दिनों में उनके निर्यात में ृद्धि हुई है। १९५८ में करीब ९ करोड़ रु० के मसालों का निर्यात हुआ।

(६) चमड़ा व खालें :—१९५८ में भारत मे २७ करोड़ रु० का मड़ा व खालों का निर्यात किया गया। १९६०–६१ तक वह २८ करोड़ के गभग होगा।

(७) तेल :—जब देश में तेल निकालने के कारखानों का विकास नहीं ुआ था उस समय तिलहनों का निर्यात किया जाता था परन्तु उनके विकास ोने पर तेलों का निर्यात किया जाने लगा है। १९६०–६१ तक २४ करोड़ रु० का तेल निर्यात किया जाने लगेगा।

(८) अन्य वस्तुएं :—कच्चा लोहा, कांच, औषधियां, बाल बेयरिंग, चमड़े की बनी वस्तुएं, तम्बाकू, गोंद, रेशम, रबड़, नारियल का रेशा, बिजली का सामान तथा छोटी मशीनों का भी निर्यात किया जाता है।

आयात

(१) खाद्यान्न :—भारत कृषि प्रधान देश होते हुए भी अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने लायक खाद्य पदार्थ उत्पन्न नहीं कर पाता। इस कारण विदेशों से लाखों टन अनाज आयात करना पड़ता है। इनका आयात बर्मा, इन्डोनेशिया, कनाडा, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों से किया जाता है।

(२) मशीनरी :—स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में तीव्र गति से हो रहे औद्योगीकरण के फलस्वरूप इनके आयात में वृद्धि हुई है। इनका आयात डालर मुद्रा वाले देशों से अर्थात् अमेरिका, कनाडा आदि से किया जाता है। रूस, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी आदि से भी मशीनरी आयात की जाती है। १९५८ में १७७ करोड़ रुपये की मशीनरी मंगाई गई थी। देश में चल रहे विकास कार्यक्रम को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अब भी उनके आयात में वृद्धि होगी।

(३) कपास :—देश की सूती मिलों की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त कपास का उत्पादन नहीं होता। अतः उसका विदेशों से आयात करना पड़ता है। १९५८ में २९.६ करोड़ रुपये की कपास मंगाई गई। इसका आयात मिश्र, पाकिस्तान आदि देशों से किया जाता है।

(४) रसायन व दवायें :—देश में रासायनिक पदार्थों का तथा दवाइयों का आयात काफी मात्रा में किया जाता है। इनका आयात इङ्गलैंड, अमेरिका, जर्मनी तथा जापान, स्विजरलैंड, आदि देशों से किया जाता है। १९५९ में इन पर ६२ करोड़ रुपये व्यय किए गए।

(५) कागज :—देश के कागज के कारखाने यहां की आवश्यकताओं को पूर्ण करने जितना माल उत्पन्न करने में असमर्थ हैं अतः उसका आयात विदेशों से किया जाता है। १९५८ में ७.७ करोड़ रुपये का कागज आयात किया गया था।

(६) पेट्रोल :—भारत में पेट्रोल बहुत ही कम मिलता है। इसका आयात इराक, अमेरिका, बर्मा आदि से किया जाता है।

(७) यातायात की सामग्री :—रेल के इन्जिन, समुद्री जहाज, मोटर कार तथा हवाई जहाजों का आयात विदेशों से किया जाता है। यह इङ्गलैंड, अमेरिका, कनाडा तथा फ्रांस आदि देशों से मंगाए जाते हैं। देश में इनको बनाने वाले कारखानों का निर्माण और विकास होने पर इनके आयात की मात्रा कम हो रही है।

(८) कच्ची जूट :—देश विभाजन के बाद जूट उत्पन्न करने वाले क्षेत्र के पाकिस्तान में चले जाने के कारण भारत को अपनी मिलों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए उसका आयात पाकिस्तान से करना पड़ता है। सरकार इसके उत्पादन को प्रोत्साहन दे रही है। इसकी कृषि देश के कई भागों में की जाने लगी है।

(९) अन्य वस्तुएं :—चीनी, कच्ची धातुएं, नकली रेशम, घड़ियां, बिजली का सामान, छोटे २ औजार, आदि का आयात किया जाता है।

व्यापार की दिशा :—इङ्गलैंड तथा अमेरिका भारत के प्रमुख क्रेता और विक्रेता है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत का निर्यात स्टर्लिंग क्षेत्र से

अधिक होता था । सुदूर पूर्व और मध्य-पूर्व से भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होगए हैं ।

पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, ईरान, पाकिस्तान से आयात किए जाने वाले मालों में वृद्धि हुई है जब कि इटली, मिश्र आदि देशों से आयात कम हुआ है। जापान, इङ्गलैंड, आस्ट्रेलिया, हिन्देशिया, लंका तथा चीन और रूस में निर्यात बढ़ा है। पोलैंड, रूमानिया, चेकोस्लेविया तथा यूगोस्लाविया से भारत का व्यापार बढ़ता जा रहा है। १९५६ में भारत ने इंगलैंड से२०८ करोड़ रु० का आयात किया था परन्तु १९५८ में १६८.५३ करोड़ रु० का। भारत ने वहां १८७ करोड़ रु० का माल १९५६ में निर्यात किया और १९५८ मे १६५ करोड़ रु. का। इसी समय के दौरान में अमेरिका से भारत का व्यापार बढ़ा। निर्यात ८९.९० करोड़ से बढ़कर ९२.५६ करोड़ रु. हो गया और आयात ९४ २१ करोड़ रु. से १६१.४६ करोड़ रु.। रूस को इसी समय में १९५६ में १२.१९ करोड़ रु. का माल निर्यात किया गया और १९५८ में २३.२१ करोड़ रु. का माल भेजा गया। हमने रूस से १९५६ में १४.९१ करोड़ रु. का तथा १९५८ में २१ ७१ करोड़ रु. का माल मंगाया।

देश	आयात जून-अगस्त करोड़ रु० में		निर्यात जून-अगस्त करोड़ रु० में	
	१९६०	१९५९	१९६०	१९५९
अमेरिका	१४३	१३१	६७	६३
इङ्गलैंड	१३३	११०	९८	९३
पश्चिमी जर्मनी	७५	८०	१२	१२
रूस	९	१०	१९	१७
जापान	३२	२९	२४	२४

१३ भारतीय चलन और बैंक

Q. 34. भारतीय पत्र मुद्रा प्रणाली का वर्णन करिए।

Ans.—मुद्रा तीन प्रकार की होती है:—(१) धातु मुद्रा (२) पत्र मुद्रा और (३) साख मुद्रा। धातु मुद्रा तथा पत्र मुद्रा प्रामाणिक होती है। अतः उन्हें चलन में सम्मिलित किया जाता है।

भारतीय चलन का नियंत्रण और पूर्ति भारतीय सरकार तथा केन्द्रीय बैंक (रिजर्व बैंक) द्वारा की जाती है।

भारत की प्रधान मुद्रा रुपया है। सब पदार्थों का मूल्य इसमें आंका जाता है। भारतीय रुपया प्रामाणिक तथा प्रतीक मुद्रा दोनों ही है। कुछ वर्षों पहले रुपया चांदी का होता था। चांदी के अभाव के कारण कालान्तर में रुपये में चांदी का प्रतिशत कम कर दिया गया और कुछ समय बाद निकल का प्रयोग किया जाने लगा। कागज के नोट भी आरम्भ किए गए। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् उसके चलन में वृद्धि हुई है। एक रुपये के नोट के चलन पर रिजर्व बैंक का नहीं बल्कि केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण होता है। यह नोट अविनिमेय होता है क्योंकि चलाने वाले अधिकारी उन्हें बदलने का वचन नहीं देते और न ही उनके पिछे कोई रिजर्व रखा जाता है। घाटे के बजट की व्यवस्था करने के लिए सरकार कई बार अधिक मात्रा में नोट छाप देती है।

अठन्नी, चवन्नी, दोअन्नी, इकन्नी, अधन्ना और पैसा भी भारतीय सरकार द्वारा चलाए जाते हैं।

देश का प्रमुख सिक्का रुपया है जिसमें १६ आने या ६४ पैसे होते हैं। सरकार ने १९५७ से इस प्रणाली को समाप्त करने के लिए कार्य आरम्भ कर दिया है। देश में दाशमिक प्रणाली आरम्भ की गई है। अब १ रुपये में ६४ पैसों के स्थान पर १०० नये पैसे होंगे। इसमें भी पुरानी प्रणाली के भांति ७ सिक्के होंगे।

१ रुपया=१०० नये पैसे

रुपये का आधा भाग = ५० ,, ,,

रुपये का चौथा भाग = २५ नये पैसे

रुपये का दसवां भाग = १० ,, ,,

रुपये का बीसवां भाग = ५ ,, ,,

रुपये का पचासवां भाग= २ ,, ,,

रुपये का सौवां भाग = १ ,, ,,

इस प्रणाली को लागू होने पर भी रुपये के मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। जनता की सुविधाओं को ध्यान में रखकर पुराने सिक्कों का चलन ३ वर्ष तक जारी रहेगा और धीरे २ पुराने सिक्कों का चलन हटा लिया जायेगा। कुछ दिनों पहले से सरकार ने पीली इकन्नी और आधा आना चलन से हटा लिए हैं परन्तु कुछ समय तक वे पोस्ट आदि सरकारी कार्यालयों द्वारा स्वीकार किए जायेंगे। इस प्रणाली को अपनाने का मुख्य उद्देश्य चलन प्रथा को सरल, वैज्ञानिक तथा अन्य देशो के समान बनाना है।

एक रुपये के नोट को छोड़ कर अन्य सब नोट रिजर्व बैंक द्वारा चलाए जाते हैं और उन पर उसका ही नियंत्रण होता है। उसके द्वारा चलाए हुए नोट विनिमेय होते हैं। वर्तमान समय में निम्नलिखित नोट इसके द्वारा जारी किए जाते हैं:— २), ५), १००). १०००), ५०००) तथा १००००)

इन नोटों के पीछे ४० करोड़ रुपये का रिजर्व रखा गया था। उस समय बैंक में जमा सोने की दर प्रति तोला मूल्य रु. २१-३-१० आंका गया था परन्तु अब वह रु. ६८-८ से आंका जाने लगा है जिस कारण जमा सोने का मूल्य ११५ करोड़ रुपया हो गया है। १९५७ में राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश ज़ारी करके रिजर्व बैंक द्वारा रखे जाने वाले चलार्थ के निचय की सीमा २०० करोड़ रुपये तक कर दी है।

Q. 35 भारतीय चलन का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

Ans.—प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत में कई छोटे २ राज्य थे। प्रत्येक राज्य के अपने विशेष प्रकार के सिक्के होते थे। उनका तोल और मूल्य भिन्न २ होने के कारण व्यापार में कई तरह की कठिनाइयां होती थी। जब इङ्गलैंड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों भारत की राजनैतिक बागडोर आई तब से भारतीय मुद्रा का एक समान, तोल तथा मूल्य में किए जाने का कार्य आरम्भ हुआ और यहां से भारतीय चलन का क्रमिक इतिहास का श्रीगणेश होता है।

आरम्भ में सोने और चांदी दोनों के सिक्कों का प्रचलन था। दोनों के मूल्य के अनुपात को निर्धारित कर दिया गया परन्तु फिर भी असुविधाओं का अन्त नहीं हुआ क्योंकि दोनों के सापेक्षिक मूल्य में परिवर्तन होता रहता था। इस कारण १८३५ में द्विधातु प्रणाली का अन्त कर दिया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सम्पूर्ण देश के लिए एक ही तरह की मुद्रा प्रचार के लिए विधान बनाया। नया सिक्का (रुपया) प्रामाणिक मुद्रा थी और वह तौल में १८० ग्रेन और ११/१२ भाग चांदी का था। अमेरिका में चांदी की नई खानों की खोज के कारण चांदी के मूल्य के कम होने के कारण भारतीय मुद्रा का भी मूल्य घटने लगा। उसका मूल्य विदेशी मुद्राओं की तुलना में १/२ रह गया। अतः इस प्रकार उत्पन्न परिस्थिति पर विचार करने और सुझावों को आमंत्रित करने के लिए १८९३ में हरशल कमेटी नियुक्त की गई। उनकी सिफारिशों पर सरकार ने जनता की टकसालें बन्द करदी और नए सिक्कों को बनाना स्थगित कर दिया।

मुद्रा सम्बन्धी नीति को तय करने के लिए कुछ वर्षों बाद फाउलर कमेटी नियुक्त की गई। उसकी सिफारिशों के अनुसार स्वर्ण मुद्रा मान को अपनाया गया। इंगलैंड की स्वर्ण मुद्रा को भारत में कानूनी घोषित कर दिया गया। रुपये की विनिमय दर १ शिलिंग ४ पैन्स तय की गई। सरकार ने कौंसिल बिल और रिवर्स कौन्सिल बिल के क्रय विक्रय द्वारा इस विनिमय दर को स्थिर रखने का प्रबन्ध किया। जब कभी निर्यात आयात से अधिक हो जाता था तो उस अवस्था में सेक्रेट्री आफ स्टेट फार इण्डिया कौन्सिल बिल का विक्रय कर सोना प्राप्त कर लिया करता था। उन कौन्सिल बिलों को विदेशी व्यापारी भारतीय व्यापारियों को उनके माल के बदले में देते थे। इन बिलों का भुगतान सरकारी खजाने द्वारा किया जाता था। जब कभी आयात अधिक हो जाता था और निर्यात कम रह जाता था तो उस अवस्था में सरकार रिवर्स काउन्सिल बिल को भारतीयों को बेचकर रुपया प्राप्त कर लेती थी। वे इन बिलों को उन विदेशी व्यापारियों को देते थे जिनसे उन्होंने माल खरीदा हो। इन बिलों के बदले में विदेशी व्यापारियों को सेक्रेट्री आफ स्टेट फार इण्डिया से स्टर्लिंग प्राप्त हो जाता था। इस व्यवस्था से विनिमय दर को स्थिर रखना तो संभव हो सका परन्तु उसके कारण भारत का सोना लन्दन में एकत्रित हो गया।

प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ होने पर इस प्रणाली का अन्त

गया। चांदी के भाव में वृद्धि होने के फलस्वरूप भारतीय रुपये का मूल्य २ शिलिंग ४ पैन्स हो गया। युद्ध के अन्त में भविष्य की मुद्रा नीति का निश्चय करने के लिए बैंविगटन स्मिथ कमेटी नियुक्त की गई। उस कमेटी ने स्वर्ण मुद्रामान को अपनाने की सिफारिश की। उसने यह भी सुझाव दिया कि रुपया का मूल्य २ शिलिंग रखा जाए। सरकार द्वारा उन्हें स्वीकार कर लिया गया परन्तु चांदी के मूल्य में ह्रास होने के कारण यह व्यवस्था सफल नहीं हो पाई। स्टर्लिंग आय में वृद्धि हो गई और सरकार को इस कारण रिवर्स काउन्सिल बिल का विक्रय बन्द कर देना पड़ा।

१९२५ में फिर एक कमेटी (हिल्टन) को नियुक्त की गई। उसने विनिमय दर १ शिलिंग ६ पैन्स रखने का सुझाव दिया और इस दर की स्थिरता को बनाए रखने का उत्तरादायित्व केन्द्रीय बैंक को देने का सुझाव दिया। स्वर्ण मुद्रा मान को अपनाया गया।

१९३१ में अन्तर्राष्ट्रीय मन्दी का प्रभाव भारतीय मुद्रा पर पड़ा। इंगलैंड में सोने की कमी हो जाने के फल स्वरूप स्वर्ण प्रभाव को त्याग दिया गया तथा नोटों के बदले में सोना देना बन्द कर दिया। १९३५ में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की स्थापना की गई। इस केन्द्रीय बैंक को मुद्रा प्रचलन का कार्य भार दिया गया। इस बैंक की स्थापना से पूर्व नोट छापने का अधिकार भारतीय सरकार को था।

१९३९ मे द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हुआ। इसका भारतीय मुद्रा और विनिमय पर काफी प्रभाव पड़ा। युद्ध के प्रारम्भिक दिनों में ऐक्सिस राष्ट्रों की जीत के कारण जनता ने कागज के नोटों के बदले में रुपयों की मांग करना प्रारम्भ कर दिया। चांदी के मूल्य में वृद्धि हुई। चांदी के सिक्कों को गलाना लोगों ने प्रारम्भ कर दिया। अतः सरकार ने १९४० में चांदी के प्रतिशत को कम कर दिया और एक रुपये वाले अपरिवर्तनशील नोट आरम्भ किए। २ जुलाई १९४४ से दो रुपये वाले नोट चालू किए गए। चोर बाजारी को रोकने के उद्देश्य से १९४६ में ५००), १०००), और १००००) के नोटों का चलन बन्द कर दिया गया।

अगस्त १९४७ में भारत आजाद हुआ। इसके बाद भारत I. M.F. का सदस्य बना। रुपये का एक स्वतंत्र मुद्रा के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ ४.१४५ ग्रेन विशुद्ध सोने की दर से सम्बंधित कर दिया गया। अब भारतीय रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग के साथ नहीं रहा।

१९४९ में इंगलैंड ने अपने पौंड का मूल्य कम कर दिया। भारत ने भी अपने रुपये का अवमूल्यन करने की घोषणा की। भारत के १०० रु० का मूल्य पाकिस्तान के १४४ रु० के बराबर है। अब भी भारतीय रुपये का मूल्य १ शिलिंग ६ पैन्स है। भारत की डालर के साथ ही विनिमय दर कम हो गई। अब एक डालर का मूल्य ४ रु० १२ आने है। इस अवमूल्यन के कारण भारत में वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हुई।

दशमलव प्रणाली के लिए देखिए प्रश्न नं० ३३

Q. 36. रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के विधान और कार्यों का वर्णन कीजिए।

(R.U. 34.37,39,46,55, Ag,58, M.B. 53,54, Sagar 50, Raj. 51,53,57)

Ans. आधुनिक युग में प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय बैंक होता है। जिसका प्रमुख कार्य मुद्रा तथा साख का संचालन करना और उन पर नियंत्रण रखना होता है। भारत का भी केन्द्रीय बैंक है। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की स्थापना का सुझाव सबसे पहले १९२५ में हिल्टन यंग कमीशन ने दिया था परन्तु कार्यान्वित न किया जा सका। १९३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना की गई।

१९३४ के कानून के अनुसार इसकी स्थापना की गई थी और वह शेयरधारियों का बैंक था। इस बैंक के लिए ५ करोड़ रुपये की पूंजी शेयरों को बेचकर कर प्राप्त की गई। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ और अब इस बैंक के राष्ट्रीयकरण की मांग की जाने लगी।

सितम्बर १९४८ में सरकार ने रिजर्व बैंक को राष्ट्रीय बैंक में परिवर्तित करना स्वीकार किया। सरकार ने इस बैंक के शेयर जनता से वापिस खरीद लिए और १०० रु० के एक शेयर के बदले में उन्हें ११८ रुपये १० आने दिए गए। इस प्रकार उसके शेयरधारी बैंक के स्वरूप को समाप्त कर दिया गया। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् भी इसकी पूंजी ५ करोड़ रुपये है।

रिजर्व बैंक के हेतु चौदह सदस्यों की एक कमेटी नियुक्त की गई। इसे केन्द्रीय संचालक बोर्ड कहा जाता है। इसके सदस्य निम्नलिखित होते हैं:-

१. एक गर्वनर।
२. दो उप-गर्वनर।

३. चार स्थानीय बोर्ड में से सरकार द्वारा नियुक्त चार संचालक।

४. केन्द्रीय सरकार द्वारा नामजद ६ संचालक।

५- केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त एक अफसर।

कार्यः—

रिजर्व बैंक आफ इन्डिया के कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) सरकारी बैंकः—होने के कारण सरकार का रुपया जमा करता है और उसके आदेश पर उनका भुगतान भी करता है। सरकार के लिए सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करता है।

(२) नोट छापना:—रिजर्व बैंक एक्ट की धारा २२ के अनुसार उसे नोट छापने का एकाधिकार दिया गया है। उसका पत्र मुद्रा निगम विभाग २),५),१०) तथा १००), के नोट छापता है। यह सभी अपरिमित कानून ग्राह्य् मुद्रा है ।

(३) यह बैंकों का बैंकर है:—देश की समस्त सूची बद्ध बैंकों को रिजर्व बैंक के पास अपने कोष का एक निश्चित भाग जमा कराना पड़ता है। आवश्यकता पड़ने पर वे उससे ऋण ले सकते है। व्यापार की मात्रा के अनुसार वह मुद्रा और साख का नियंत्रण करता है।

(४) विनिमय नियंत्रण:—यह कार्य वह अपने विनिमय नियंत्रण विभाग द्वारा करता है। कोई भी व्यवित उसकी आज्ञा के बगैर धन विदेश में नहीं भेज सकता। देश के समस्त विदेशी विनिमय बैंकों पर वह नियंत्रण रखता है।

(५) विनिमय दर पर नियंत्रण:—वह रुपये की विनिमय दर को एक शिलग ६ पैन्स पर स्थिर बनाए रखने का यत्न करता है !

(६) साख नियंत्रण:—साख नियंत्रण उसका सबसे महत्वपूर्ण और प्रमुख कार्य है। इसके लिए वह निम्नलिखित उपाय काम में लाता है:—

(a) बैंक दर नीति:—इसे स्थिर बनाये रखने का यत्न किया जाता है परन्तु जरुरत के समय में वृद्धि की जाती है।

(b) खुले बाजार की कार्यवाही:—साधारण अवस्थाओं में रिजर्व बैंक विपत्रों को स्वयं खुले बाजार में खरीदता है।

(c) नकद कोषः—सूची बद्ध बैंकों का कुछ प्रतिशत कोष अपने पास रख सकता है ।

(d) प्रत्यक्ष कार्यवाहीः—वह आवश्यकतानुसार किसी भी बैंक का निरीक्षण कर सकता है और उसको साख नीति को तय कर सकता है ।

(७) कृषि साख की व्यवस्थाः—रिजर्व बैंक कृषि समस्याओं का समय २ पर अध्ययन करता है । कृषि साख समितियों के सुधार के लिए सुझाव प्रदान करता है । देशी बैंकिग तथा आधुनिक बैंकिग प्रणाली के मध्य में सम्पर्क स्थापित करने के लिए यत्न करता है ।

(८) विना व्याज के जमा प्राप्त करनाः—यह विना व्याज पर जनता में पूंजी प्राप्त करता है ।

(९) हुण्डियों और बिलों को भुनाने का कार्य यह करता है ।

(१०) निकास गृहों पर नियंत्रणः—यह बैंकों के निकास गृहों (Clearing House) पर नियंत्रण रखता है ।

(११) ऋण देनाः—रिजर्व बैंक ९० दिन से अधिक समय के लिए ऋण नहीं दे सकता । ऋण सोने, चांदी, स्टाक आदि के आधार पर ही दिया जा सकता है ।

(१२) स्टर्लिंग का क्रय-विक्रयः—वह अन्य प्रामाणिक बैंकों से १ लाख और उससे अधिक मूल्य के स्टर्लिंग का क्रय-विक्रय करता है ।

(१३) सरकारी सिक्यूरिटोज का क्रय-विक्रयः—वह केन्द्रीय तथा प्रान्तीय और स्थानीय सरकारों की सिक्यूरिटीज का क्रय-विक्रय करता है ।

(१४) कर्मचारियों का प्रशिक्षणः—रिजर्व बैंक ने १९५४ में बम्बई में व्यापारिक बैंकों के कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से 'बैंकर्स ट्रेनिग कोलेज" की स्थापना की है ।

Q. 37. स्टेट बैंक आफ इण्डिया पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए ।

Ans. भारत में स्टेट बैंक की स्थापना १९५५ में पुराने इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण द्वारा की गई है । आने वाले कुछ वर्षों में स्टेट बैंक की ४०० शाखाएं खोली जायेंगी और वह देश मे ग्रामीण सहकारी साख समितियों को सहायता प्रदान कर ग्रामीण साख समस्या का समाधान करने के लिए प्रयत्न करेगी ।

३. चार स्थानीय बोर्ड में से सरकार द्वारा नियुक्त चार संचालक।

४. केन्द्रीय सरकार द्वारा नामजद ६ संचालक।

५- केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त एक अफसर।

कार्य:—

रिजर्व बैंक आफ इन्डिया के कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) सरकारी बैंक:—होने के कारण सरकार का रुपया जमा करता है और उसके आदेश पर उनका भुगतान भी करता है। सरकार के लिए सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करता है।

(२) नोट छापना:—रिजर्व बैंक एक्ट की धारा २२ के अनुसार उसे नोट छापने का एकाधिकार दिया गया है। उसका पत्र मुद्रा निगम विभाग २),५),१०) तथा १००), के नोट छापता है। यह सभी अपरिमित कानून ग्राहय् मुद्रा है।

(३) यह बैंकों का बैंकर है:—देश की समस्त सूची बद्ध बैंकों को रिजर्व बैंक के पास अपने कोष का एक निश्चित भाग जमा कराना पड़ता है। आवश्यकता पड़ने पर वे उससे ऋण ले सकते है। व्यापार की मात्रा के अनुसार वह मुद्रा और साख का नियंत्रण करता है।

(४) विनिमय नियंत्रण:—यह कार्य वह अपने विनिमय नियंत्रण विभाग द्वारा करता है। कोई भी व्यक्ति उसकी आज्ञा के बगैर धन विदेश में नहीं भेज सकता। देश के समस्त विदेशी विनिमय बैंकों पर वह नियंत्रण रखता है।

(५) विनिमय दर पर नियंत्रण:—वह रुपये की विनिमय दर को एक शिलग ६ पैन्स पर स्थिर बनाए रखने का यत्न करता है।

(६) साख नियंत्रण:—साख नियंत्रण उसका सबसे महत्वपूर्ण और प्रमुख कार्य है। इसके लिए वह निम्नलिखित उपाय काम में लाता है:—

(a) बैंक दर नीति:—इसे स्थिर बनाये रखने का यत्न किया जाता है परन्तु जरुरत के समय में वृद्धि की जाती है।

(b) खुले बाजार की कार्यवाही:—साधारण अवस्थाओं में रिजर्व बैंक विपत्रों को स्वयं खुले बाजार में खरीदता है।

(c) नकद कोषः—सूची बद्ध बैंकों का कुछ प्रतिशत कोष अपने पास रख सकता है ।

(d) प्रत्यक्ष कार्यवाहीः—वह आवश्यकतानुसार किसी भी बैंक का निरीक्षण कर सकता है और उसको साख नीति को तय कर सकता है ।

(७) कृषि साख की व्यवस्थाः—रिजर्व बैंक कृषि समस्याओं का समय २ पर अध्ययन करता है । कृषि साख समितियों के सुधार के लिए सुझाव प्रदान करता है । देशी बैंकिंग तथा आधुनिक बैंकिंग प्रणाली के मध्य में सम्पर्क स्थापित करने के लिए यत्न करता है ।

(८) बिना व्याज के जमा प्राप्त करनाः—यह बिना व्याज पर जनता से पूंजी प्राप्त करता है ।

(९) हुण्डियों और बिलों को भुनाने का कार्य यह करता है ।

(१०) निकास गृहों पर नियंत्रणः—यह बैंकों के निकास गृहों (Clearing House) पर नियंत्रण रखता है ।

(११) ऋण देनाः—रिजर्व बैंक ९० दिन से अधिक समय के लिए ऋण नहीं दे सकता ।ऋण सोने, चांदी, स्टाक आदि के आधार पर ही दिया जा सकता है ।

(१२) स्टर्लिंग का क्रय-विक्रयः—वह अन्य प्रामाणिक बैंकों से १ लाख और उससे अधिक मूल्य के स्टर्लिंग का क्रय-विक्रय करता है ।

(१३) सरकारी सिक्यूरिटीज का क्रय-विक्रयः—वह केन्द्रीय तथा प्रान्तीय और स्थानीय सरकारों की सिक्यूरिटीज का क्रय-विक्रय करता है ।

(१४) कर्मचारियों का प्रशिक्षणः—रिजर्व बैंक ने १९५४ में बम्बई में व्यापारिक बैंकों के कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से 'बैंकर्स ट्रेनिंग कोलेज" की स्थापना की है ।

Q. 37. स्टेट बैंक आफ इण्डिया पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए ।

Ans. भारत मे स्टेट बैंक की स्थापना १९५५ में पुराने इम्पी[illegible] बैंक के राष्ट्रीयकरण द्वारा की गई है । आने वाले कुछ वर्षों में स्टेट [illegible] [illegible] खोली जायेंगी और वह देश मे ग्रामीण सहकारी [illegible] [illegible] समस्या का समाधान

स्टेट बैंक की पूंजी:—इस बैंक की अधिकृत पूंजी (A Capital) २० करोड़ रुपये है। इस पूंजी को १००) वाले २० में विभक्त किया गया है। ५६२५ करोड़ रुपये की पूंजी रिज इण्डिया को हस्तान्तरित की गई है।

प्रबन्ध:—बैंक में प्रबन्ध कार्य का उत्तरदायित्व एक केन्द्री दिया गया है। इस बोर्ड में एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष, दो प्रबन्‍ और १६ अन्य संचालक हैं। ८ संचालकों को केन्द्रीय सरकार रिज सलाह से नामजद करती है। एक संचालक की नियुक्ति केन्द्रीय स एक की रिजर्व बैंक द्वारा की जाती है। बाकी के संचालकों का चु होल्डरों द्वारा किया जाता है।

कार्य:—स्टेट बैंक उन सब कार्यों को करता रहेगा जो इम्पीरि करता था। वह रिजर्व बैंक के एजेन्ट के रूप में कार्य करता है। रिजर्व बैंक की शाखाएं नहीं हैं उन स्थानों पर वह सरकारी बैंक करता है। सरकार के लिए ऋण की व्यवस्था करता है। वह भी बैंकों है। अन्य व्यापारिक बैंक इससे ऋण प्राप्त कर सकते हैं। निकास गृहों नियंत्रण रखता है। हुण्डियों तथा अन्य बिलों का लेन देन करता है। रि की जमानत, कर्ज, तथा नकद साख देता है, रुपया जमा करता है माह की अवधि के लिए कृषि बिल खरीद सकता है। कोर्ट आफ वा उनकी कम्पनियों की जमानत पर कर्ज देता है। वह निजी व्यापार भी है। रिजर्व बैंक की आज्ञा मिलने पर दूसरे बैंकों के हिस्से खरीद सकता है

इस बैंक का भारत में विशेष महत्व है। इसका उद्देश्य ग्रामीण क्षे बैंकिंग सुविधाओं को उपलब्ध करना है। आगामी पांच वर्षों में उसकी शाखाएं स्थापित की जावेंगी। वह वास्तव में ग्रामीण साखों का एक शाली साधन होगा। १९५५ में २०, १९५६ में ४६ और १९५७ में शाखाएं आरम्भ की हैं।

३१ दिसम्बर १९५९ तक इस बैंक ने ३५९ शाखाएं खोली इस समय स्टेट बैंक के २३८ उप कार्यालय तथा ८८८ शाखाएं कार्य रही हैं।

स्टेट बैंक ने सन् १९५५ से ठोस २ उद्योगों को सहायता देना आर कर दिया है। दिसम्बर १९५८ में बैंक ने निजी क्षेत्र को ११८.५६ कर

ए का ऋण दिया। यह बैंक सहकारी बैंकों की साधारण दर में २ प्रतिशत
पर ऋण प्रदान करता है। बैंक ने एक पायलेट दी प्रजा बनाई है जो उन
केन्द्रों पर प्रारम्भ होगी जहां बैंक की शाखाएं विद्यमान है। योजना का
उद्देश्य कुटीर उद्योगों को ऋण देना है। कुछ विशेष अवस्थाओं में बैंक बिना
रोहर के कुटीर उद्योग में लगे व्यक्तियों को ऋण प्रदान कर सकेगा।

१९५९ में State Bank of India (Subsidary Banks) कानून
पास किया गया। इसके अनुसार इन्दौर, जयपुर, मैसूर, पटियाला, त्रावनकोर,
हैदराबाद व सौराष्ट्र बैंक को अपने उप बैंकों के रूप में State Bank लेगा।

स्टेट बैंक में निम्नलिखित बैंकों का विलय कर लिया गया है:—

(१) सौराष्ट्र राज्य बैंक (२) पटियाला बैंक (३) बैंक आफ बीकानेर
(४) बैंक आफ जयपुर (५) राजस्थान बैंक (६) बैंक आफ बड़ोदा (७) त्रावन
कोर बैंक (८) इन्दौर बैंक (९) मैसूर बैंक।

अब यह सब बैंक रिजर्व बैंक के ऐजेण्ट के रूप में कार्य करेंगे और
ट्रेजरी का कार्य करेंगे।

Q. 38. मिश्रित पूंजी वाले व्यापारिक बैंकों के मुख्य कार्यों का
वर्णन करिए। क्या ये उद्योग के लिए उपयोगी हैं?

उत्तर:—भारतीय मुद्रा बाजार में मिश्रित पूंजी वाले व्यापारिक बैंकों
का प्रमुख स्थान है। जैसे २ आन्तरिक व्यापार और उद्योग की संख्या में वृद्धि
होने लगी वैसे २ ही उनकी शाखाओं का भी विस्तार होने लगा है। इन व्या-
पारिक बैंकों के कार्य निम्नलिखित हैं:—

१. रुपया जमा करना:—वे विभिन्न प्रकार के खातों में रुपया जमा
करते हैं:—

(a) चालू खाता:— इस खाते में जो व्यक्ति रुपया जमा करता है उसे
यह स्वतन्त्रता होती है कि वह दिन में अपनी इच्छानुसार चाहे जितनी बार
रुपया जमा करा सकता है या चैक द्वारा उसे निकलवा सकता है।

(b) निश्चित खाता:—इसमें रुपया जमा कराने वाला व्यक्ति
निश्चित समय की अवधि की समाप्ति के पहले रुपया नहीं निकलवा सकता।
इस प्रकार के खाते में ब्याज की दर ऊंची होती है।

(c) बचत खाता:—इसमें सप्ताह में निश्चित संख्या में रुपया निकाला
जा सकता है (अधिक से अधिक दो बार)। इसमें ब्याज की दर कम होती है।

अन्य कार्यों के लिए देखिए अर्थशास्त्र दिग्दर्शन भाग पहला।

व्यापारिक बैंक और उद्योगः—उद्योग की उन्नति में इनका महत्व-पूर्ण हाथ है। ये हुण्डी का भुगतान कर उद्योगपतियों को बहुत सहायता पहुंचाते हैं व व्यापारियों को अन्य प्रकार की सुविधाएं प्रदान करते हैं। कई बार आवश्यकता पड़ने पर उद्योगपतियों को ओवर ड्राफ्ट कर के आर्थिक सहायता प्रदान करते है। वे कई बार व्यापारियों को ऋण भी प्रदान करते हैं।

प्रश्न नं० ३६. भारत में व्यापारिक बैंकों की वर्तमान स्थिति क्या है? उनके मुख्य दोषों का वर्णन करिए। १६४६ के बैंकिंग कानून ने उन्हें कहां तक हल किया है? (Delhi 50, P. U. 48)

उत्तरः—आधुनिक युग में भारतीय मुद्रा बाजार में इन बैंकों का महत्वपूर्ण स्थान है। जैसे जैसे देश का औद्योगिक विकास हो रहा है वैसे वैसे उनकी शाखाओं में वृद्धि हो रही है। व्यापारिक बैंकों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

(१) अनुसूचित बैंकः—अनुसूचित बैंक की श्रेणी में केवल वे ही बैंक आते है जिनका Paid up Capital ५ लाख रु० या उससे अधिक है। और जिनका नाम केन्द्रीय बैंक (रिजर्व बैंक) की अनुसूची में सम्मिलित है। १६५६ में ऐसे बैंकों की संख्या ८६ थी।

इन बैंकों को अपनी मांग देनदारी का ५ प्रतिशत तथा समस्त देनदारी का २ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास जमा कराना अनिवार्य है। १६५६ में इसमें वृद्धि करने का अधिकार रिजर्व बैंक को दिया गया है।

(२) गैर अनुसूचित बैंक:—इस श्रेणी में वे बैंक आते है जिनका नाम रिजर्व बैंक की अनुसूची में दर्ज नहीं होता है। १६५६ में इनकी संख्या ३८४ थी। व्यापारिक बैंक के कार्यों के लिए देखिए प्रश्न नं ३७.

व्यापारिक बैंकों के दोषः—साख का प्रयोग न करने की जनता की आदत के कारण बैंकों को अपने पास अधिक मात्रा में नकद रुपया रखना पड़ता है। विशेष लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से कई बार बैंक अपने पास नकद जमा रुपये को उधार दे देते हैं। इस कारण कई बार अनेक बैंक असफल हो जाते हैं।

भारत में प्रायः अधिकतर बैंक उद्योगपतियों द्वारा स्थापित किये गये हैं और उनका संचालन भी उनके हाथों में है। इस कारण वे अनुचित लाभ

ने का यत्न करते हैं। यदि उनको अपने व्यवसाय से नुकसान होता है तो
का प्रभाव निश्चित रूप से उन पर भी पड़ता है। इस प्रकार की स्थिति के
ण साधारण जनता को बैंक में विश्वास नहीं रहता। अब तक फेल होने
बैंकों में औरंगाबाद बैंक तथा ट्रावनकोर बैंक आदि हैं।

अब भी भारतीय बैंक अपनी शिशु अवस्था में हैं। इस पर भी अपने
कास की ओर ध्यान न देकर वे एक-दूसरे से प्रतियोगिता करने का प्रयत्न
ते हैं। बैंक केवल उन्हीं स्थानों पर अपनी नई शाखाएं खोलता है जहां पहले
ही काफी बैंकों की शाखाएं मौजूद होती है। इसका परिणाम यह होता है
उन स्थानों पर जहां बैंक नहीं है, वहां उनका अभाव बना रहता है और वहां
निवासियों को पूंजी बचाने का प्रोत्साहन नहीं मिलता।

भारतीय बैंकों के कर्मचारी विशेष रूप से प्रशिक्षित नहीं होते हैं और
नमें न ही वह कुशलता मौजूद है जो साधारणतया उनमें होनी चाहिये।

व्यापारिक बैंकों के दोषों का समाधान करने हेतु १९४९ में एक एक्ट
नाया गया (१९५० में उसमें कुछ संशोधन कर दिया गया)।

(१) ५० हजार से कम पूंजी वाला कोई भी बैंक स्थापित न किया
जा सकेगा। यह नये बैंकों की बढ़ती हुई संख्या को रोकने के लिए किया
गया है।

(२) नई शाखा आरम्भ करने के लिए रिजर्व बैंक की स्वीकृति लेना
अनिवार्य कर दिया गया है।

(३) एक बैंक का संचालक दूसरे बैंक में कोई भी पद ग्रहण नहीं
कर सकेगा।

(४) बैंक अपने हिस्सों की जमानत पर ऋण नहीं दे सकेगा। उसके
संचालक या उसकी कम्पनी को उसके द्वारा ऋण दिए जाने पर प्रतिबन्ध लगा
दिया गया है।

(५) प्रत्येक बैंक के लिए सुरक्षित कोष रखना अनिवार्य कर दिया
गया है।

(६) विभिन्न खातों में जमा रुपयों का ७५ प्रतिशत उन्हें भारत में
रखना होगा।

(७) अपनी मांग देनदारी का ५ प्रतिशत तथा समस्त देनदारी का
२ प्रतिशत प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैंक के पास जमा कराना होगा।

उपर्युक्त एक्ट के कारण अन्य बैंकों पर रिजर्व बैंक का कड़ा नियन्त्रण स्थापित हो गया है। रिजर्व बैंक जब चाहे उनके Accounts को चैक कर सकता है। इस प्रकार १९४९ के एक्ट ने बैंकों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाकर उनकी अनुचित कार्यवाही को रोककर उनके दोषों को दूर करने की ओर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

प्रश्न नं० ४०-देशी बैंकर्स के गुण और दोषों का वर्णन कीजिए तथा उनके सुधार के लिए सुझाव दीजिए।

उत्तर:—भारत में बैंकिंग प्रणाली अत्यन्त प्राचीन समय से चली आ रही है। यह कहना कोई अतिशयोक्ति न होगी कि वह पहाड़ के समान प्राचीन है (as old as hills)। उनकी विशेषता यह है कि पहाड़ों की भांति वह अस्थिर बनी रही। आर्थिक जीवन में होने वाली प्रगति तथा उन्नति का कोई भी प्रभाव उस पर न पड़ा।

आज भी इस प्रणाली पर कार्य करने वाले महाजन (बनिया, सेठ, साहूकार) देश के प्रत्येक गांव और नगर में फैले हुए हैं।

गुण:—(१) वह गांवों में रहने वाले कृषकों तथा अन्य जरूरतमन्द व्यक्तियों को उत्पादक और अनुत्पादक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ऋण देते हैं। बैंकों के अभाव में उनका गांव में महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

(२) ऋण प्राप्त करने की कार्यवाही अत्यन्त सरल और सुलभ है परन्तु सरकार और अन्य बैंकों से ऋण प्राप्त करना इतना सरल नहीं है।

(३) महाजन प्रायः आढ़त का कार्य करते हैं जिससे गांवों में व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है।

(४) महाजन अपना ऋण कृषक से फसल कटने के बाद ही वसूल करता है और अधिकतर कृषक अपनी उपज उसे ही बेच देते हैं। अपना ऋण कटाकर शेष रकम उससे ले लेते हैं।

दोष:—यह प्रथा अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी कई दोषों से परिपूर्ण है।

(१) अत्यधिक सूद की दर:—देशी बैंकर्स ऋण लेने वालों की विवशता से अनुचित लाभ उठाकर उनसे ऊंची सूद की दर लेते हैं। चक्रवृद्धि ब्याज वसूल करते हैं।

(२) आर्थिक शोषण:—महाजन ऋण देते समय कृषकों का कई

प्रकार से शोषण करते हैं। उनसे कई महीनों का ब्याज अग्रिम ले लेते हैं। थैली का मुंह खुलाई, नजराना आदि के बहाने से रुपए अनुचित रूप से वसूल करते हैं। कई साहूकार कर्ज देते समय यह शर्त रख देते हैं कि उपज उन्हें ही बेची जावेगी। वह उन्हें कम मूल्यों पर खरीदता है जिससे कृषकों को आर्थिक हानि होती है। कई महाजन निजी व्यापार भी करते हैं। वे कृषकों को उनका माल खरीदने के लिए बाध्य कर देते हैं। उन्हें खराब माल, बीज आदि ऊंचे मूल्यों पर देते हैं। एक कृषक जब उनके चंगुल में फंस जाता है तो मुश्किल से ही छुटकारा पा सकता है। इस कारण कई बार यह कहा जाता है कि भारतीय कृषक ऋण में जन्म लेता है और पलता है तथा उसकी मृत्यु भी उसी में हो जाती है।

(३) बेगार लेना:—महाजन उनसे ऋण लेने वाले आसामी को खरीदा हुआ गुलाम समझते हैं। वह उनसे सदैव किसी न किसी प्रकार का काम कराते रहते हैं जिसके बदले में उन्हें किसी भी प्रकार की मजदूरी नहीं देते।

(४) धोखा:—महाजन उनकी निरक्षरता से लाभ उठाकर उन्हें ठगने में भी नहीं चूकते। कभी कभी वे आसामी से कोरे कागज पर अगूंठा लगवा कर फिर उसमें मनमानी रकम दर्ज कर देते हैं। कभी कभी वह लिखते समय ही अधिक रकम लिख देते हैं और रुपया जो उनसे वे लेते हैं उन्हें जमा नहीं करते।

इस प्रकार विभिन्न तरीकों से महाजन ऋण लेने वालों का आर्थिक शोषण करते हैं और उनकी हरकतों के कारण आज भारतीय कृषक दुर्दशा में हैं। कुछ लोगों का यह कहना है कि इस विनाशकारी पद्धति को पूर्णतया समाप्त कर देना चाहिए। परन्तु बैंकों के अभाव में उनको समाप्त कर देना संभव नहीं है। अतः यह चाहिए कि उनमें सुधार किया जाय।

ब्याज की दर कानून के द्वारा तय कर दी जाय और उससे अधिक सूद लेने वालों को दण्डित किया जाय। देशी बैंकिंग प्रणाली पर रिजर्व बैंक का नियंत्रण स्थापित किया जाय। देशी बैंकर्स के सामूहिक संघ का निर्माण कर सहकारी बैंक खोले जांय। गांवों में शिक्षा का प्रसार किया जाय ताकि वे निरक्षर किसानों को पहले जिस रूप से ठग लिया करते थे, वह संभव न रहे। बेगार लेने पर उनके साथ कड़ी कार्यवाही की जाय। रुपया जमा करने के लिए उन्हें प्रोत्साहन दिया जाय।

प्रश्न नं० (४१) भारत की आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था का संक्षेप में वर्णन करिए।

उत्तर:--भारत में आधुनिक बैंक के मुख्य अंग निम्नलिखित है--

(१) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, (२) अन्य आधुनिक बैंक और (३) देशी बैंकर्स।

(२) रिजर्व बैंक के लिए देखिए प्रश्न नं० ३५.

(३) अन्य आधुनिक बैंकों को उनके कार्यों के अनुसार निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है--

(१) व्यापारिक बैंक।

(२) भूमिबन्धक बैंक।

(३) औद्योगिक बैंक।

(४) सहकारी बैंक।

(५) विनिमय बैंक।

(६) सेविंग बैंक।

व्यापारिक बैंक:---भारत में मिश्रित पूंजी वाले बैंकों की संख्या अधिक है। उनका आरम्भ १९०५ में हुआ था। वे बैंक जो देश के आन्तरिक व्यापार के लिए अल्प अवधि के ऋण देते है, व्यापारिक बैंक कहलाते हैं। १९५६ के अन्त तक उनकी सख्या ४४३ थी। इसमें दोनों अनुसूचित और गैर-अनुसूचित बैंक सम्मिलित हैं। भारत के प्रमुख बैंक निम्नलिखित हैं---

(१) इलाहाबाद बैंक लि०।

(२) बैंक आफ बड़ोदा लि०।

(३) पंजाब नेशनल बैंक लि०।

(४) स्टेट बैंक आफ इण्डिया।

(५) सेन्ट्रल बैंक लि०।

(६) यूनाइटेड कामर्शियल बैंक लि०।

भूमिबन्धक बैंक:---उन बैंकों को भूमिबन्धक बैंक कहा जाता है जो कृषक को उसकी भूमि को रहन रख कर उसे उत्पादक कार्यों के लिए, पुराना ऋण चुकाने के लिए दीर्घकालीन ऋण प्रदान करते हैं। वे उनसे बहुत ही कम सूद की दर लेते हैं। १९५६ में उनकी संख्या ३०२ थी।

प्राथमिक भूमिबन्धक बैंकों को सहायता देने के लिए कई राज्यों ने

केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक स्थापित किए हैं। इनकी संख्या ६ है।

औद्योगिक बैंक:—इनमें उनको सम्मिलित किया जाता है जो उद्योग धन्धों के लिए पूंजी की व्यवस्था करते हैं। वह पुराने कारखानों के नवीनीकरण तथा नए कारखानों को दीर्घकाल के लिए ऋण प्रदान करते हैं। भारत में इस प्रकार के बैंकों की संख्या काफी कम है। १६४८ में औद्योगिक वित्त निगम कायम किया गया जो उद्योगों को दीर्घकाल के लिए ऋण प्रदान करता है। कई राज्यों ने भी ऐसे नियम की स्थापना की है। राजस्थान में भी सरकार ने **Rajasthan State Finance Corporation** की स्थापना की है जो छोटे और बड़े उद्योगों को ऋण देता है।

सहकारी बैंक:--सहकारी बैंक का मुख्य उद्देश्य आर्थिक क्षेत्रमें अव्यवस्था का अन्त करना है। जो व्यक्ति ऋण लेना चाहते हैं वे सब स्वयं मिलकर साख की व्यवस्था करते हैं। १६०४ मे सहकारी समितियों का श्रीगणेश हुआ था।

प्रारम्भिक सहकारी समितियों की सहायता के लिए केन्द्रीय सहकारी बैंक स्थापित किए गए हैं तथा प्रत्येक राज्य में "राज्य सहकारी बैंक" की स्थापना की गई है। उनकी संख्या इस समय १४ है।

विनिमय बैंक:—वे बैंक जो भारत के विदेशी व्यापार के भुगतान की व्यवस्था में संलग्न हैं, विनिमय बैंक कहलाते है। १६५६ में उनकी संख्या १५ थी और उनकी शाखाओं की संख्या ६५ थी।

इनका मुख्य कार्य विदेशी हुण्डियों को खरीदकर, उन पर बट्टा काट कर विदेशी व्यापार में सहायता प्रदान करना है। वे आयात बिलों का रुपया भारतीय व्यापारियों से निश्चित की गई तारीख पर वसूल करते है। वे विदेशी ड्राफ्ट तथा टेलीग्राफिक ट्रांस्फर का विक्रय करते हैं। अब वे अन्य प्रकार के लेने-देन का भी कार्य करने लगे है।

इन बैंकों में प्रमुख **The Charterd Bank of India, Astralia and China** है। अन्य प्रमुख बैंकों में दी नेशनल बैंक आफ इण्डिया और दी मर्केन्टाइल बैंक आफ इण्डिया हैं। १६४६ के एक्ट के अनुसार उन पर रिजर्व बैंक का नियंत्रण स्थापित हो गया है।

सेविंग बैंक:—प्रायः बैंकों में जनता को बचत का रुपया जमा कराने की व्यवस्था है, परन्तु भारतीय डाकखानों में उसके लिए विशेष व्यवस्था की गई है। इसका मुख्य उद्देश्य छोटी बचतों को प्रोत्साहन देना है। कोई भी

प्रश्न नं० (४१) भारत की आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था का सक्षेप में वर्णन करिए।

उत्तर:--भारत में आधुनिक बैंक के मुख्य अंग निम्नलिखित है--

(१) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, (२) अन्य आधुनिक बैंक और (३) देशी बैंकर्स।

(२) रिजर्व बैंक के लिए देखिए प्रश्न नं० ३५.

(३) अन्य आधुनिक बैंकों को उनके कार्यों के अनुसार निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है--

(१) व्यापारिक बैंक ।
(२) भूमिबन्धक बैंक।
(३) औद्योगिक बैंक।
(४) सहकारी बैंक।
(५) विनिमय बैंक।
(६) सेविंग बैंक।

व्यापारिक बैंक:--भारत में मिश्रित पूंजी वाले बैंकों की संख्या अधिक है। उनका आरम्भ १९०५ में हुआ था। वे बैंक जो देश के आन्तरिक व्यापार के लिए अल्प अवधि के ऋण देते है, व्यापारिक बैंक कहलाते हैं। १९५६ के अन्त तक उनकी सख्या ४४३ थी। इसमें दोनों अनुसूचित और गैर-अनुसूचित बैंक सम्मिलित हैं। भारत के प्रमुख बैंक निम्नलिखित हैं--

(१) इलाहाबाद बैंक लि०।
(२) बैंक आफ बड़ोदा लि०।
(३) पंजाब नेशनल बैंक लि०।
(४) स्टेट बैंक आफ इण्डिया।
(५) सेन्ट्रल बैंक लि०।
(६) यूनाइटेड कामर्शियल बैंक लि०।

भूमिबन्धक बैंक:--उन बैंकों को भूमिबन्धक बैंक कहा जाता है जो कृषक को उसकी भूमि को रहन रख कर उसे उत्पादक कार्यों के लिए, पुराना ऋण चुकाने के लिए दीर्घकालीन ऋण प्रदान करते हैं। वे उनसे बहुत ही कम सूद की दर लेते हैं। १९५६ में उनकी संख्या ३०२ थी।

प्राथमिक भूमिबन्धक बैंकों को सहायता देने के लिए कई राज्यों ने

केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक स्थापित किए हैं। इनकी संख्या ९ है।

औद्योगिक बैंक:—इनमें उनको सम्मिलित किया जाता है जो उद्योग धन्धों के लिए पूंजी की व्यवस्था करते हैं। वह पुराने कारखानों के नवीनीकरण तथा नए कारखानों को दीर्घकाल के लिए ऋण प्रदान करते हैं। भारत में इस प्रकार के बैंकों की संख्या काफी कम है। १९४८ में औद्योगिक वित्त निगम कायम किया गया जो उद्योगों को दी र्काल के लिए ऋण प्रदान करता है। कई राज्यों ने भी ऐसे नियम की स्थापना की है। राजस्थान में भी सरकार ने **Rajasthan State Finance Corporation** की स्थापना की है जो छोटे और बड़े उद्योगों को ऋण देता है।

सहकारी बैंक:--सहकारी बैंक का मुख्य उद्देश्य आर्थिक क्षेत्रमें अव्यवस्था का अन्त करना है। जो व्यक्ति ऋण लेना चाहते हैं वे सब स्वयं मिलकर साख की व्यवस्था करते हैं। १९०४ में सहकारी समितियों का श्रीगणेश हुआ था।

प्रारम्भिक सहकारी समितियों की सहायता के लिए केन्द्रीय सहकारी बैंक स्थापित किए गए है तथा प्रत्येक राज्य में "राज्य सहकारी बैंक" की स्थापना की गई है। उनकी संख्या इस समय १४ है।

विनिमय बैंक:—वे बैंक जो भारत के विदेशी व्यापार के भुगतान की व्यवस्था में संलग्न हैं, विनिमय बैंक कहलाते हैं। १९५६ में उनकी संख्या १५ थी और उनकी शाखाओं की संख्या ६५ थी।

इनका मुख्य कार्य विदेशी हुण्डियों को खरीदकर, उन पर बट्टा काट कर विदेशी व्यापार में सहायता प्रदान करना है। वे आयात बिलों का रुपया भारतीय व्यापारियों से निश्चित की गई तारीख पर वसूल करते है। वे विदेशी ड्राफ्ट तथा टेलीग्राफिक ट्रांस्फर का विक्रय करते हैं। अब वे अन्य प्रकार के लेने-देन का भी कार्य करने लगे है।

इन बैंकों में प्रमुख **The Charterd Bank of India, Astralia and China** है। अन्य प्रमुख बैंकों में दी नेशनल बैंक आफ इण्डिया और दी मर्केन्टाइल बैंक आफ इण्डिया हैं। १९४९ के एक्ट के अनुसार उन पर रिजर्व बैंक का नियंत्रण स्थापित हो गया है।

सेविंग बैंक:—प्रायः बैंकों में जनता को बचत का रुपया जमा कराने की व्यवस्था है, परन्तु भारतीय डाकखानों में उसके लिए विशेष व्यवस्था की गई है। इसका मुख्य उद्देश्य छोटी बचतों को प्रोत्साहन देना है। कोई

प्रश्न नं० (४१) भारत की आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था का संक्षेप में वर्णन करिए।

उत्तर:--भारत में आधुनिक बैंक के मुख्य अंग निम्नलिखित है--

(१) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, (२) अन्य आधुनिक बैंक और (३) देशी बैंकर्स।

(२) रिजर्व बैंक के लिए देखिए प्रश्न नं० ३५.

(३) अन्य आधुनिक बैंकों को उनके कार्यों के अनुसार निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है–

(१) व्यापारिक बैंक।
(२) भूमिबन्धक बैंक।
(३) औद्योगिक बैंक।
(४) सहकारी बैंक।
(५) विनिमय बैंक।
(६) सेविंग बैंक।

व्यापारिक बैंक:—भारत में मिश्रित पूंजी वाले बैंकों की संख्या अधिक है। उनका आरम्भ १९०५ में हुआ था। वे बैंक जो देश के आन्तरिक व्यापार के लिए अल्प अवधि के ऋण देते है, व्यापारिक बैंक कहलाते हैं। १९५६ के अन्त तक उनकी सख्या ४४३ थी। इसमें दोनों अनुसूचित और गैर-अनुसूचित बैंक सम्मिलित हैं। भारत के प्रमुख बैंक निम्नलिखित है—

(१) इलाहाबाद बैंक लि०।
(२) बैंक आफ बड़ौदा लि०।
(३) पंजाब नेशनल बैंक लि०।
(४) स्टेट बैंक आफ इण्डिया।
(५) सेन्ट्रल बैंक लि०।
(६) यूनाइटेड कार्मशियल बैंक लि०।

भूमिबन्धक बैंक:—उन बैंकों को भूमिबन्धक बैंक कहा जा[ता है जो] कृपक को उसकी भूमि को रहन रख कर उसे उत्पादक कार्यों के लिए ऋण चुकाने के लिए दीर्घकालीन ऋण प्रदान करते हैं। वे उनसे वह[ी] सूद की दर लेते हैं। १९५६ में उनकी संख्या ३०२ थी।

प्राथमिक भूमिबन्धक बैंकों को सहायता देने के लिए कई

व्यस्क व्यक्ति अपना खाता किसी भी डाकखाने के सेविंग बैंक में खुलवा सकता है। जमा की न्यूनतम मात्रा २) है और एक व्यक्ति के लिए अधिकतम सीमा १५,०००) है। जमा रुपया सप्ताह में दो बार निकाला जा सकता है। १० हजार तक एक व्यक्ति को उसकी पूंजी के लिए आय कर से मुक्त २½% की दर से सूद प्राप्त होता है।

देशी बैंकर्स के लिए देखिए प्रश्न नं० ३६।

१४ भारत की पंचवर्षीय और सामुदायिक विकास योजनाएं

प्रश्न नं० (४२) द्वितीय पंचवर्षीय योजना के क्या उद्देश्य हैं? इस योजना ने अब तक क्या प्रगति की है, संक्षेप में वर्णन कीजिए।

(Agra 57, Raj. 60)

उत्तरः—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार ने देश को समृद्धिशाली बनाने के हेतु पंचवर्षीय योजनाओं को प्रारम्भ करने का निश्चय किया। प्रथम योजना १९५१ में आरम्भ की गई। उसमें प्राप्त सफलता ने सरकार को १९५६ में दूसरी योजना को आरम्भ करने के लिए प्रोत्साहन दिया। प्रथम योजना में कृषि और सिंचाई को प्राथमिकता दी गई थी। द्वितीय योजना में मूलभूत उद्योगों को प्राथमिकता दी गई है। सरकार ने इसमें समाजवादी समाज की स्थापना करने का आदर्श रखा है। योजना के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

(१) राष्ट्रीय आय में वृद्धि कर देश के निवासियों के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाना।

(२) मूलभूत उद्योगों को प्राथमिकता देते हुए देश का शीघ्रता से औद्योगीकरण करना।

(३) बेरोजगारी की समस्या का समाधान करना।

(४) आय और सम्पत्ति की असमानता को दूर करना तथा आर्थिक शक्ति का अधिकांश समान वितरण करना।

योजना की कुल लागतः—योजना काल (१९५६-६१) में केन्द्रीय एवं राज्यों की सरकारों द्वारा कुल मिलाकर ४८०० करोड़ रुपये व्यय किये

जायेंगे। इसके अलावा निजी क्षेत्र में करीब २४०० करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है।

वितरण:—सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय किए जाने वाले ४८०० करोड़ रुपये का वितरण निम्नलिखित तरह से होगा।

विषय	कुल व्यय करोड़ में	प्रतिशत
(१) कृषि और सामुदायिक विकास	५६८	११.८%
(२) बिजली व सिंचाई	९१३	१९.%
(३) उद्योग व खान	८९०	१८.५%
(४) यातायात और संदेशवाहन	१३८५	२८.९%
(५) सामाजिक संस्थाएं और पुनर्वास	९४५	१९.७%
(६) विविध	९९	२.१%
	योग ४८००	१००

आय के साधन:—इस योजना के लिए धन की व्यवस्था इस प्रकार से होगी:—

(१) चालू आय में बचत	८०० करोड़
(२) सार्वजनिक ऋण	१२०० करोड़
(३) स्थानों से (रेल्वे, P.F.)	४०० करोड़
(४) विदेशी सहायता	८०० करोड़
(५) घाटे की वित्त व्यवस्था	१२०० करोड़
(६) अनकवर्ड गैप	४०० करोड़
	योग ४८०० करोड़

योजना का उत्पादन लक्ष्य:—खाद्य पदार्थों की उपज में १५ प्रतिशत वृद्धि तथा तिलहनों में २७ प्रतिशत, चीनी तथा गुड में २२ प्रतिशत, कपास में ३१ प्रतिशत वृद्धि होने का अनुमान है। लोहा, इस्पात, सीमेंट, खाद की उत्पत्ति में भी वृद्धि होगी। इस्पात का उत्पादन करने के लिए तीन बड़े कारखाने (दुर्गापुर, रूलकेला, भिलाई) स्थापित किए जा रहे हैं। बिजलीघरों की क्षमता ३४ लाख किलोवाट से बढ़ कर ६९ लाख किलोवाट हो जायेगी। दूसरी योजना के अन्त तक १९००० नगरों और गांवों को बिजली प्राप्त होने लगेगी।

योजना तथा सामाजिक सेवाएं:—शिक्षा, स्वास्थ्य, मकान, पुनः संस्था-

पन आदि में विकास होगा। शिक्षा के प्रसार के लिए योजना में ३०७ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। गृह निर्माण तथा स्वास्थ्य के लिए क्रमशः ९१ तथा २७४ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। श्रम और श्रम कल्याण के लिए २९ करोड़ की व्यवस्था की गई है।

योजना और राष्ट्रीय आय:—राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने की आशा है। ऐसा अनुमान है कि योजना के अन्त (१९६१)में राष्ट्रीय आय में १८ प्रतिशत की वृद्धि होगी।

योजना और रोजगार:– योजना के अन्तर्गत चल रहे कार्यों के कारण तथा उनकी समाप्ति पर कई लाख व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त होगा। इस योजना से ११० लाख व्यक्तियों को नए रोजगार उपलब्ध हो सकने की आशा है। भारत में प्रत्येक वर्ष रोजगार चाहने वालों की संख्या में करीब २०लाख की वृद्धि होती है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि १९६१ तक वह १ करोड़ हो जावेगी,अतः काफी लोगों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी होगी।

योजना तथा गांव:—१९५१ में पंचायतों की संख्या ८३००० थी। तीय योजना के अन्त तक वह २ लाख के करीब हो जायेगी। सहकारी आंदोलन को प्रोत्साहन दिया जाएगा। गांवों के विकास के लिए सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार खण्ड का कार्यक्रम हाथो में लिया जायेगा और उन पर२०० करोड़ रुपये व्यय किए जावेंगे। ग्राम तथा छोटे पैमाने के उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाएगा और इसके लिए २०० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। सड़कों का विकास कर प्रत्येक गांव का सम्बन्ध पक्की सड़कों से स्थापित करने का यत्न किया जाएगा।

योजना तथा परिवहन और संचार:—रेलवे के विकास पर ९०० करोड़ रुपए व्यय किए जाएंगे। ७७ मील लम्बी दुहरी लाइन डाली जाएगी। २६५ मील लम्बी मीटर गेज लाइन को ब्राडगेज में परिवर्तित किया जाएगा और ८४२ मील लम्बी नई रेल लाइनें डाली जाएंगी। सड़कों पर २४६ करोड़ रुपये व्यय होंगे। योजना की अवधि में राज्य सरकारो द्वारा १८०० मील लम्बी सड़कें बनाई जायेंगी। केन्द्रीय सरकार ११५० मील लम्बी सड़कों का निर्माण करेगी। बन्दरगाहों के विकास पर ४५ करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे। डाक और तार पर ६३ करोड़ रुपये खर्च किए जायेंगे।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि देश की निरक्षरता, दरिद्रता तथा बेराजगारी की समस्याओं को हल करने का यह एक साहसपूर्ण कदम है। कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण इसके व्यय को घटाकर ४५'१० करोड़ कर देना पड़ा है। योजना की समाप्ति के बाद बेकारी की समस्या हल नहीं हो पायेगी। फिर भी इस योजना को जिसका आरम्भ जनता के हित में किया गया है जनता को उसे सफल बनाने में सरकार को सहयोग देना चाहिए।

योजना की प्रगति

द्वितीय पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य राष्ट्रीय आय में १५% वृद्धि करना था परन्तु अब उसमें केवल १२% वृद्धि होने की ही संभावना है।

कृषि के उत्पादन में ४० प्रतिशत वृद्धि हुई है जब औद्योगिक क्षेत्र में वृद्धि १२० प्रतिशत हुई है। सिंची गई भूमि का क्षेत्र २० मिलियन एकड़ बढ़ा है और बिजली का उत्पादन बढ़कर ५.८ मिलियम किलोवाट होगया।

पक्की सड़कों में ५० प्रतिशत वृद्धि हुई है। १९६०-६१ तक वह १४,४००० मील हो जायेगी। १९५९ में को रेल-सड़क यातायात के Ganga bridge को मोकमेह स्थान पर खोल दिया गया।१९५१–५२ में निर्माण किये जाने वाले वेगनों की संख्या ३७०७ थी जो १९५७–५८ में बढ़कर १७,७७३ होगई और अब प्रतिवर्ष २०,००० वेगन निर्माण किये जाते हैं। अगले कुछ महीनों में चितरंजन कारखाना प्रथम D. C. Electric इंजन का निर्माण कर लेगा। द्वितीय योजना में रेलों के लिए १,१२१,५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है।१३०० मील लम्बी रेल्वे लाईन को दोहरी करने की योजना थी जिसमें से अब तक ६४० मील का कार्य समाप्त हो चुका है और ६५० मील का कार्य समाप्ति पर है। ६१५ मील नई रेल लाइन का निर्माण किया गया और उसे यातायात के लिए खोल दिया गया है। रेल्वे ने ४७,००० नए मकान Staff के लिए बनवाए। ३१ मार्च १९६० तक ८५५ करोड़ रु० (७६%) खर्च किए जा चुके है। मार्च १९६१ तक जहाजों की शक्ति ३,९०,००० से बढ़कर ९,००,००० G. R. T. हो जायेगी। योजना की समाप्ति के पूर्व यह शक्ति ८,५४,००० G. R. T. होगी।

१९५१ में ६ साल से ११ साल तक आयु के लगभग ५०% बालक स्कूल जाते थे परन्तु अब ६७% स्कूल जाने लगे हैं। विश्वविद्यालयों में जानेवा

में १४०% की वृद्धि हुई है। टेक्नीकल विद्यालय आरम्भ किए गए हैं। योजन काल में नए विश्वविद्यालयों की जैसे गोरखपुर, वदरवान की स्थापना की ग है। अस्पतालों की संख्या बढ़कर ८४,००० होगई है।

१९५१ में प्रारम्भिक सहकारी समितियों की संख्या १०५,००० थ जो अब १८३,००० होगई है उनके सदस्यों की संख्या में लगभग ४ गुनी वृि हुई है। ग्राम पंचायतों की संख्या लगभग दुगुनी होगई है जो अब १ लाख ७८ हजार है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में कागज उद्योग ने काफी प्रगति की। १९५६ में उसका कुल उत्पादन १९३,४०० टन था जो १९५९ में बढ़कर ३२७,०४० टन होगया और १९६० में ३५०,००० टन होने का अनुमान है।

सूती कपड़े का उत्पादन १९५८ में ४९२७ मिलियन गज था जो बढ़कर १९६० में ५०१८ मिलियन गज होगया है।

द्वितीय योजना का लक्ष्य २.२५ मिलियन टन चीनी उत्पादन करने का था। परन्तु १९५९–६० (Nov. 1959-Oct. 1960) में चीनी उद्योग ने उस लक्ष्य को पार कर २.४२ मिलियन टन चीनी का उत्पादन किया और इस प्रकार उसका उत्पादन लक्ष्य बिन्दु से १७०,००० टन अधिक था।

सीमेंट का उत्पादन २०७ मिलियन टन से बढ़कर ८.८ मिलियन टन होगया है और कच्चे लोहे का उत्पादन ३ मिलियन टन था वह अब चार गुना होगया है, कोयले का उत्पादन ३२ मिलियन टन से ५३ मिलियन टन होगया है।

योजना के दौरान में सरकेला, दुर्गापुर तथा भिलाई में इस्पात के कारखाने स्थापित किए गए हैं। इस्पात उत्पादन करने की शक्ति ४.२ मिलियन टन होगई है। औद्योगिक मशीन की उन्नति जो इस योजना के आरम्भ होने के पूर्व ११ करोड़ रु० की थी बढ़कर ७८ करोड़ रु० की होगई है। चितरन्जन और टाटा कम्पनी की उत्पादन शक्ति मे काफी वृद्धि हुई है। जयपुर की नेशनल इंजनियरिंग कम्पनी में एकसेल बोक्स का निर्माण कार्य आरम्भ हो चुका है। भोपाल का भारी विद्युत का कारखाना भी आरम्भ हो गया है।

कुटीर उद्योग ने भी योजना कालमें काफी प्रगति करली है। १९५१ में हाथ कर्घे कपड़े का उत्पादन ७४२ मिलयन गज था जो अब २१२५ मिलियन गज है। कच्चे रेशम का उत्पादन ३'७ मिलियन पौंड हो गया है। ये उद्योग कई स्थानों पर स्थापित किए गए हैं।

कृषि के उत्पादन में योजना के वर्षों में काफी उतार चढ़ाव रहा है जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होता है:--

क्षेत्र तथा उत्पादन

	क्षेत्र (मिलयन एकड़)			उत्पादन मिलयन टन		
	१९५७-५८	१९५८-५९	१९५९-६०	१९५७-५८	१९५८ ५९	१९५९ ६०
चावल	७९.४५	८१.४३	८१.३४	२४.८९	३०.३५	२९.३४
गेहूँ	२९ ३०	३१.१४	३१.५१	७.७४	९.७७	९.७३
जवार	४२.२०	४२.५८	४१.६०	८.२५	८ ७१	७.८७
बाजरा	२७.२४	२८.००	२६.७०	३.५२	३.७९	३.४८
चना	२२.८६	२४.८७	२५.०५	४.९८	६.८८	५.३९
जौ	७.५५	८.२४	८.२२	२.२३	२.६७	२.६१

योजना के दौरान में ४० लाख एकड़ बंजर भूमि को कृषि के योग्य बनाया गया है। Nitrogen खाद का उत्पादन जो १९५०-५१ में ५५ हजार टन था वह १९६०-६१ में बढ़ कर ३ लाख ६० हजार टन हो गया है। देश में लगभग ४ हजार बीज गोदाम बनाए गए हैं।

ऐसी आशा की जाती है कि योजना के अन्त में लगभग ८० लाख व्यक्तियों की बेकारी की समस्या हल होगी परन्तु अब वास्तव में ६५ लाख व्यक्तियों को ही रोजगार मिल सकेगा।

ने १४०% की वृद्धि हुई है। टेक्नीकल विद्यालय आरम्भ किए गए हैं। योजना-काल में नए विश्वविद्यालयों की जैसे गोरखपुर, बदरवान की स्थापना की गई है। अस्पतालों की संख्या बढ़कर ८४,००० होगई है।

१९५१ में प्रारम्भिक सहकारी समितियों की संख्या १०५,८०० थी जो अब १८३,००० होगई है उनके सदस्यों की संख्या में लगभग ४ गुनी वृद्धि हुई है। ग्राम पंचायतों की संख्या लगभग दुगुनी होगई है जो अब १ लाख ७८ हजार है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में कागज उद्योग ने काफी प्रगति की। १९५६ में उसका कुल उत्पादन १९३,४०० टन था जो १९५९ में बढ़कर २७,०४० टन होगया और १९६० में ३५०,००० टन होने का अनुमान है।

सूती कपड़े का उत्पादन १९५८ में ४९२७ मिलियन गज था जो बढ़कर १९६० में ५०१८ मिलियन गज होगया है।

द्वितीय योजना का लक्ष्य २.२५ मिलियन टन चीनी उत्पादन करने का परन्तु १९५९–६० (Nov. 1959-Oct. 1960) में चीनी उद्योग ने उस लक्ष्य को पार कर २.४२ मिलियन टन चीनी का उत्पादन किया और इस प्रकार उसका उत्पादन लक्ष्य बिन्दु से १७०,००० टन अधिक था।

सीमेंट का उत्पादन २०७ मिलियन टन से बढ़कर ८.८ मिलियन टन होगया है और कच्चे लोहे का उत्पादन ३ मिलियन टन था वह अब चार गुना होगया है, कोयले का उत्पादन ३२ मिलियन टन से ५३ मिलियन टन होगया है।

योजना के दौरान में सरकेला, दुर्गापुर तथा भिलाई में इस्पात के कारखाने स्थापित किए गए हैं। इस्पात उत्पादन करने की शक्ति ४.२ मिलियन टन होगई है। औद्योगिक मशीन की उन्नति जो इस योजना के आरम्भ होने के पूर्व ११ करोड़ रु० की थी बढ़कर ७८ करोड़ रु० की होगई है। चितरन्जन और टाटा कम्पनी की उत्पादन शक्ति में काफी वृद्धि हुई है। जयपुर की नेशनल इंजनियरिंग कम्पनी में एकसेल बोक्स का निर्माण कार्य आरम्भ हो चुका है भोपाल का भारी विद्युत का कारखाना भी आरम्भ हो गया है।

कुटीर उद्योग ने भी योजना कालमें काफी प्रगति करली है। १९५१ में हाथ कर्घे कपड़े का उत्पादन ७४२ मिलयन गज था जो अब २१२५ मिलियन गज है। कच्चे रेशम का उत्पादन ३.७ मिलियन पौंड हो गया है। ये उद्योग कई स्थानों पर स्थापित किए गए हैं।

प्रश्न (४३):– तीसरी पंचवर्षीय योजना पर एक लेख लिखिए।

उत्तर:—स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त राष्ट्र निर्माण के लिए देश की सरकार ने योजना बद्ध मार्ग को अपनाया है। उसका उद्देश्य देश में 'समाज वादी योजना' की स्थापना करना है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद दो पंचवर्षीय योजनाओं पर कार्य किया जा चुका है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना जिसका आरम्भ १९५६ में हुआ था वह मार्च १९६१ में समाप्त होने को है।

विगत योजनाओं के अनुभव एवं तथ्य किसी भी नई योजना के निर्माण की महत्वपूर्ण पृष्टभूमि बनते हैं। इस दृष्टिकोण से प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के अनुभव योजना-निर्माण के लिए बड़े महत्व की वस्तु है। पहली योजना, वास्तव में, वास्तविक अर्थों में 'योजना' नहीं कही जा सकती, क्योंकि यह केवल पहले से चालू कतिपय सरकारी कार्यक्रमों का सम्मेलन मात्र थी। परन्तु फिर भी इसके द्वारा प्राप्त लक्ष्य सराहनीय हैं–राष्ट्रीय आय में लगभग १८ प्रतिशत की वृद्धि हुई, देश कुछ समय के लिए खाद्य-पदार्थों में स्वावलम्बी हो गया। २३७८ करोड़ रु० की इस योजना ने भविष्य में आर्थिक विकास के लिए एक सुदृढ़ भूमि तैयार की। प्रथम योजना के महत्वपूर्ण परिणामों से उत्प्रेरित हो हमने ४८०० करोड़ रु० की दूसरी पंचवर्षीय योजना का निर्माण किया। अब तक के परिणामों के आधार पर कहा जा सकता है कि कुल मिल-कर दूसरी योजना भी सन्तोषप्रद रूप से कार्य कर रही है। दूसरी योजना के दौरान में राष्ट्रीय आय में १४.४% की वृद्धि हुई है और विनियोगों का राष्ट्रीय आय में प्रतिशत ५ से बढ़कर ११ तक पहुंच गया है। डा० पी० एस० लोक-नाथन् का कथन सत्य ही है कि "विदेशी विनिमय कठिनाइयां व खाद्य संकट को दृष्टिगत रखते हुए दूसरी योजना की सफलता भली भांति स्थापित हो चुकी है।" किन्तु इन आयोजनाओं में कुछ आधारभूत कमियों को अब महसूस किया जा रहा है जिनका तीसरी योजना में पूरा ध्यान रखा जाना अत्यावश्यक है:—

(अ) पहले भारत में जनसंख्या वृद्धि वार्षिक दर लगभग १.२५% मानी गई थी किन्तु अब पता चला है कि यह दर २% के लगभग है। ऐसी दशा में हमने आवश्यक खाद्य पदार्थों के लिए जो लक्ष्य रखा था, वह बहुत कम पड़ जाता है।

(ब) यह माना गया है कि पहली और दूसरी योजनाएं देश में बेकारी की समस्या को हल करने में अधिक सफल नहीं हो सकी हैं। ऐसा विश्वास है

कि द्वितीय योजना के अन्त पर समस्या की भयंकरता योजनारम्भ की भयंकरता से अधिक होगी। बेकारी की समस्या ने समाज की स्थिरता को आपदाक्रान्त कर रखा है।

(स) प्रो० रोस्टांव ने जिसे 'टेक आफ (Take of) तथा डा० लोकनाथन् ने जिसे 'स्वयंमेव विकास' (Self governing growth) कहा है, वह तीसरी योजना का लक्ष्य होना चाहिये। इसका साधारण अर्थ यह है कि सन् १९६५ तक देश में आर्थिक आधार भूमि इतनी सुदृढ़ हो जाय कि भविष्य में द्रुत गति से विकास एक सुनिश्चित बन जाय। इसके लिए हमें आधारभूत या वेसिक उद्योगों पर पर्याप्त बल देना होगा।

(द) यह अनुभव किया जा रहा है कि इन दोनों योजनाओं में रोजमर्रा की उपभोग की चीजों के उत्पादन व वितरण पर पर्याप्त बल नहीं दिया गया। इसके कारण देश में उपभोग की चीजों के भाव काफी बढ़ गये हैं। परिणाम स्वरूप जनसाधारण में योजनाकरण (Planing) के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो गया है जो किसी भी विकास के लिए अत्यन्त हानिकारक वस्तु होती है।

इन योजनाओं ने लोगों के विचारों में क्रांतिकारी एवं विकासकारी परिवर्तन के पूरे प्रयत्न नहीं किये हैं। अर्थशास्त्र की भाषा में 'इंस्टिट्यूशनल चेंज' पर पर्याप्त बल नहीं दिया गया है। इसके लिए देश में समाज सेवाओं का पर्याप्त विस्तार व शिक्षा प्रणाली में सुधार अत्यन्त आवश्यक है।

प्रथम दोनों योजनाओं की सफलताओं और कमियों को दृष्टिगत रखकर तीसरी योजना के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं:--

(१) राष्ट्रीय आय में ५ वर्षों में न्यूनतम २५% वृद्धि।

(२) खाद्यान्न पर अधिक बल। कृषि उत्पत्ति में इतनी वृद्धि की जावेगी ताकि देश के उद्योगों की आवश्यकताओं को पूर्ण करना संभव हो सके।

(३) आधार भूत (Basic Industries) उद्योगों (इस्पात, कोयला शक्ति) को प्रोत्साहन देना और उनका विकास करना।

(४) देश की जन-शक्ति का उचित और अधिकाधिक उपयोग करना, बेरोजगारी को समाप्त करना।

(५) धन के समान वितरण के लिए यत्न करना।

(६) शिक्षा सुविधा, समाज सेवा के विस्तार के सामुदायिक और राष्ट्रीय विस्तार खण्डों के कार्यों को प्रोत्साहन देना।

तीसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान में सार्वजनिक क्षेत्र मे ६२०० करोड़ रु. और निजी क्षेत्र में ४००० करोड रु० व्यय किए जायेंगे। सार्वजनिक क्षेत्र की निर्धारित राशि में से निजी क्षेत्र को २०० करोड़ रु. का ऋण प्रदान किया जायेगा। अतः निजी क्षेत्र में कुल मिलाकर ४२०० करोड़ रु. व्यय किए जायेंगे।

मद	सार्वजनिक क्षेत्र करोड़ रु.	निजी क्षेत्र करोड़ रु.	कुलयोग करोड़ रु.
१. कृषि, लघु सिंचाई व सामुदायिक विकास	६७५	८००	१४७५
२. बड़ी एवं मध्य सिंचाई योजना	६४०		६४०
३. शक्ति	९२५	५०	९७५
४. ग्राम तथा लघु उद्योग	१६०	२७५	४३५
५. उद्योग व खानें	१५००	१०००	२५००
६. यातायात व संदेशवाहन	१४५०	२००	१६५०
७. सामाजिक संस्थाएं	६५०	१०७५	१७२५
८. चल सम्पत्ति का स्टाक	२००	६००	८००
कुल योग	६२००	४०००	१०२००

यदि हम कुछ प्रमुख मदों पर व्यय की जाने वाली राशि की तुलना द्वितीय योजना में उन पर व्यय की जाने वाली राशि से करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि तीसरी योजना में औद्योगिकरण को विशेष महत्व दिया गया है।

मद	द्वितीय योजना करोड़ रु.	%	तीसरी योजना करोड़ रु०	%
१) उद्योग व खानें	८९१	१९%	१५००	२१%
२) शक्ति	४४०	९%	९२५	१३%
३) यातायात व संदेशवाहन	१३८४	२९%	१४५०	२०%
४) कृषि, सामुहिक विकास व सिंचाई	९५०	२१%	१६७५	२३%

तीसरी योजना में चल सम्पत्ति का स्टाक नामक एक नए मद की व्यवस्था की गई है। इसका कारण यह है कि योजना के उत्पादन कार्य के लिए कच्चे माल व स्टोर को बढ़ाने की आवश्यकता होगी।

अब प्रश्न यह है कि तीसरी योजना के लिए रुपया कहां से प्राप्त हो। इसका प्रबन्ध नीचे दी गई तालिका के अनुसार किया जायेगाः—

	रु. (करोड़ में)
(अ) घरेलू	
(१) रेल्वे का योग दान	१५०
(२) अतिरिक्त कर व अन्य स्त्रोत	१६५०
(३) प्रा. फण्ड, उन्नति कर, इस्पात समानीकरण कोष आदि	५१०
(४) अल्प बचत व जनता से ऋण	१७००
(५) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों से बचत	४४०
(६) वर्तमान कर के आधार पर आय के साधनों से बचत	३५०
(७) घाटे की व्यवस्था	५५०
(आ) वाह्य विदेशी सहायता	२२००
कुल योग	७२५०

कुछ लक्ष्यः—सभी क्षेत्रों में उत्पादन वृद्धि के लिए तीसरी याजना में वृहत् स्तर प्रयत्न किये जायेंगे। तीसरी योजना के कुछ विशेष लक्ष्य इस प्रकार हैंः—

	१९६१–६५
अतिरिक्त सिंचित क्षेत्र	१३ मि० एकड़
स्टील उत्पादन	८.७ मि० टन
कोयला उत्पादन	९० मि० टन
गन्ना उत्पादन	७२ मि० टन
कपास उत्पादन	६० मि० टन
पटसन का उत्पादन	५५ मि० टन
खाद्यान्न उत्पादन	१०५ मि० टन
बिजली का उत्पादन	११.८ मि० टन
शक्ति (अणु)	३ लाख टन

कच्चा रेशम	५ मि० पौंड
सीमेंट	१३.० मि० टन
कागज	७ लाख टन
चीनी	३ मि० टन
सूती कपड़ा (मिल का)	५८०० मिलियन गज
हाथ कर्घे व शक्ति कर्घे का कपड़ा	३५०० मि० गज
सिलाई की मशीनें	४५० (हजार)

तीसरी योजना में कई उद्योगों का विकास किया जायेगा। जैसे हिन्दुस्थान मशीन टूल, भोपाल भारी विद्युत का कारखाना, भारी मशीनें बनाने का प्लान्ट आदि। बकारो में चौथा इस्पात का कारखाना स्थापित किया जायेगा। औद्योगिक स्टेट की संख्या ३६० कर दी जायेगी। २००,००० मील लम्बी सड़क का निर्माण किया जायेगा। जहाजी यातायात में २००,००० G. R. T. की वृद्धि की जायेगी।

तीसरी योजना में ६ से ११ वर्ष के सब बालकों का अनिवार्य तथा :शुल्क शिक्षा प्रदान की जायेगी। इस आयु के बीच में स्कूल जाने वालों का प्रतिशत ८० होगा। प्रारम्भिक तथा बेसिक स्कूलों की संख्या ३,५५,000 है। वह योजना के अन्त में ५००,०००हो जायेगी। १९६५-६६ तक ५२000 विद्यार्थियों के लिए टेक्नीकल शिक्षा की व्यवस्था की जा सकेगी।

डाक्टरों की संख्या ८४000 से बढ़कर १०३,००० होगी और प्रारम्भिक स्वास्थ्य केन्द्रों (Primary Health Units) की संख्या ५००० होगी और परिवार नियोजन केन्द्रों (Family Planning Centres) की संख्या ८२०० होगी।

तीसरी योजना में १०.५ मिलियन लोगों को रोजगार प्राप्त हो सकेगा और कृषि में ३ मिलियन व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त होगा।

समालोचनात्मक दृष्टिकोण:—राष्ट्रीय विकास के दृष्टिकोण से ीसरी योजना निस्संदेह अत्यन्त महत्वपूर्ण होगी। किन्तु फिर भी कुछ मुद्दों र तीसरी योजना की आलोचना की जा सकती है। विशेष तौर पर यह कहा ाता है कि योजना केवल 'आंकड़ों का खेल' प्रतीत होती है। जब तक तीसरी ोजना के लिए विविध क्षेत्रों में 'दृढ़ नीति निर्धारण' नहीं अपनायी जाती, ाजना की सफलता निश्चित नहीं होती। निजी क्षेत्र के लिए अधिक प्रावधान

किया गया है, जो कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार उचित नहीं है। डा. ब्रह्मानन्द यह अनुभव करते हैं कि यह योजना सन् १९७१ में राष्ट्रीय आय को दूना करने के हमारे लक्ष्य के लिए पर्याप्त नहीं है। उनका कहना है कि तृतीय योजना काल में हमें दो संकटों का विशेष रूप से सामना करना पड़ेगा—(i) खाद्य की कमी तथा (ii) मशीन टूल की कमी। इनके अलावा यह भी कहा जाता है कि योजना का वित्तीय आधार दृढ़ नहीं है। समाज सेवाओं पर पर्याप्त बल नहीं दिया जा रहा है, जो वास्तव में उचित है। 'इंस्टिटयूशनल चेंज' के लिए योजनाकारों के मस्तिष्क में कोई स्पष्ट हल नहीं दिखाई देते।

योजना में घाटे की व्यवस्था के हेतु करीब ५५. करोड़ रु. के नोट छापने का प्रबन्ध किया गया है। वर्तमान समय में देश में वस्तुओं के मूल्य अधिक हैं और यदि इतनी अधिक मात्रा में नोट छापे गए तो मुद्रा प्रसार अत्यधिक होगा जिसके कारण मूल्य-स्तर में वृद्धि होगी।

इस योजना की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि विदेशी सहायता पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो तथा देश में से अतिरिक्त कर के रूप में अधिक आय प्राप्त हो। इसके अलावा योजना की सफलता के लिये जनता का सहयोग भी आवश्यक है। आने वाले कुछ वर्षों में हमें यह भी ज्ञात हो सकेगा कि यह महत्वाकांक्षी योजना अपने उद्देश्यों की प्राप्त करने में कहाँ तक सफल हुई है और देश की राष्ट्रीय आय और रोजगार में कितनी वृद्धि हुई है।

प्रश्न ४४--भारत की सामुदायिक विकास योजनाओं पर एक निबन्ध लिखिये।

उत्तर:—भारतवर्ष एक विशाल देश है, जिसमें गांवों की प्रधानता है भारत की जनता का अधिकांश भाग गांवों में रहता है। भारत के गांव काफी अवनत परिस्थितियों में हैं। उनको सुधारने के कई प्रयत्न किये गए। प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में जनता के सहयोग से गांवों के सामुदायिक विकास को योजनाओं को प्रमुख स्थान दिया गया है। यह सामुदायिक विकास योजना कहलाती है।

सामुदायिक विकास का कार्य २ अक्टूबर १९५२ को गांधी जयन्ती के अवसर पर प्रारम्भ किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य गांवों का बहुमुखी विकास है अर्थात् वे गांवों के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में एक महान् परिवर्तन देना चाहते हैं।

सामुदायिक विकास का कार्य-क्रमः—सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित अंगों की समृद्धि के लिए यत्न किया जायेगा :—

(१) कृषिः— (a) बंजर पड़ी हुई भूमि को खेती के योग्य बनाना।
(b) सिंचाई के साधनों का प्रबन्ध करना।
(c) अच्छे उत्तम बीज, खाद, औजारों का प्रबन्ध करना।
(d) पशुओं की नस्ल सुधारने तथा उनकी उचित चिकित्सा के लिये प्रबन्ध करना।
(e) फल तथा शाक की कृषि का विस्तार करना।
(f) वृक्षारोपण।
(g) भोजन प्रणाली को उन्नत करना।
(h) उपज के विक्रय का तथा कर्ज का प्रबन्ध करना।

(२) यातायातः—(a) सड़कों की व्यवस्था करना।
(b) यांत्रिक परिवहन के साधनों को प्रोत्साहन देने का यत्न करना।
[c] पशु परिवहन को प्रोत्साहन देना।

(३) शिक्षाः—(a) अनिवार्य एवं नि-शुल्क प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध करना।
(b) माध्यमिक व उच्च स्कूलों को आरम्भ करना।
(c) समाज शिक्षा तथा पुस्तकालय का प्रबन्ध करना।

(४) स्वास्थ्यः—स्वास्थ्य और सफाई की व्यवस्था।

(५) प्रशिक्षण का प्रबन्धः-विविध प्रकार के कार्यों के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, जैसे योजना अधिकारियों का प्रशिक्षण।

(६) रोजगारः—कुटीर तथा छोटे छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन देकर रोजगार बढ़ाना।
(a) अन्य प्रकार से रोजगार में वृद्धि करना।

(७) मकानः—गांवों के लिए स्वच्छ, अच्छे तथा सस्ते गृहों की व्यवस्था करना।

(८) समाज कल्याणः-(a) जनता के मनोरंजन की व्यवस्था करना।
(b) खेल-कूद और मेलों का आयोजन करना।
(c) सहकारी संस्थाओं का विकास करना।

संगठन:--पूरे देश को अनेक योजना—क्षेत्रों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक क्षेत्र में करीब ३०० गांव होंगे जिनमें करीब २ लाख आदमी तथा १।। लाख एकड़ कृषि योग्य भूमि होगी। प्रत्येक क्षेत्र को तीन विकास खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक विकास खण्ड के अन्तर्गत १०० गांव होंगे, जिसे पांच या दस ग्रामों के समूह में विभक्त किया जायगा। प्रत्येक ग्राम—समूह के लिए एक ग्राम-सेवक होगा।

जब इस योजना को आरम्भ किया गया, तब एक सार्वजनिक विकास प्रशासन की स्थापना की गई। १९५६ में सामुहिक विकास योजना के लिए एक अलग मन्त्रालय की स्थापना की गई है।

प्रत्येक राज्य में राज्य विकास समिति होगी। इसका अध्यक्ष राज्य का मुख्य मन्त्री होगा। कार्यक्रम को व्यवस्था करने में मुख्य मन्त्री की सहायता करने के हेतु विकास कमिश्नर नियुक्त किए गए हैं। उसके आधीन जिला कलेक्टर, S. D. O.तथा Block Development Officer होता है। Block Development Officer के नीचे विस्तार अधिकारी होते हैं। जिन जिलों मे आवश्यकता होती है वहां जिला विकास अधिकारी नियुक्त किया जा सकता है। सबसे अन्त में ग्राम सेवक होता है।

इस कार्य के लिए सरकार जनता के सहयोग को प्राप्त करने का यत्न कर रही है। ग्राम सेवकों को सलाह प्रदान करने हेतु पंचायतें तथा ग्राम विकास परिषदें होती हैं। भारत सेवक समाज भी इसमें काफी सहायता दे रहा है।

वित्तीय व्यवस्था:--स्थायी खर्च का बंटवारा केन्द्र और राज्य में ३:१ के अनुपात में होगा। चालू खर्च केन्द्र और राज्य एक समान करेंगे। सिंचाई आदि उत्पादन कार्यों के लिए केन्द्र राज्य को ऋण देगा। इस विकास कार्यक्रम के लिए अमेरिका ने आर्थिक सहायता प्रदान की थी। Ford Foundation ने १५ पायलेट प्रोजेक्टों के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की है।

सामुदायिक विकास योजना सबसे पहले २ अक्टूबर १९५२ को गांधी जयन्ती के अवसर पर ५५ स्थानो पर आरम्भ की गई। राष्ट्रीय विस्तार सेवा सामुदायिक योजनाओं के लिए प्रारम्भिक कार्य करती है और विकास कार्यक्रम को स्थायी रूप से चालू रखना उसका उत्तरदायित्व है। सामुदायिक विकास और रा० वि० से० की सम्मिलित इकाई विकास खण्ड है। एक खण्ड का क्षेत्र फल १५० वर्गमील होता है जिसमे लगभग १०० गांव होते हैं। १९५७ तक

१,१८,६५७ ग्रामों की ६.३ करोड़ जनता को सामुदायिक विकास के अन्तर्गत तथा १,५७,०६६ ग्रामों की ८.६ करोड़ जनता को रा० वि० सेवा के अन्तर्गत लाया जा चुका था। १९६०–६१ तक रा० वि० से० खण्डों की संख्या १,००० हो जायेगी और ३६० रा० वि० से० खण्डों को सामुदायिक विकास खण्डों में बदल दिया जायेगा।

प्रश्न ४५ भूदान पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

उत्तर:—मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुसार मानवीय दुःख निवारण के सारे उपायों का नतीजा प्रतिशोध और क्रान्ति का दिन स्थगित करने में होता है। भारतवर्ष में लगभग ५ करोड़ भूमिहीन किसान है। उनकी आर्थिक दशा अत्यन्त दयनीय है। उनके दुःख निवारण के हेतु आचार्य विनोबा भावे ने जो यह मानते हैं कि 'सब भूमि गोपाल की' भूदान आन्दोलन आरम्भ किया। इस धारणा का यह अर्थ है कि भूमि का सामाजिक मूल्य है और इस कारण वह व्यक्ति की निजी सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए। देश में निरन्तर बढ़ती हुई बेकारी का समाधान करने के लिए इस प्रकार का आन्दोलन आरम्भ करना आवश्यक था।

भूदान का आरम्भ अप्रैल १९५१ में हुआ। सबसे पहला दान उन्हें हैदराबाद में प्राप्त हुआ। विनोबाजी का उद्देश्य भूमि को दान में लेकर फिर उन्हें भूमिहीन कृषकों में वितरित कर देना है।

भूदान द्वारा भूमि का विभाजन अहिंसात्मक रूप से होना संभव हो गया है। इस प्रणाली का महत्व इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि वह साम्यवादी प्रणाली के बिलकुल विपरीत है और भी अधिक हो जाता है। यदि सरकार किसी व्यक्ति से भूमि लेती है तो उसे उसके बदले में मुआवजा देना पड़ेगा परन्तु भूदान में ऐसा नहीं होता। इससे सरकार का धन भार नहीं बढ़ता। भूमिहीन कृषकों को जिनकी आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय है और जो बड़ी मुश्किल से अपना जीवन निर्वाह करते हैं उनकी दशा ठीक होगी। हालांकि भूदान में प्रायः बंजर भूमि प्राप्त होती है परन्तु वितरण के बाद जब उस पर कृषि की जाने लगेगी तो कृषि क्षेत्र में वृद्धि होगी और कृषि उपज में वृद्धि होगी। इससे जनता में सहानुभूति और सहकारिता की भावना पनपती है।

भूदान यज्ञ वास्तव में एक नया अनोखा प्रयोग है। वह केवल भूमि का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज को बदलने तथा उसके सर्वोदय का आन्दोलन है। श्री केला के शब्दों में "यह अहिंसात्मक क्रांति का मार्ग तैयार करती है

इसके पीछे विकेन्द्रीयकरण और आत्मनिर्भरता की कल्पना विद्यमान है।" यह आन्दोलन समाज को जाति, वर्ण, स्त्री और पुरुष की विषमताओं को दूर करेगा।

इस आन्दोलन से प्राप्त होने वाले लाभों को ध्यान में रख कर केन्द्रीय सरकार ने उसे आर्थिक सहायता प्रदान की है। १९५७-५८ में १० लाख रु. की आर्थिक सहायता दी गई थी।

१९५७ तक ४३ लाख १२ हजार एकड़ भूमि प्राप्त हुई थी। बिहार मे २१ लाख ६८ हजार ५७ एकड़ भूमि प्राप्त हुई। राजस्थान से ४ लाख २० हजार ६८ एकड़ भूमि प्राप्त हुई। जून १९५८ तक कुल ४४ लाख एकड़ भूमि प्राप्त की जा चुकी है। उसमें से ८ लाख एकड़ भूमि का वितरण भी किया जा चुका। ग्रामदान में प्राप्त होने वाले गांवों की संख्या ४५७० है (१९५७ तक)। राजस्थान मे ११२ गांव प्राप्त हुए हैं। भूमि का वितरण काफी धीमी गति से हो रहा है। उसे शीघ्र वितरित करने का प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

इस आन्दोलन के कारण भारत में भूमि समस्या का समाधान संभव हो सकेगा और कृषक सच्चे अर्थों में भूस्वामी होगा और बेकारी दूर होगी।

१५ भारतीय सार्वजनिक वित

प्रश्न (४६):—भारत में नगरपालिकाओं तथा जिला बोर्डों की आय व्यय की मुख्य मदों का उल्लेख कीजिए। आप उनकी आय में वृद्धि करने के लिए कौन से उपायों को प्रयोग में लायेंगे?

उत्तर:—नगरपालिकायें तथा जिला बोर्ड भारत की स्थानीय स्वराजी संस्थाएं हैं। उनको कई कार्य करने पड़ते हैं। उनको पूरा करने के लिए उन्हें धन की आवश्यकता होती है। इसी कारण उन्हें आय प्राप्त करने के कई साधन भी उपलब्ध किए गए हैं।

(१) सम्पत्ति कर:—मकान, भूमि व सम्पत्ति की वार्षिक आय पर वह उसके मालिक पर कर लगाती है। यह उनकी आय का प्रमुख साधन है।

(२) व्यापार, कार्यों आदि पर कर:—यह कर नगर के विभिन्न, व्यवसायों पर लिया जाता है। इसका प्रचलन अधिक नहीं है।

(३) हैसियत कर:— ह कर व्यक्ति की आर्थिक स्थिति, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा कुटुम्ब के सदस्यों की संख्या को ध्यान में रखकर लगाया जाता है।

(४) वाहन, रोशनी तथा अग्निकर:—नगरपालिका के क्षेत्र में चलने वाली गाड़ियों, तांगों, रिक्शों तथा साईकिला पर वसूल किया जाता है। रोशनी तथा अग्नि कर भी वसूल किया जाता है।

(५) सफाई कर—कुछ नगरपालिकाएं सफाई की व्यवस्था करने के लिए भी कर वसूल करती हैं।

(६) प्रदर्शनी व मेला कर :— मेलों और प्रदर्शनियों पर भी कर लगाया जाता है।

(७) यात्री कर—यह कर तीर्थ स्थानों या हिल स्टेशनों पर नगर-पालिकाओं द्वारा आने वाले यात्रियों पर लगाया जाता है।

(८) चुंगी कर—नगर के बाहर से आने वाली वस्तुओं पर उनके मूल्यों के आधार पर जो कर नगरपालिकाओं द्वारा वसूल किया जाता है उसे चुंगी कर कहते हैं। यह उनकी आय का प्रमुख साधन है।

(९) सीमा कर—यह कर नगरपालिकाओं द्वारा रेल से आने वाले माल पर उनके वजन के आधार पर वसूल किया जाता है।

(१०) राहदारी—जो माल नदियों या सड़क मार्ग से नगर में आता है। उन पर नगरपालिकाएं उनके भार के अनुसार कर लगाता है।

(११) सरकारी सहायता—राज्य सरकारों की ओर से उन्हें शिक्षा, चिकित्सा आदि कार्यों के लिए आर्थिक सहायता मिलती है।

(१२) सार्वजनिक व्यापार—कुछ नगरपालिकाएं व्यवसाय कर आय प्राप्त करती हैं। जैसे बसें चलाना और सिनेमा चलाना। भारत में इस ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। अहमदाबाद में बसों का प्रबन्ध नगर निगम के हाथों में है।

व्यय

(१) प्रारम्भिक शिक्षा:—नगरपालिकाओं द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। प्राइमरी स्कूलों में शिक्षा निःशुल्क दी जाती है।

(२) सार्वजनिक स्वास्थ्य :—इसके लिए प्रबन्ध करना उसका मुख्य कार्य है। वह चिकित्सालय खोलती है, जहां निःशुल्क इलाज किया जाता है। इसके अतिरिक्त वह संक्रामक रोगों कीरोकथाम का प्रबन्ध करती है। डी० डी० टी० छिड़कवाना, बाजार की वस्तुओं का निरीक्षण करना आदि सब पर उसे काफी खर्च करना पड़ता है।

(३) सफाई :—शहर की सड़कों और नालियों की सफाई रखना प्रमुख कार्य है।

(४) निर्माण कार्य :—वह अपने क्षेत्र में सड़कें, पटरियां, पार्क, खेल के मैदान आदि बनवाती है। मरम्मत पर भी उसे काफी व्यय करना होता है।

(५) कर-वसूली—विभिन्न करों को वसूल करने के लिए उसे कई कर्मचारी रखने पड़ते हैं तथा अन्य प्रकार का खर्च भी करना पड़ता है।

(६) सूद का भुगतानः—कई बार उन्हें अपने कार्यों के लिए सरकार या बैंक से कर्ज लेना पड़ता है और उसे उसका सूद देना पड़ता है।

जिला बोर्ड की आय के साधन

(१) भूमि उपहारः—यह उनकी आय का प्रमुख साधन है जिससे उन्हें ६७ से ६६% तक आय प्राप्त होती है।

(२) हैसियत कर।

(३) प्रदर्शनी और मेलों पर कर।

(४) महसूलः—वह सड़क, पुल, घाट, तालाब आदि पर महसूल लेते है।

(५) राज्य सरकार से सहायता।

(६) काजी हाऊस :—आवारा फिरने वाले जानवरों को काजी हाउस में बन्द कर दिया जाता है, जिन्हें उसका मालिक जुर्माना अदा कर मुक्त करा सकता है।

व्यय

(१) शिक्षा।

(३) हैसियत कर:— ह कर व्यक्ति की आर्थिक स्थिति, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा कुटुम्ब के सदस्यों की संख्या को ध्यान में रखकर लगाया जाता है।

(४) वाहन, रोशनी तथा अग्निकर:—नगरपालिका के क्षेत्र में चलने वाली गाड़ियों, तांगों, रिक्शों तथा साईकिला पर वसूल किया जाता है। रोशनी तथा अग्नि कर भी वसूल किया जाता है।

(५) सफाई कर—कुछ नगरपालिकाए' सफाई की व्यवस्था करने के लिए भी कर वसूल करती हैं।

(६) प्रदर्शनी व मेला कर :— मेलों और प्रदर्शनियों पर भी कर लगाया जाता है।

(७) यात्री कर—यह कर तीर्थ स्थानों या हिल स्टेशनों पर नगरपालिकाओं द्वारा आने वाले यात्रियों पर लगाया जाता है।

(८) चुंगी कर—नगर के वाहर से आने वाली वस्तुओं पर उनके मूल्यों के आधार पर जो कर नगरपालिकाओं द्वारा वसूल किया जाता है उसे चुंगी कर कहते हैं। यह उनकी आय का प्रमुख साधन है।

(९) सीमा कर—यह कर नगरपालिकाओं द्वारा रेल से आने वाले माल पर उनके वजन के आधार पर वसूल किया जाता है।

(१०) राहदारी—जो माल नदियों या सड़क मार्ग से नगर में आता है। उन पर नगरपालिकाए' उनके भार के अनुसार क. लगाती हैं।

(११) सरकारी सहायता—राज्य सरकारों की ओर से उन्हें शिक्षा चिकित्सा आदि कार्यों के लिए आर्थिक सहायता मिलती है।

(१२) सार्वजनिक व्यापार—कुछ नगरपालिकाए' व्यवसाय क आय प्राप्त करती हैं। जैसे बसें चलाना और सिनेमा चलाना। भारत में इ ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। अहमदाबाद में बसों का प्रबन्ध नगर निग के हाथों में है।

व्यय

(१) प्रारम्भिक शिक्षा:—नगरपालिकाओं द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा व्यवस्था की जाती है। प्राइमरी स्कूलों में शिक्षा निःशुल्क दी जाती है।

(२) सार्वजनिक स्वास्थ्य :—इसके लिए प्रबन्ध करना उसका मुख्य कार्य है। वह चिकित्सालय खोलती है, जहां निःशुल्क इलाज किया जाता है। इसके अतिरिक्त वह संक्रामक रोगों की रोकथाम का प्रबन्ध करती है। डी० डी० टी० छिड़कवाना, बाजार की वस्तुओं का निरीक्षण करना आदि सब पर उसे काफी खर्च करना पड़ता है।

(३) सफाई :—शहर की सड़कों और नालियों की सफाई रखना प्रमुख कार्य है।

(४) निर्माण कार्य :—वह अपने क्षेत्र में सड़कें, पटरियां, पार्क, खेल के मैदान आदि बनवाती है। मरम्मत पर भी उसे काफी व्यय करना होता है।

(५) कर-वसूली—विभिन्न करों को वसूल करने के लिए उसे कई कर्मचारी रखने पड़ते हैं तथा अन्य प्रकार का खर्च भी करना पड़ता है।

(६) सूद का भुगतान:—कई बार उन्हें अपने कार्यों के लिए सरकार या बैंक से कर्ज लेना पड़ता है और उसे उसका सूद देना पड़ता है।

जिला बोर्ड की आय के साधन

(१) भूमि उपहार:—यह उनकी आय का प्रमुख साधन है जिससे उन्हें ६७ से ६६% तक आय प्राप्त होती है।

(२) हैसियत कर।

(३) प्रदर्शनी और मेलों पर कर।

(४) महसूल:—वह सड़क, पुल, घाट, तालाब आदि पर महसूल लेते है।

(५) राज्य सरकार से सहायता।

(६) कांजी हाउस :—आवारा फिरने वाले जानवरों को कांजी हाउस में बन्द कर दिया जाता है, जिन्हें उसका मालिक जुर्माना अदा कर मुक्त करा सकता है।

व्यय

(२) अस्पताल और सफाई।

(३) निर्माण कार्य।

(४) कर वसूली।

(५) ऋण पर सूद।

(६) सार्वजनिक स्वास्थ्य।

(७) पंचायतों को आर्थिक सहायता।

हमारे देश में स्थानीय संस्थाओं को बहुत सारे महत्वपूर्ण कार्य करने पड़ते हैं जिनमें काफी धन व्यय होता है। परन्तु उनकी आय बहुत कम है। उनकी आय मे वृद्ध करने का यत्न किया जाना चाहिए। स्थानीय संस्थाओं को मनोरंजन कर लगाने की आज्ञा दी जाय। शिक्षा प्रसार के लिए शिक्षा कर लगाया जाय। विज्ञापनों पर कर लगाया जाय। विवाह की रजिस्ट्री कराना अनिवार्य कर दिया जाय। भूमि उपकर में वृद्धि की जाय। राज्य सरकार उन्हें अधिक आर्थिक सहायता प्रदान करे। प्रान्तीय कोर्ट फीस का कुछ प्रतिशत उन्हें दिया जाय। सार्वजनिक व्यवसायों को करके वह अपनी आय को बढ़ा सकते हैं।

प्रश्न नं० [४७] भारत सरकार के आय तथा व्यय के मुख्य विषयों का विवरण लिखिये।

[M. B. 52, Aj. 52, 54, Raj. 50, 52, 57]

उत्तरः—भारत का नया संविधान २६ जनवरी, १९५० मे लागू किया गया। इसने उत्तरदायित्व तथा कार्यों का विभाजन केन्द्र तथा राज्यों के बीच में कर दिया है। इस प्रकार उनकी आय के और व्यय के साधन निश्चित कर दिए गए हैं। जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण देश से होता है ऐसे कर प्रायः केन्द्रीय सरकार लगाती है और राज्य सरकार केवल क्षेत्रीय कर।

भारत सरकार के आय के साधन

[१] कस्टम तथा आयात-निर्यात करः—वह कर जो देश के बाहर मे आने वाले माल पर लगाया जाता है, आयात कर और जो बाहर जाने वाले

माल पर लगाया जाता है वह निर्यात कर कहलाता है। वह भारत सरकार की आय का प्रमुख साधन है।

[२] उत्पादन कर:—केन्द्रीय सरकार द्वारा चीनी, कपड़ा, चाय, कहवा आदि वस्तुओं के उत्पादन पर कर लगाया जाता है। इस मद से होने वाली आय निरन्तर बढ़ती जा रही है।

[३] आय कर:—यह एक प्रत्यक्ष कर है और सरकार के आय के प्रमुख साधनों में एक है। यह कर उन सब व्यक्तियों से वसूल किया जाता है, जिनकी वार्षिक आय ३००० रुपया या इससे अधिक है।

[४] निगम कर;—यह भी कम्पनियों आदि की आय पर लगाया जाता है।

[५] मृत्यु कर:—१९५३ में पास किए गए एक्ट के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसकी चल एवं अचल सम्पत्ति का मूल्यांकन किया जाता है। यदि कुल सम्पत्ति ५०००० रु० से अधिक है तो उसके उत्तराधिकारी से कर वसूल किया जाता है। ५० हजार से १ लाख तक ५% मृत्यु कर लिया जाता है।

[६] सम्पत्ति कर:—यह प्रथम बार १९५७-५८ में लगाया गया था। सम्पत्ति के मूल्य में वृद्धि होने के साथ साथ उसकी दर में परिवर्तन होता जाता है।

[७] चलन और टकसाल:—रिजर्व बैंक तथा भारतीय टकसालों से जो आय होती है, वह केन्द्रीय सरकार को मिलती है।

[८] डाक व तार:—डाक व तार विभाग को जो भी लाभ होता है वह केन्द्रीय सरकार को मिलता है।

[९] रेलों की आय:—स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद रेलों का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया है। रेलों से प्रतिवर्ष सरकार को काफी आय होती है।

[१०] अफीम:—अफीम की कृषि करने पर, उसके क्रय तथा विक्रय से सरकार को काफी आय प्राप्त होती थी। उसका निर्यात कम हो जाने के कारण अब इसे अधिक आय प्राप्त नहीं होती।

[११] व्यय कर:—यह एक नया कर है। पति, पत्नी और आवश्यक बच्चों को एक ईकाई माना गया है और उन्हें ३० हजार रुपए तक व्यय करने की छूट है।

[१] राजस्व की सीधी मांगें:—विभिन्न तरह के करों को ए करने में जो व्यय होता है उसे इस मद के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता

[२] प्रतिरक्षा व्ययः—इस पर केन्द्रीय सरकार की आय का ल भग ५०% व्यय होता है। पड़ौसी राज्यों के साथ तनावपूर्ण सम्बन्ध के का इस व्यय में अधिक वृद्धि हो रही है।

[३] नागरिक प्रशासन:—इसके अन्तर्गत विभिन्न मन्त्रालयों पर ह वाले व्यय को सम्मिलित किया जाता है।

[४] ब्याज पर व्ययः—देश के औद्योगिकीकरण के लिए सरकार कई योजनाओं पर अमल करना आरम्भ कर दिया है। इसके लिए उसने जन से समय समय पर काफी बड़ी मात्रा में ऋण प्राप्त किया है, जिस पर उसे ब्या देना पड़ता है। इस पर व्यय होने वाली रकम में वृद्धि हो रही है।

[५] शरणार्थियों पर व्ययः—देश विभाजन के कारण भारत क एक विकट समस्या का सामना करना पड़ा। पाकिस्तान से आए शरणार्थिय को पुनः बसाना उसका उत्तरदायित्व हो गया जिस पर उसे प्रत्येक वर्ष काफ रुपए खर्च करने पड़ते हैं।

[६] राज्य सरकारों को अनुदान:—राज्य सरकारों को अपनी विकास योजनाओं के लिए धन की आवश्यकता होती है। भारतीय सरकार उनकी सहायता अनुदान या ऋण देकर करती है।

[७] सार्वजनिक निर्माण:—इस मद के अन्तर्गत सड़कें, कृषि, स्वास्थ्य, चिकित्सा तथा वैज्ञानिक अनुसन्धान पर होने वाला व्यय सम्मिलित है।

नोट:—इन सब उपर्युक्त मदों के आंकड़े इस कारण नहीं दिए गए हैं क सरकार का बजट प्रत्येक वर्ष मार्च में पेश किया जाता है। अतः नए बजट उन आंकड़ों को प्राप्त कर लेना चाहिए। इस वर्ष के आंकड़े दी गई तालिका ज्ञात होते हैं:—

भारत सरकार का बजट

आय Revenue (लाख रुपये में)

आय के मद	बजट १९६०–६१	संशोधित १९६०–६१	बजट १९६१–६२
सीमा (Customs) शुल्क	१,६२,५०	१,६३,००	१,६४,०० +२६,२७
यूनियन उत्पादन कर	३,७६,६१	३,९४,९८	४,०६,२४ +२८,६०
कार्पोरेशन (निगम) कर	१,३५,००	१,३७,५०	१,४०,०० + १,००
आय पर निगम के अतिरिक्त कर	५२,९४	४०,५२	५०,२१ +२,००
सम्पत्ति (Estate) शुल्क	१०	९	९
पूंजी (Wealth) कर	७,००	७,५०	७,००
रेल के भाडे पर कर	११	–१२	—
व्यय (Expenditure) कर	९०	९०	८०
अफीम	५,६९	५,८२	६,२५
उपहार (Gift) कर	८०	८०	८०
ब्याज	१५,७१	१४,८७	१३,८४
नागरिक प्रशासन (Administrative Services)	८४	९९	९७
सामाजिक विकास	५२,३५	५१,४६	४७,०

मुद्रा व टकसाल	५७,२२	५७,८५	६०,६३
नागरिक निर्माण कार्य (Vigit works)	३,०४	३,३८	३,७५
आय के अन्य साधन	३६,७३	३८,६६	३६,२८
डाक व तार	४७	४६	४७
रेल	५,६४	५,०६	२१,२६
कुल बजट	६,१६,६५	६,२३,७२	६,६२,६२ +६०,८७E
E बजट के प्रस्तावों का प्रभाव			

व्यय Expenditure

व्यय के मद	बजट १९६०–६१	संशोधित १९६०–६१	बजट १९६१–६२
कर, शुल्क व अन्य पर वसुली व्यय (Collecteon of taxes etc.)	३२,८१	३२,२०	३०,४६
सिंचाई (Irrigation)	१७	१३	१५
ऋण पर व्याज	७४,६६	७२,३५	८१,६०
नागरिक प्रशासन (Administrative Services)	६०,५६	६१,५३	५८,३७

सामाजिक व विकास (Social & development Services)	२,०७,१७	१,९८,५२	१,३३,४३
मुद्रा व टकसाल	१०,२७	१०,८७	११,९३
सार्वजनिक निर्माण	२०,३२	२१,५९	२१,७३
पेन्शन	१०,११	१०,३३	१०,४१
शरणार्थियों पर व्यय (Expenditure on displaced persons)	२०,२८	२०,२८	११ २८
अन्य व्यय	१,११,७०	१,०७,०७	४२,७५
राज्य सरकारों को अनुदान (Grants to States)	५१,८१	५१,८७	२,१०,९३
राज्यों का यूनियन उत्पादन कर (Excise Duties) में भाग	७४,५२	७५,१०	७६,३३
असाधारण मद	३३,७५	२८,८२	१०,८७
प्रतिरक्षा (Defence) व्यय (वास्तविक)	२,७२,२९	२,६६,७२	२,८२,९२
कुल व्यय	९,८०,३५	९,५७,३८	१०,२३,५२
	−६०,७०	−३३.६६	−६०,६० +६०,८७F

मुद्रा व टकसाल	५७,२२	५७,८५	६०,६३
नागरिक निर्माण कार्य (Vigit works)	३,०४	३,३८	३,७५
आय के अन्य साधन	३९,७३	३८,६६	३९,२८
डाक व तार	४७	४६	४७
रेल	५,६४	५,०६	२१,२९
कुल बजट	९,१९,६५	९,२३,७२	९,६२,९२ +६०,८७
E बजट के प्रस्तावों का प्रभाव			

व्यय Expenditure

व्यय के मद	बजट १९६०-६१	संशोधित १९६०-६१	बजट १९६१-६
कर, शुल्क व अन्य पर वसुली व्यय (Collecteon of taxes etc.)	३२,८१	३२,२०	३०,४६
सिंचाई (Irrigation)	१७	१३	१५
ऋण पर ब्याज	७४,६९	७२,३५	८१,९०
नागरिक प्रशासन (Administrative Services)	६०,५९	६१,५३	५८,३७

सामाजिक व विकास (Social & development Services)	२,०७,१७	१,९८,५२	१,५३,४६
मुद्रा व टकसाल	१०,२७	१०,८७	११,९६
सार्वजनिक निर्माण	२०,३२	२१,५९	२१,७३
पेन्शन	१०,११	१०,३३	१०,४१
शरणार्थियों पर व्यय (Expenditure on displaced persons)	२०,२८	२०,२८	११ २८
अन्य व्यय	१,११,७०	१,०७,०७	४२,७५
राज्य सरकारों को अनुदान (Grants to States)	५१,८१	५१,८७	२,१०,९३
राज्यों का यूनियन उत्पादन कर (Excise Duties) में भाग	७४,५२	७५,१०	७६,३३
असाधारण मद	३३,७५	२८,८२	१०,८७
प्रतिरक्षा (Defence) व्यय (वास्तविक)	२,७२,२९	२,६६,७२	२,८२,९२
कुल व्यय	९,८०,३५	९,५७,३८	१०,२३,५२
	—६०,७०	—३३,६६	—६०,६० +६०,८७E

[४] पुलिस--अपने अपने क्षेत्रों में आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था को बनाए रखना प्रत्येक राज्य सरकार का कार्य है। इसके लिए उन्हें पुलिस रखनी पड़ती है, जिस पर काफी धन व्यय किया जाता है।

[५] न्याय तथा जेलः--न्यायालयों तथा जेलों का प्रबन्ध करने के लिए राज्य सरकारों को काफी धन व्यय करना पड़ता है।

[६] सामान्य शासनः---इसके अन्तर्गत गवर्नर, मन्त्रियों तथा धारा सभा के सदस्यों को दिया जाने वाला वेतन तथा भत्ता सम्मिलित हैं।

[७] कर वसूली पर व्ययः--विभिन्न प्रकार के करों को वसूल करने में सरकारों को कई कर्मचारियों को नियुक्त करना पड़ता है। इस प्रकार उन्हें इस पर भी व्यय करना पड़ता है।

[८] सूदः---राज्य सरकार अपनी विकास योजनाओं के लिए केन्द्र तथा जनता से समय समय पर लोन तथा ऋण लेती रहती है। इस पर उसे ब्याज देना पड़ता है।

[९] अन्यः--सिंचाई के साधनों तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों के लिए उसे काफी धन व्यय करना पड़ता है।

१६ विविध

प्रश्न ४९. भारत के श्रमिक संघ आन्दोलन के विकास का संक्षिप्त विवरण दीजिए तथा उसके मार्ग में आनेवाली कठिनाईयों का वर्णन कीजिये।

उत्तर--वेब के अनुसार श्रमिक संघ श्रमिकों के उस संगठन को कहते हैं जिसका उद्देश्य अपने सदस्यों के लिए मालिकों से अधिक सुविधाएं प्राप्त करना तथा उनके हितों की रक्षा करना है। श्रम एक नाशवान वस्तु है और श्रमिकों में पाई जानेवाली कमियों के कारण वह सदैव मालिकों से मजदूरी तय करने तथा अन्य बातों में पीछे रह जाते हैं। मालिक विभिन्न प्रकार के तरीकों से मजदूरों का आर्थिक शोषण करते रहते हैं। इनसे अपनी रक्षा करने के लिए

ही वह श्रमिक संघ का निर्माण करते है। वास्तव में श्रमिक संघ औद्योगिक विकास की देन है।

भारत में श्रमिक संघ के विकास का इतिहास अत्यन्त संक्षिप्त है क्योंकि उनका जन्म भारत में पश्चिम देशो के काफी समय बाद में हुआ। विभिन्न अवसरों पर मजदूरों के हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से अनेक नामों से विभिन्न संस्थाओं का निर्माण हुआ। १८९० में बम्बई मील मजदूर संघ तथा १९१० में बम्बई में कामगार हित वर्धक सभा की स्थापना हुई।

श्रमिक संघों का वास्तविक आरम्भ सन् १९१८ में हुआ। डा. जे. एल. रस्तोगी के अनुसार युद्ध के दौरान में उच्च लाभ व कम वेतन, शिक्षित नेतृत्व, रूस की क्रांति (१९१७) व I. L. O. की स्थापना के कारण युद्ध के बाद के वर्षों में श्रमिकों में संघ की भावना विकसित हुई। (**Trade Unionism in India, by Dr. J. L. Rastogi, Commerce, Annual, Dec. 1960**) पृ० १८२)

१९१८ में मद्रास में श्री वाडिया के नेतृत्व में एक श्रमिक संघ की स्थापना की गई और १९२० में महात्मा गांधी के नेतृत्व में अहमदाबाद में श्रमिक संघ तथा आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना हुई। इस वर्ष के खिलाफत आन्दोलन के दौरान में राजनैतिक कारणों के फलस्वरूप श्रमिक संघों को प्रोत्साहन मिला। देश में कई श्रमिक संघों का निर्माण हुआ। बम्बई केन्द्रीय बोड, बंगाल मजदूर संघ तथा अखिल भारतीय रेल्वे संघ की स्थापना सन् १९२२ में हुई। कुछ समय बाद तार व डाकखाने का एक संघ स्थापित किया गया।

भारतीय मिल-मालिक श्रमिक संघों के निरन्तर हो रहे विकास से संतुष्ट न थे और वह इनका विरोध करते रहे। १९२० में मद्रास हाईकोर्ट ने बकिंघम मिल के मुकदमे में श्रमिक संघ के नेताओ पर जुर्माना किया और उन्हें मजदूरों को हड़ताल पर जाने के लिए भड़काने से मना कर दिया इसके कारण श्रमिक संघ की प्रगति कुछ मन्द होगई। श्री जोशी के प्रयत्नों के कारण सरकार ने १९२६ में पहली बार ट्रेड यूनियन कानून पास किया। इसके अनुसार रजिस्टर्ड श्रमिक संघों का हड़ताल करने का अधिकार प्राप्त हुआ तथा उन्हें कई प्रकार की सुविधाएं प्राप्त हुई। इसके अनुसार सात या उससे अधिक मिलकर संघ का निर्माण कर उसे रजिस्टर्ड करा सकते थे।

१९२८–२९ तक मजदूर संघों में साम्यवादियों का प्रभुत्व बना रहा। १९२९ में जोशी के नेतृत्व में अखिल भारतीय मजदूर संघ फेडरेशन की स्थापना की गई। १९३५ में आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा नेशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन दो संस्थाएं बन गई। १९३८ में फेडरेशन को समाप्त कर दिया गया तथा भारतीय मजदूर संघ कांग्रेस में उसका विलय कर दिया गया।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मे श्री एम० एन० राय की अध्यक्षता में Indian Federation of Labours स्थापना की गई। १९४७ में कांग्रेसी नेताओं ने इन्डियन नेशनल यूनियन कांग्रेस की स्थापना की। इस संस्था को गांधीवादी विचार धारा के श्रमिक नेताओं का समर्थन प्राप्त हुआ। सन् १९४८ में समाजवादियों द्वारा हिन्द मजदूर सभा की स्थापना की गई। प्रो० के० टी० शाह द्वारा United Trade Union Congress का निर्माण किया गया। इस समय देश में इन्डियन नेशनल कांग्रेस [I. N. T. U. C.], अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस [A. I. T. U. C.], संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा हिन्द मजदूर–सभा कार्य कर रही हैं। १९५० में भारत में लगभग ३४०० रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन थे जिनके सदस्यों की संख्या करीब १८ लाख थी। १९५० के बाद की स्थिति Indian Labours Gazettes तथा Indian Labour Year Book के अनुसार इस प्रकार की रही :—

	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५७-५८
रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन की संख्या	४,६२३	४,९०९	६,०३४	६,६४९	८,०९५	८,५५३	१०,०४५
सूचना देने वाले ट्रेड यूनियनों की संख्या	२,५५६	२,७१८	३,३००	३,११३,	४,००६	४,३९४	५,५२०
सूचना देने वाले यूनियनों की सदस्यता	१९,९६,३११	२०,९०,००७	२१,१३,९०४	२१,७०,४५०	२२,७४,७३२	२३,७६,७६२	३०,१५,०५२

श्रमिक संघ आन्दोलन में बाधाएं :—भारत में यद्यपि श्रमिक संघ आन्दोलन का आरम्भ कुछ वर्षों पूर्व हुआ परन्तु जैसा कि उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है उसने अत्यन्त तीव्र गति से प्रगति की। डा० रस्तोगी के अनुसार भारत में श्रमिक संघ अपने सदस्यों का बहुमुखी विकास करने में असफल रहे हैं। वह मालिकों के साथ उनके सम्बन्धों में अनुशासन व व्यवहार का उत्तरदायित्व नहीं लेते। वह उनमें आत्म-निर्भरता, सहयोग की भावना को विकसित नहीं कर पाये हैं। मित्रता पूर्ण और सहयोग पूर्ण तथा ईमानदारी की भावनाओं के स्थान पर वह उनमें असहयोग, संघर्ष तथा बेईमानदारी की भावनाओं को प्रोत्साहित करते हैं। वह भारत में व्यवस्थापक और श्रमिकों के बीच में महत्वपूर्ण कड़ी का कार्य सफलता पूर्वक नहीं कर पाते। इससे स्पष्ट कि भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन अन्य देशों की तुलना में काफी कमजो है और सही मार्ग पर नहीं है। उसकी प्रगति में निम्नलिखित बाधाऐं हैं:—

(१) भारतीय श्रमिकों का एक स्थान पर स्थिर न रहना :—भारतीय श्रमिकों की एक विशेषता यह है कि वह अधिक दिनों तक एक व्यवसाय में कार्य नहीं करते या समय पर अपने गांव आया जाया करते हैं इस कारण वह श्रमिक संघ की कार्यवाही में कोई रुचि नहीं रखते।

(२) भारतीय श्रम की विभिन्नता :—औद्योगिक केन्द्र में काम करने वाले श्रमिक भिन्न २ जाति, प्रांत या धर्म को मानने वाले होते हैं। इस विभिन्नता के कारण वह एक दूसरे के निकट सम्पर्क में नहीं आ पाते जिस कारण एकता की भावना पनप नहीं पाती।

(३) अनुशासन की कमी:—श्रमिकों में अनुशासन का अभाव पाया जाता है। वह सभा के नियमों का उचित पालन नहीं करते।

(४) निर्धनता:—भारतीय श्रमिकों का आर्थिक स्तर अच्छा नह होता। वह बड़ी मुश्किल से अपना जीवन-निर्वाह कर पाते हैं और इस कारण श्रमिक संघ का चन्दा देना वह पसन्द नहीं करते।

(५) निरक्षता:—डा० रस्तोगी के अनुसार वास्तव में सुदृढ़ श्रमि संघ आन्दोलन के लिए श्रमिकों का शिक्षित होना परमावश्यक है। अधिकत श्रमिक संघ के सिद्धान्तों, उद्देश्यों और उनसे प्राप्त होने वाले लाभों अपरिचित है अतः श्रमिक संघ के विकास के हेतु श्रमिकों में व्यवस्थि

शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। उनके उद्देश्यों, कार्य और लाभों से भी उन्हें अवगत कराने का यत्न करना चाहिए।

(६) राजनैतिक दलों का हस्तक्षेप:—भारत के श्रमिक संघ किसी न किसी राजनैतिक दल के प्रभाव में हैं जैसे I. N. T. U. C. कांग्रेस के, A. I. T. U. C. साम्यवादियों के और हिन्द मजदूर सभा प्रजा-समाजवादियों के प्रभाव में है। यह राजनैतिक दल समय समय पर श्रमिक संघों का अपने राजनैतिक हितों के लिए शोषण करते रहते हैं। डा० रस्तोगी के अनुसार स्वस्थ औद्योगिक सम्बन्ध के हेतु उन्हें उनके प्रभाव से मुक्त करना आवश्यक है। यह इसलिए आवश्यक है क्योंकि राजनैतिक दलों के शोषण के कारण श्रमिक संघ के उद्देश्यों को आघात लगता है और उनके विकास में बाधा उपस्थित होती है।

(७) योग्य मजदूर नेताओं का अभाव:—भारतीय श्रमिक संघ की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि श्रमिक स्वयं अपने नेता नहीं होते। उनका नेतृत्व प्रायः राजनैतिक कार्यकर्ता किया करते हैं। वे लोग उनके हितों के बजाय न दल के हितों का विशेष ध्यान रखते हैं। कई बार वह अपनी शक्ति का झूठा प्रदर्शन करने के लिये हड़ताल करा देते हैं जिससे श्रमिकों को हानि उठानी पड़ती है। डा० रस्तोगी के अनुसार बाहर ३ व्यक्तियों का होना इस लिये कई बार आवश्यक होता है क्योंकि श्रमिक कानून अत्ययन्त जटिल हो गए हैं और व्यवस्थापकों से ठीक प्रकार से लड़ने योग्य व्यक्ति की आवश्यकता रहती है।

(८) मील मालिकों का रुख:—मील-मालिक श्रमिक संघ की कार्य-वाही से कभी भी सन्तुष्ट नहीं रहते। वे उस श्रमिक के साथ सख्त व्यवहार करते हैं जो श्रमिक संघ में सक्रिय भाग लेता है।

(९) काम का लम्बा समय:—भारतीय श्रमिकों के काम के घण्टे काफी लम्बे हैं, जिसके कारण वे दिन के अन्त में थक कर चूर हो जाते हैं और जल्दी घर पहुंच जाना चाहते हैं। वे सभाओं की अवहेलना करते है।

प्रश्न (५०) रहन-सहन का स्तर का आशय किससे है? भारतीयों के रहन-सहन के स्तर निम्न होने का क्या कारण है? उसे किस प्रकार से ऊंचा उठाया जा सकता है?

उत्तर :—रहन-सहन का आशय उन आवश्यकताओं से होता है जिनका उपभोग करने की मनुष्य को आदत पड़ जाती है। जीवन-स्तर सापेक्षित है और तुलनात्मक अध्ययन का विषय है।

रहन सहन का स्तर दो प्रकार का होता है—[१] ऊंचा जीवन स्तर। [२] नीचा जीवन-स्तर। ऊंचा जीवन-स्तर वह है जिसमें मनुष्य अपनी अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। उसे अच्छा भोजन, अच्छे कपड़े तथा रहने के लिए साफ मकान आदि उपलब्ध होते हैं। संक्षेप में उस स्तर का परिवार सुखी और संतुष्ट जीवन व्यतीत करता है। ऊंचे जीवन-स्तर का प्रभाव कार्यक्षमता पर पड़ता है। ऊंचे जीवन-स्तर को कायम तभी रखा जा सकता है जब मजदूरी की दर ऊंची हो।

नीचा जीवन-स्तर वह है जिसमें मनुष्य अपनी बहुत ही कम आवश्यकताओं को संतुष्ट कर पाता है। न तो उसे पौष्टिक भोजन प्राप्त हो पाता है और न ही रहने के लिए साफ और सुन्दर मकान। इससे उसे सदा मानसिक कष्ट और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिस कारण उसकी कार्य-कुशलता कम हो जाती है।

इस प्रकार जीवन-स्तर का सम्बन्ध मजदूरी की दर तथा श्रमिकों की कार्यक्षमता से है। इसका प्रभाव अन्त में उत्पादन पर पड़ता है। भारतवासियों का जीवन-स्तर अन्य देशों के निवासियों के जीवन-स्तर की तुलना में काफी नीचा है। इसके कारण निम्नलिखित हैं :—

आर्थिक कारण :—देश में अब भी प्राकृतिक साधनों का उचित और पर्याप्त शोषण नहीं किया जा रहा है। देश अपनी वन सम्पदा का केवल २५% भाग ही उपयोग में ला रहा है। तमाम भूमि जो कृषि योग्य है उस पर कृषि नहीं की जाती। इस कारण राष्ट्रीय आय काफी कम है और इससे प्रति व्यक्ति आय भी कम हो जाती है। यह नीचा जीवन-स्तर होने का मुख्य कारण है।

कारखानों में वही पुरानी मशीनों तथा तरीकों द्वारा उत्पादन किया जाता है, अतः देश का उत्पादन विदेशी उत्पादन की तुलना में काफी कम रहता है। यही स्थिति भारतीय कृषि की है।

भारत की जनसंख्या इस समय ४८ करोड़ के लगभग है, जिसमें निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। इसके फलस्वरूप कुल उत्पादन को प्रत्येक वर्ष अधिक से अधिक नागरिकों में विभाजित करना पड़ता है। अतः जीवन-स्तर में वृद्धि

तक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। उनके उद्देश्यों, कार्य और लाभों से भी उन्हें बगत कराने का यत्न करना चाहिए।

(६) राजनैतिक दलों का हस्तक्षेप:—भारत के श्रमिक संघ किसी न किसी राजनैतिक दल के प्रभाव में हैं जैसे I. N. T. U. C. कांग्रेस के, A. I. T. U. C. साम्यवादियों के और हिन्द मजदूर सभा प्रजा-समाजवादियों के प्रभाव में है। यह राजनैतिक दल समय समय पर श्रमिक संघों का अपने राजनैतिक हितों के लिए शोषण करते रहते हैं। डा० रस्तोगी के अनुसार स्वस्थ औद्योगिक सम्बन्ध के हेतु उन्हें उनके प्रभाव से मुक्त करना आवश्यक है। यह इसलिए आवश्यक है क्योंकि राजनैतिक दलों के शोषण के कारण श्रमिक संघ के उद्देश्यों को आघात लगता है और उनके विकास में बाधा उपस्थित होती है।

(७) योग्य मजदूर नेताओं का अभाव :—भारतीय श्रमिक संघ की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि श्रमिक स्वयं अपने नेता नहीं होते। उनका नेतृत्व प्रायः राजनैतिक कार्यकर्ता किया करते हैं। वे लोग उनके हितों के बजाय दल के हितों का विशेष ध्यान रखते हैं। कई बार वह अपनी शक्ति का झूठा प्रदर्शन करने के लिये हड़ताल करा देते हैं जिसमे श्रमिकों को हानि उठानी पड़ती है। डा० रस्तोगी के अनुसार बाहर ३ व्यक्तियों का होना इस लिये कई बार आवश्यक होता है क्योंकि श्रमिक कानून अत्ययन्त जटिल हो गए हैं और व्यवस्थापकों से ठीक प्रकार से लड़ने योग्य व्यक्ति की आवश्यकता रहती है।

(८) मील मालिकों का रुख :—मील-मालिक श्रमिक संघ की कार्य-वाही से कभी भी सन्तुष्ट नहीं रहते। वे उस श्रमिक के साथ सख्त व्यवहार करते हैं जो श्रमिक संघ में सक्रिय भाग लेता है।

(९) काम का लम्बा समय :—भारतीय श्रमिकों के काम के घण्टे काफी लम्बे हैं, जिसके कारण वे दिन के अन्त में थक कर चूर हो जाते है और जल्दी घर पहुंच जाना चाहते हैं। वे सभाओं की अवहेलना करते है।

प्रश्न (५०) रहन-सहन का स्तर का आशय किससे है ? भारतीयों के रहन-सहन के स्तर निम्न होने का क्या कारण है ? उसे किस प्रकार से ऊंचा उठाया जा सकता है ?

उत्तर :—रहन-सहन का आशय उन आवश्यकताओं से होता है जिनका उपभोग करने की मनुष्य को आदत पड़ जाती है। जीवन-स्तर सापेक्षित है और तुलनात्मक अध्ययन का विषय है।

रहन सहन का स्तर दो प्रकार का होता है—[१] ऊंचा जीवन स्तर। [२] नीचा जीवन-स्तर। ऊंचा जीवन-स्तर वह है जिसमें मनुष्य अपनी अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। उसे अच्छा भोजन, अच्छे कपड़े तथा रहने के लिए साफ मकान आदि उपलब्ध होते हैं। संक्षेप में उस स्तर का परिवार सुखी और संतुष्ट जीवन व्यतीत करता है। ऊंचे जीवन-स्तर का प्रभाव कार्य-क्षमता पर पड़ता है। ऊंचे जीवन-स्तर को कायम तभी रखा जा सकता है जब मजदूरी की दर ऊंची हो।

नीचा जीवन-स्तर वह है जिसमें मनुष्य अपनी बहुत ही कम आवश्यकताओं को संतुष्ट कर पाता है। न तो उसे पौष्टिक भोजन प्राप्त हो पाता है और न ही रहने के लिए साफ और सुन्दर मकान। इससे उसे सदा मानसिक कष्ट और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिस कारण उसकी कार्य-कुशलता कम हो जाती है।

इस प्रकार जीवन-स्तर का सम्बन्ध मजदूरी की दर तथा श्रमिकों की कार्यक्षमता से है। इसका प्रभाव अन्त में उत्पादन पर पड़ता है। भारतवासियों का जीवन-स्तर अन्य देशों के निवासियों के जीवन-स्तर की तुलना में काफी नीचा है। इसके कारण निम्नलिखित हैं :—

आर्थिक कारण :—देश में अब भी प्राकृतिक साधनों का उचित और पर्याप्त शोषण नहीं किया जा रहा है। देश अपनी वन सम्पदा का केवल २५% भाग ही उपयोग में ला रहा है। तमाम भूमि जो कृषि योग्य है उस पर कृषि नहीं की जाती। इस कारण राष्ट्रीय आय काफी कम है और इससे प्रति व्यक्ति आय भी कम हो जाती है। यह नीचा जीवन-स्तर होने का मुख्य कारण है।

कारखानों में वही पुरानी मशीनों तथा तरीकों द्वारा उत्पादन किया जाता है, अतः देश का उत्पादन विदेशी उत्पादन की तुलना में काफी कम रहता है। यही स्थिति भारतीय कृषि की है।

भारत की जनसंख्या इस समय ३६ करोड़ के लगभग है, जिसमें निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। इसके फलस्वरूप कुल उत्पादन को प्रत्येक वर्ष अधिक से अधिक नागरिकों में विभाजित करना पड़ता है। अतः जीवन-स्तर में वृद्धि

नहीं होने पाती और वह निम्न स्तर का बना रहता है।

भारत एक कृषि प्रधान देश है। देश की जनसंख्या का करीब ७० प्र० श० भाग कृषि में संलग्न है। देश में उद्योग-धन्धों का अभाव है जिससे लाखों व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त नहीं होता। देश की पूंजी का केन्द्रीयकरण कुछ गिने चुने व्यक्तियों के हाथों में हो गया है। इस असमान वितरण के कारण देशवासियों की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय बन गई है। जब तक यह असमानता बनी रहेगी, जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने में कोई भी सफलता प्राप्त होने की आशा नहीं की जा सकती।

यातायात व सन्देशवाहन के साधनों का तथा वित्त-व्यवस्था का देश में समुचित विकास नहीं हो पाया है। गांवों का सम्पर्क नगरों से नहीं है। अतः उन्हें अपने यहां पर मिलने वाली वस्तुओं पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः उनका जीवन-स्तर निम्न बना हुआ है।

भारतीय जनता का अधिकांश भाग अशिक्षित होने के कारण ऊंचे स्तर के महत्व को नहीं समझ पाता है। वह विवेकपूर्ण ढंग से अपनी को व्यय करना नहीं जानते। अतः उनका जीवन-स्तर नीचा रहता है।

भारतीयों के जीवन का आदर्श "सादा जीवन और उच्च विचार" रहा है। यह सदैव अपनी वर्तमान स्थिति से पूर्ण संतुष्ट रहते हैं और उसमें सुधार करने का प्रयत्न नहीं करते। अतः उनका जीवन-स्तर निम्न बना रहता है।

भारतीय श्रमिक की कार्य कुशलता अधिक नहीं होने के कारण उन्हें ऊंची मजदूरी प्राप्त नहीं हो पाती और इस कारण उनका जीवन-स्तर नीचा रहता है। वह देश की रूढ़ियों और परम्परा के शिकार बने रहते हैं। विवाह, मृत्यु भोज, नामकरण संस्कार आदि उत्सवों पर अत्यधिक व्यय करते हैं। वह इनके लिए पहले से ही बचाना आरम्भ कर देता है और अपनी दैनिक आवश्यकताओं को इस कारण संतुष्ट नहीं कर पाता है। फैशन पर भी व्यय अधिक करते हैं।

देश का जलवायु गर्म है और इस कारण यहां के निवासियों को आवश्यकतायें अन्य देश के निवासियों की तुलना में कम रहती हैं।

भारतीयों के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने के लिए निम्नलिखित उपायों को प्रयोग में लाना चाहिए :—

देश के प्राकृतिक साधनों का उचित और पर्याप्त शोषण किया जाये। षि और कारखानों में आधुनिक तरीकों को प्रयोग में लाया जाय ताकि त्पादन की मात्रा में वृद्धि हो और राष्ट्रीय आय बढ़े। देश में से धन के समान वितरण को समाप्त करने का यत्न किया जाना चाहिए। यातायात या सन्देश वाहन के साधनों का विकास किया जाना चाहिए। बैंकिंग व्यवस्था ा विकास भी किया जाना चाहिए ताकि उद्योग और व्यापार को प्रोत्साहन मिले। देश में तीव्र गति से बढ़ रही जनसंख्या को परिवार नियोजन और न्य कृत्रिम साधनों द्वारा रोकने का यत्न किया जाय। शिक्षा का प्रसार किया जाना चाहिए जिससे देश के निवासियों का संकुचित दृष्टिकोण दूर हो जाय और धन का उचित प्रयोग करना सीख सकें। श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। उनकी कार्यकुशलता बढ़ने पर उत्पादन की मात्रा बढ़ जायेगी जिससे उन्हें ऊंची मजदूरी प्राप्त हो सकेगी जो ऊंचा जीवन-स्तर कायम करने के लिए आवश्यक है। सरकार को चाहिए कि वह जनता के स्वास्थ्य के लिए उचित व्यवस्था करे। देश के निवासियों को अनुत्पादक कार्यों पर व्यर्थ धन खर्च न करने के किए प्रेरित किया जाना चाहिए।

सरकार भी जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने के लिए प्रयत्नशील है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना मे राष्ट्रीय आय में १५ प्रतिशत वृद्धि करने का लक्ष्य रखा है।

प्रश्न नं० (५१) राष्ट्रीय आय किसे कहते हैं? भारत की राष्ट्रीय आय कम होने के क्या कारण हैं?

उत्तर :—देश में राष्ट्रीय आय और उसकी आर्थिक व्यवस्था में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। राष्ट्रीय आय पर ही वहां के निवासियों की प्रति व्यक्ति आय तथा उनका जीवन-स्तर निर्भर करता है।

मार्शल के अनुसार राष्ट्रीय आय किसी देश में एक वर्ष में उत्पन्न हुई भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं तथा सेवाओं का योग है।

कोलिन क्लार्क के अनुसार किसी समय विशेष की राष्ट्रीय आय उन समस्त वस्तुओं तथा सेवाओं का मुद्रा-मूल्य है जो उपभोग के लिए उपलब्ध होती है तथा जिनका मूल्यांकन उस समय में प्रचलित मूल्यों पर किया जाता है।

१९५१ की राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार राष्ट्रीय आय किसी दिए

हुए निश्चित समय में उत्पादित समस्त वस्तुओं और सेवाओं का समू
बिना दोहराव के गिनी गई हो।

भारत की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने का प्रयत्न समय स
कई व्यक्तियों ने किया है। वाड़िया और जोशी द्वारा १९१३-१४
१०८७ करोड़ रू० आंकी गई थी। १९४५-४६ में केन्द्रीय वाणिज्य विभ
उसे ४९३७ करोड़ रू० आंका था। राष्ट्रीय आय समिति ने १९४९-५
८८२० करोड़ रु० आंका था तथा राष्ट्रीय योजना आयोग ने उसे १९५५-
में १०८०० करोड़ रु० आंका था।

भारत की राष्ट्रीय आय की तुलना यदि अन्य देशों की राष्ट्रीय आय
से की जाय तो यह ज्ञात होगा कि वह उनकी तुलना में बहुत कम है। अमेरिका की १९५६ में राष्ट्रीय आय, १.६३,५५४ करोड़ रु० थी, इंगलैंड की राष्ट्रीय आय १९५६ में २१,९५३ करोड़ थी। पश्चिमी जर्मनी की राष्ट्रीय आय १९५६ में १६,८८९ करोड़ रु० थी।

Illustrated Weekly Feb. 1961. में ड़ा बी० के० आर० जो राव द्वारा लिखित National Income लेख के अनुसार १९५८-५९ में राष्ट्रीय आय १२,४०७ करोड़ रु० थी। इसमें से लगभग आधी आय कृषि से प्राप्त हुई थी। स्थिर मूल्यों के आधार, से राष्ट्रीय ाय जो १९४८-४९ में ८६५० करोड़ थी वह १९५८-५९ में ११,६९० करोड़ ी गई थी। इस प्रकार उसमे ३५.१% की वृद्धि हुई है। १९५८-५९ की ्रीय आय के आधार पर प्रति-व्यक्ति आय ३१३ रू० है।

उपर्युक्त विवरण से यह विदित हो जाता है कि हमारे देश की राष्ट्रीय
काफी कम है और जनसंख्या अधिक होने पर देश की प्रति व्यक्ति आय हुत कम रह जाती है।

इससे हम यह कह सकते हैं कि हमारा देश निर्धन राष्ट्र है। उसको आय के कम होने के कारण निम्नलिखित हैं—

(१) प्राकृतिक साधनों का उचित तथा पर्याप्त शोषण न किया जाना।
२) कृषि में पुरानी प्रणाली को अपनाना तथा कृषि योग्य भूमि का रहना।
) कम औद्योगिक उत्पादन—श्रमिकों की अकुशलता।
यातायात तथा संदेश वाहन के साधनों का अभाव।

(५) अत्यधिक जनसंख्या।

(६) देश की बेरोजगारी।

प्रश्न नं० (५२) निम्नलिखित पर संक्षेप में नोट लिखिए :–

(१) रैयतवारी प्रथा।

(२) भूमि का कटाव।

(३) बहुउद्देश्यीय नदी घाटी योजनाएं।

(४) भारत का पशुधन।

(५) औद्योगिक अर्थ व्यवस्था निगम।

(१) रैयतवारी प्रथा :–इस प्रथा में भूमि की मालगुजारी अदा करने का उत्तरदायित्व कृषक स्वयं पर होता है। वह अपनी भूमि का स्वामी होता है और उस तथा राज्य के बीच में कोई मध्यस्थ नहीं होता। बम्बई, मध्य-भारत, मद्रास तथा आसाम में यह प्रथा प्रचलित है। मालगुजारी १० से लेकर ३० वर्षों तक के लिए सर्वे के आधार पर तय कर दी जाती है। कृषि की वास्तविक उपज का (कुल उपज के मूल्य से उत्पादन व्यय कम कर) जो उत्पादन होता है, उसका करीब ५०% मालगुजारी के रूप में लिया जाता है।

(२) भूमि का कटाव :—भारतीय कृषि काफी अवनत दशा में है जिसका एक प्रमुख कारण भूमि का कटाव है। जब किसी कारणवश भूमि की उपजाऊ शक्ति में कमी होने लगती है तो उसे भूमि का कटाव कहते है।

तेज हवा और आंधी तथा पानी के तेज बहाव के कारण भूमि पर के उपजाऊ कण उड़ जाते है या बह जाते हैं और भूमि की उपजाऊ शक्ति कम हो जाती है। राजस्थान में रेगिस्तान का विस्तार बढ़ने का कारण वहां पर चलने वाली तेज आंधियां है। भूमि का कटाव दो तरह का होता है—

एक सा कटाव :–भूमि की एक परत कट जाती है तो उसे एकसा कटाव कहते है।

कछार कटाव :—वर्षा के जल या नदी नालों के जल के तेज बहाव के कारण भूमि पर अनेक खड्डे बन जाते हैं। बहाव अपने साथ उपजाऊ कण बहा ले जाता है और भूमि की उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाती है।

इस कटाव के कारण ही विश्व की प्राचीन उन्नतिशील सभ्यताओं का विनाश हुआ है।

हुए निश्चित समय में उत्पादित समस्त वस्तुओं और सेवाओं का समूह है, जो बिना दोहराव के गिनी गई हो।

भारत की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने का प्रयत्न समय समय पर कई व्यक्तियों ने किया है। वाड़िया और जोशी द्वारा १९१३-१४ में वह १०८७ करोड़ रू० आंकी गई थी। १९४५-४६ में केन्द्रीय वाणिज्य विभाग ने उसे ४९३७ करोड़ रू० आंका था। राष्ट्रीय आय समिति ने १९४९-५० में ८८२० करोड़ रु० आंका था तथा राष्ट्रीय योजना आयोग ने उसे १९५५-५६ में १०८०० करोड़ रु० आंका था।

भारत की राष्ट्रीय आय की तुलना यदि अन्य देशों की राष्ट्रीय आय से की जाय तो यह ज्ञात होगा कि वह उनकी तुलना में बहुत कम है। अमेरिका की १९५६ में राष्ट्रीय आय, १.६३,५५४ करोड़ रु० थी, इंगलैंड की राष्ट्रीय आय १९५६ में २१,९५३ करोड़ थी। पश्चिमी जर्मनी की राष्ट्रीय आय १९५६ में १६,८८९ करोड़ रु० थी।

Illustrated Weekly Feb. 1961. में

ड़ा बी० के० आर० जो राव द्वारा लिखित **National Income** लेख के अनुसार १९५८-५९ में राष्ट्रीय आय १२,४०७ करोड़ रु० थी। इसमें से लगभग आधी आय कृषि से प्राप्त हुई थी। स्थिर मूल्यों के आधार, से राष्ट्रीय आय जो १९४८-४९ में ८६५० करोड़ थी वह १९५८-५९ में ११,६९० करोड़ हो गई थी। इस प्रकार उसमे ३५.१% की वृद्धि हुई है। १९५८-५९ की राष्ट्रीय आय के आधार पर प्रति-व्यक्ति आय ३१३ रू० है।

उपर्युक्त विवरण से यह विदित हो जाता है कि हमारे देश की राष्ट्रीय आय काफी कम है और जनसंख्या अधिक होने पर देश की प्रति व्यक्ति आय तो बहुत कम रह जाती है।

इससे हम यह कह सकते हैं कि हमारा देश निर्धन राष्ट्र है। उसको राष्ट्रीय आय के कम होने के कारण निम्नलिखित हैं—

(१) प्राकृतिक साधनों का उचित तथा पर्याप्त शोषण न किया जाना।

(२) कृषि में पुरानी प्रणाली को अपनाना तथा कृषि योग्य भूमि का बेकार पड़ा रहना।

(३) कम औद्योगिक उत्पादन—श्रमिकों की अकुशलता।

(४) यातायात तथा संदेश वाहन के साधनों का अभाव।

(५) अत्यधिक जनसंख्या।

(६) देश की बेरोजगारी।

श्न नं० (५२) निम्नलिखित पर संक्षेप में नोट लिखिए :—

(१) रैयतवारी प्रथा।

(२) भूमि का कटाव।

(३) बहुउद्देश्यीय नदी घाटी योजनाएं।

(४) भारत का पशुधन।

(५) औद्योगिक अर्थ व्यवस्था निगम।

(१) रैयतवारी प्रथा :—इस प्रथा में भूमि की मालगुजारी अदा करने ारदायित्व कृषक स्वयं पर होता है। वह अपनी भूमि को स्वामी होता है ास तथा राज्य के बीच में कोई मध्यस्थ नहीं होता। बम्बई, मध्य-भारत, तथा आसाम में यह प्रथा प्रचलित हैं। मालगुजारी १० से लेकर ३० ाक के लिए सर्वे के आधार पर तय कर दी जाती है। कृषि की वास्तविक का (कुल उपज के मूल्य से उत्पादन व्यय कम कर) जो उत्पादन होता है, करीब ५०% मालगुजारी के रूप में लिया जाता है।

(२) भूमि का कटाव :—भारतीय कृषि काफी अवनत दशा में है ा एक प्रमुख कारण भूमि का कटाव है। जब किसी कारणवश भूमि की ऊ शक्ति में कमी होने लगती है तो उसे भूमि का कटाव कहते हैं।

तेज हवा और आंधी तथा पानी के तेज बहाव के कारण भूमि पर के ाऊ कण उड़ जाते हैं या बह जाते हैं और भूमि की उपजाऊ शक्ति कम ाती है। राजस्थान में रेगिस्तान का विस्तार बढ़ने का कारण यहां पर वाली तेज आंधियां है। भूमि का कटाव दो तरह का होता है—

एक सा कटाव :—भूमि की एक परत कट जाती है तो उसे एकसा कहते हैं।

कछार कटाव :—वर्षा के जल या नदी नालों के जल के तेज बहाव के ण भूमि पर अनेक खड्डे बन जाते हैं। बहाव अपने साथ उपजाऊ कण ले जाता है और भूमि की उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाती है।

इस कटाव के कारण ही विश्व की प्राचीन उन्नतिशील सभ्यताओं का श हुआ है।

इस विनाशकारी समस्या का समाधान अधिक वन लगाकर, बांध बना कर खेतों की डोलें बनाकर चरागाहों का प्रबन्ध कर किया जा सकता है। राजस्थान के बढ़ते हुए रेगिस्तान की रोकथाम के लिए सरकार ने जोधपुर में एक अनुसंधानशाला स्थापित की है।

(३) बहुउद्देशीय नदी घाटी योजना :—भारत में कई नदियां है। कुछ वर्षों पहिले वह बजाय समृद्धि का साधन होने के देश के विनाश का साधन थी। प्रत्येक वर्षों उनमें बाढ़ आने से काफी नुकसान होता था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद नदियों पर नियंत्रण करने हेतु उन पर कई बांध बनाए जा रहे हैं। कोई भी नदी-घाटी योजना बहुउद्देश्यी इस कारण कहलाती है क्योंकि वह बाढ़ नियत्रण के साथ २ भूमि की सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध करती है, विद्युत पैदा करती है तथा नौकापरिवहन की व्यवस्था करती है और भूमि के कटाव को रोकने का कार्य करती है तथा मलेरिया पर नियत्रण करती है। इस समय देश में ६ बहुउद्देश्यीय योजनाओं पर कार्य हो रहा है। इन योजनाओं से देश को अत्यन्त आर्थिक लाभ प्राप्त होंगे। देश की प्रमुख योजनाओं में दामोदर घाटी योजना, भाखरा–नांगल योजना तथा हीरा कुडं योजनाएं हैं।

(४) भारत का पशुधन :—भारत एक कृषिप्रधान देश है और एक कृषक का महत्वपूर्ण सहयोगी उसका पशु है। वह उसकी सहायता से खेत जोतता है, कुएं से पानी निकालता है। माल लाने में गाय, भैंस आदि पशुओं का भी कम महत्व नहीं है। दूध, घी, मक्खन आदि उनसे प्राप्त होते हैं, जो उनकी आय को बढाते हैं।

पशुओं से भारत की राष्ट्रीय आय में प्रत्येक वर्ष १००० रुपए की वृद्धि होती है। उनका इतना महत्व होते हुए भी उनकी दशा खराब है। भारतवर्ष में पशुओं की संख्या विश्व की १/३ है। उनके लिए चारे की कमी रहती है।

उनकी इस हीन दशा को सुधारने के लिए निम्नलिखित उपाय काम में लाने चाहिए :—

(१) चारे का समुचित प्रबन्ध।
(२) उनकी नस्ल सुधारने का यत्न।
(३) पशु रोगों की रोकथाम के लिए प्रबन्ध करना।
(४) पशु पालन की शिक्षा की व्यवस्था।

राजस्थान का आर्थिक विकास

(विशिष्ट प्रश्न)

प्रश्न १ 'राजस्थान एक पिछड़ा हुआ किंतु अत्यन्त धनवान प्रदेश है।' चम्बल नदी योजना एवं राजस्थान नहर योजना के विशेष संदर्भ सहित उपरोक्त कथन की विवेचना कीजिये।

अथवा

राजस्थान में औद्योगिक विकास की संभावनाओं पर प्रकाश डालिये। (Raj. I. Com. 1950)

उत्तर:—१ मई सन् १९६० से राजस्थान भारत का दूसरा बड़ा प्रान्त बन गया है। राजस्थान का वर्तमान क्षेत्रफल १,३२,१४८ वर्गमील और जनसंख्या १८.८० मिलियन (१९५९) है। यहां की ८० प्रतिशत से अधिक जनसंख्या गांवों में निवास करती है, लगभग ३५००० गांवों की तुलना में केवल ४ शहर व २१९ नगर हैं; ७० प्रतिशत से अधिक रोजी के लिए खेती पर निर्भर हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आर्थिक दृष्टिकोण से १९५० की जनगणना के अनुसार ५० प्रतिशत जनसंख्या निष्क्रिय (Idle or non-earning dependents) है। राज्य के कुल क्षेत्रफल का केवल २३% भाग ही जोता जाता है। समाज सेवाओं का सीमित विस्तार, व्यापक दरिद्रताव, निम्न जीवनस्तर, बृहत् उद्योगों का नितान्त अभाव एवं कुटीर व लघु उद्योगों की दयनीय अवस्था, संवाहन व संचार के साधनों की कमी आदि कतिपय अन्य ऐसे तथ्य हैं, जिनके आधार पर राजस्थान को एक अत्यन्त पिछड़ा हुआ प्रदेश कहा जाता है।

किन्तु कहते हैं कि राजस्थान की धरती सोना उगलने वाली है। यहां भविष्य में द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए विशाल पैमाने पर इतनी अधिक सुविधाएं उपलब्ध हैं कि इसे विकास के दृष्टिकोण से 'क्लीन स्लेट' कहा जाता है—अभी नये सम्पन्न राजस्थान का मानचित्र उभर नहीं पाया है।

कृषि विस्तार:—वैसे ७०% जनसंख्या कृषि पर निर्भर होने के कारण राजस्थान के आर्थिक कल्याण का प्रश्न कृषि की समृद्धि की महत्वपूर्ण

भूमिका बन जाती है। किन्तु औद्योगिकरण के लिए भी कृषि का महत्व भुलाया नहीं जा सकता। कृषि विस्तार उद्योगों के लिए पर्याप्त कच्चे माल का प्रबंध करेगा। राजस्थान में कृषि विस्तार की सर्वप्रमुख समस्या सिंचाई की है। चम्बल ही एक मात्र सिंचन योग्य सदैव प्रवाहिनी नदी है। अभी केवल कृषि क्षेत्र के १० प्रतिशत भाग को ही सिंचाई सुविधाएं प्राप्त हैं। चम्बल, भाखड़ा नांगल तथा राजस्थान नहर योजनाओं द्वारा लगभग ५० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई होगी। इन योजनाओं की समाप्ति पर प्रदेश के ज्यादातर हिस्सों को सिंचाई के लिए पर्याप्त पानी मिल सकेगा।

चम्बल सिंचाई और जलविद्युत योजना में बिजली उत्पादन केन्द्रों सहित ३ बांध और १ सिंचाई बांध का निर्माण-कार्य सम्मिलित है। इस योजना के पूरे होने पर राजस्थान के कोटा, बूंदी, सवाईमाधोपुर तथा भरतपुर जिलों में सिंचाई होगी। इस योजना से दो लाख किलोवाट बिजली भी तैयार होगी जो कोटा, लाखेरी, सवाईमाधोपुर, दौसा, जयपुर, सांभर, अजमेर व उदयपुर आदि भागों को मिलेगी। इस योजना द्वारा कपास, तम्बाकू, गेंहू, दालों की पैदावार विशेष रूप से बढ़ाई जा सकेगी।

कृषि-विस्तार के हिसाब से राजस्थान नहर-योजना का महत्व सर्वाधिक होगा। लगभग ११० मील लम्बी यह नहर बीकानेर डिविजन के हनुमानगढ़, सूरतगढ़, अनूपगढ, रायसिंहनगर और बीकानेर तहसीलों को तथा जोधपुर डिविजन में और जैसलमेर डिविजन के नाचण, जैसलमेर तथा रामगढ़ तहसीलों को कुल मिलाकर लगभग ३६ लाख एकड़ भूमि को निरन्तर सिंचन सुविधाएं प्रदान करेंगी। इस योजना के बन जाने पर औद्योगिक फसलें बड़ी मात्रा में उपलब्ध हो सकेंगी।

राजस्थान में कृषि विस्तार की अन्य संभावनाओं के लिए देखिये अगला प्रश्न (सं० ५३)

औद्योगिक विकास—

वृहत उद्योगः—इस समय राजस्थान में वृहत-उद्योग नाम मात्र को ही है। बड़े उद्योगों के नाम पर राजस्थान में कुछ वस्त्र मिलें, चीनी मिलें, सिमेंट फैक्ट्रियां, इंजिनियरिंग के कारखाने आदि ही है। भविष्य में राजस्थान

के औद्योगिक विकास की बातें कुछ विशेष तथ्यों पर आधारित हैं—कृषि विस्तार के साथ कपास, गन्ने व दालें आदि औद्योगिक फसलों की प्राप्ति, सस्ती शक्ति की उपलब्धि तथा औद्योगिक खनिजों का मिलना। राजस्थान के औद्योगिक विकास की सबसे बड़ी समस्या शक्ति के स्रोतों का विकास है। राजस्थान देश के कोयला क्षेत्रों से बहुत दूर पड़ता है और सदैव प्रवाहिनी नदियों के अभाव में जल शक्ति के विकास की संभावनाएं भी असीमित नहीं कही जा सकती। किन्तु राजस्थान में औद्योगिक खनिजों की प्रचुरता है। राजस्थान खनिज भण्डारों के दृष्टिकोण से बिहार व मध्यप्रदेश से भारत का तीसरा बड़ा राज्य है। राजस्थान में पाये जाने वाले प्रमुख खनिज हैं—अभ्रक, मैंगनीज, लोहा, कोयला, खड़िया, सोप-स्टोन, चांदी, तांबा, सीसा व जस्ता, बिरल, टंगस्टन, यूरेनियम, इमारती पत्थर आदि। प्रो० एम० वी० माथुर के शब्दों में—"राज्य भर में खनिज पदार्थों के विकास की संभावनाओं को आशा भरी दृष्टि से देखा जा सकता है ....साथ ही औद्योगिक विकास की संभावनाएं और अधिक बढ़ गई हैं" यदि अपेक्षा के अनुसार राजस्थान में भविष्य में बड़े पैमाने पर अणु-शक्ति पैदा की जा सकी तो कई नये उद्योग स्थापित किये जा सकेंगे। जो भी हो, राजस्थान का औद्योगिक विकास खनिज एवं कृषि उपज प्रधान' उद्योगों के विकास तक ही अधिकतर सीमित रहेगा, इतना निश्चित है। प्रशिक्षित श्रम एवं यातायात व व्यापार केंद्रों से दूरी राजस्थान के औद्योगिक विकास की अन्य प्रमुख समस्या है।

लघु उद्योग—राजस्थान की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में कृषि उसका शरीर है तो कुटीर उद्योग धंधे रक्त हैं। हमारे किसान वर्ष के ज्यादातर भाग में बेकार रहते है। कुटीर उद्योग धंधे उनके लिए बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। राजस्थान लम्बे समय से अपने कुटीर उद्योगों की वस्तुओं के लिए प्रसिद्ध रहा है। हमारे यहाँ के प्रमुख कुटीर उद्योग हैं:—सूती व ऊनी वस्त्र उद्योग, बंधाई छपाई व रंगाई, गोटा उद्योग, दरी व निवार उद्योग, चर्म उद्योग, लकड़ी का काम, मांस उद्योग, लाख उद्योग, लोह उद्योग, पीतल और खुदाई कागज उद्योग आदि। इनमें से ऊन उद्योग विशेष महत्त्व रखता है। भारत के कुल ऊन उत्पादन का ५०% भाग राजस्थान से ही प्राप्त होता है।

छोटे उद्योगों की विविध समस्याएं हैं, यदि उनकी तरफ पूरा ध्यान दिया गया तो इन धंधों का काफी विकास हो सकेगा।

राजस्थान की दूसरी पंचवर्षीय योजना में उद्योगों पर विशेष बल दिया जा रहा है। इस अवधि में चितौड़गढ़, रामगंज मंडी तथा नीम का थाना में सिमेंट फैक्ट्रियां, कोटा में एक रेयन व एक निलोन मिल, भरतपुर व जयपुर में एक एक रेलवे वर्कशाप, दो सहकारी चीनी मिलें तथा वर्तमान सूती वस्त्र मिलों के विस्तार का प्रावधान किया गया है। इनके अलावा एक रासायनिक खाद के कारखाने तथा एक जिंक स्मेल्टर प्लांट के भी लगने की आशा है। द्वितीय योजनाकाल में औद्योगिक संभावनाओं को भांकने के लिए औद्योगिक सर्वेक्षण, बड़े व मध्यम उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहन, खादी, करघा व दस्तकारी के कार्यक्रमों के आधीन अधिक घरेलू उद्योगों द्वारा रोजगारी की व्यवस्था, भेड़ों की नस्ल सुधार व ऊन के प्रकार में सुधार, प्रशिक्षण प्रबंध व मार्केटिंग सुविधाओं का विस्तार आदि की व्यवस्था की गई है।

आर्थिक आधार (Economic Overheads):—किसी भी प्रदेश के आर्थिक विकास के लिए कतिपय आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति जरूरी होती है। ऐसी आधारभूत आवश्यकताओं को अर्थशास्त्र की भाषा में Economic Overheads या आर्थिक आधार कहते हैं। इन्हीं आधारों पर आर्थिक विकास का एक ढांचा खडा किया जा सकता है। ये आधारों हैं—सचार एवं संवाहन के साधन, सस्ती व सुलभ शक्ति, आधारभूत उद्योग (Key Industries) आदि। राजस्थान में इन सभी आधारों का अभी नाममात्र को ही विकास हुआ है। इतने विशाल प्रदेश में केवल २, १७६ मील लम्बा रेलमार्ग, केवल १४ हजार मील लम्बी करीब पक्की सड़कें तथा केवल तीन वायु मार्ग हैं, तथा केवल १५-१७ हजार किलोवाट बिजली पैदा होती है, कुछ इंजीनियरिंग कारखानों को छोड़कर कोई आधार उद्योग नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन सभी क्षेत्रों में अभी विकास का एक अंश भी पूरा नहीं हो पाया है।

उपसंहार के रूप में कहा जा सकता है कि कृषि-विस्तार, औद्योगिकरण तथा आर्थिक आधार—इन तीनों ही के दृष्टिकोण से अभी तो राजस्थान

पिछड़ा हुआ राज्य है किन्तु विकास की संभावनाएँ इतनी अधिक हैं कि शीघ्र ही राजस्थान भारत का प्रमुख समृद्ध प्रदेश होगा।

प्रश्न २:-संक्षिप्त निबंध लिखिये—'राजस्थान की कृषि अर्थ व्यवस्था'।

अथवा

बताइये कि स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त राजस्थान की कृषि में क्या २ सुधार व विकास कार्य हुए हैं।

उत्तरः—राजस्थान में लोगो का मुख्य धंधा कृषि है और अनुमानतः यहां ७०% व्यक्ति कृषि पर ही आधारित हैं। ऐसी स्थिति में यहां कृषि की दशा की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये और यह है भी आवश्यक। यदि कृषि की दशा सुधर गई तो अविकसित कहा जाने वाला राजस्थान भारत का प्रमुख विकसित उन्नतिशील प्रदेश बन जायगा! राजस्थान में कृषि का महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि यहां पर बड़े पैमाने पर औद्योगिकरण की संभावनाएँ अधिक विस्तृत नहीं हैं। इन अर्थों में कहा जा सकता है कि राजस्थान का आर्थिक कल्याण कृषि की उन्नति पर ही आधारित है।

राजस्थान के कुल क्षेत्रफल का अभीतक लगभग ३७% भाग ही जोता जाता है। इसका मुख्य कारण राजस्थान के अधिकांश भागों में पाई जाने वाली पानी की कमी हैं। वैसे मोटे रूप से देखा जाय तो राजस्थान की जमीन कृषि के लिये अनुपयोगी नहीं कही जा सकती, किंतु कृषि की सफलता व विफलता को सदैव ही वर्षा की मात्रा के संकड़े मार्ग से गुजरना पड़ता है। वार्षिक वर्षा का औसत १५" है यद्यपि जैसलमेर जैसे प्रदेशों में वर्ष भर में ५" से अधिक वर्षा नहीं हो पाती। सिंचाई की सुविधा की कमी के साथ ही कृषि सम्बंधी शिक्षा, भूमि की उर्वरता, ऋण सुविधा, उच्च जीवन स्तर, खाद व अच्छे बीजों आदि का अभाव भी निश्चय रूप से ऐसी समस्यायें हैं, जो राजस्थान में कृषि के पिछड़ेपन के लिए उत्तरदाई हैं। राजस्थान जमींदारों व जागीरदारों के अत्याचारों के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध रहा है, जिनके कारण भी हमारी कृषि उन्नति नहीं कर सकी। यहां के किसानों को जीविकोपार्जन के लिए काफी संघर्ष करना पड़ता है। फलतः वे परिश्रमी एवं सशक्त बन गये हैं।

सन् १९५२ तक राज्य में खाद्यान्नों की कमी रहती थी और प्रतिवर्ष ५०,००० से १,००,००० टन गेहूँ व चांवल का आयात किया जाता था। किंतु प्रथम पंचवर्षीय योजना के शीघ्रगामी परिणामों के कारण सन् १९५४ तक कृषि उत्पादन में काफी वृद्धि हुई। फलतः प्रथम योजना में निर्धारित लक्ष्य से २ लाख टन अधिक अन्न उत्पन्न हुआ। द्वितीय योजना के इन तीन वर्षों में भी कृषि उत्पादन का पर्याप्त विकास हुआ है। कुल मिलाकर अब राजस्थान 'अन्नाधिक्य वाला प्रदेश' बन गया है।

(i) सिचाई (Irrigation) :—राज्य में वर्षा की औसत कम व अनिश्चित है, अतः कृषि विकास के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों में सिंचाई सुविधाओं के विकास का महत्व बहुत ही है। राजस्थान में कुल जोती जानी वाली भूमि २५०–३०० लाख एकड़ है। इनमें से केवल १०% भूमि को सिंचाई के साधन उपलब्ध हैं और शेष भाग वर्षा के लिए प्रकृति की दया पर निर्भर हैं। दुर्भाग्यवश राजस्थान में बारहमासी नदी केवल एक चम्बल ही है, अधिकांश नदियां अरावली के पूर्व में पाई जाती हैं परन्तु इन नदियों में पानी वर्ष भर नहीं रहता और ऐसी स्थिति में सिंचाई का एकमात्र साधन वर्षा ही रह जाती है। इस कारण जमीन के उपजाऊ होते हुए भी सिंचाई की कमी के कारण उसकी उपजाऊपन का पूरा पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। प्रथम योजना की अवधि में ५.८० लाख एकड़ भूमि को सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध हुईं। वर्तमान योजना के अन्तर्गत मध्यम तथा बड़ी सिंचाई योजनाओं से १३.५६ लाख एकड़ और छोटे बन्धों, कूपों से २.६३ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई का लक्ष्य रखा गया है। भाखड़ा नांगल योजना, चम्बल योजना तथा राजस्थान नहर योजना द्वारा क्रमशः ५.७०, १४ तथा २६ लाख एकड़ भूमि की अतिरिक्त सिंचाई का लक्ष्य रखा गया है। इन योजनाओं की समाप्ति पर राजस्थान के अधिकांश भागों को सिंचन सुविधाएं उपलब्ध हो जायगीं।

(ii) सुधरे बीज (Improved Seeds) :—खाद्य उत्पादन की किस्म यहां अच्छे दर्जे की नहीं, अतः इस किस्म में अच्छाई लाने के उद्देश्य से राज्य सरकार गेहूं, जौ, गल्ले आदि के अच्छे बीजों का वितरण कर रही है। कुल मिलाकर राजस्थान में प्रतिवर्ष १० लाख मन बीजों की आवश्यकता

रहती है। शुद्ध बीजों के उत्पादन के लिए वर्तमान १५ विभागीय क्षेत्रों के अतिरिक्त ५६ खेतों को और शुरु किया जायगा तथा २१६ बीज गोदाम बनाये जायेंगे।

(iii) खाद तथा उर्वरक (Manares and Fertitizers :—

कृषि में खाद का महत्व बहुत अधिक है। वास्तव में खेतों की अधिक उत्पत्ति के लिए जितनी भूमि उपलब्ध है यदि उसमें अच्छी प्रकार से खाद दी जाय तो सम्भवतः केवल खाद के कारण १०–१५ प्रतिशत वृद्धि हो सकती है। गोबर, मूत्र तथा अन्य प्रकार की खादों की बढ़ी मात्रा में उपयोग व प्रचार के लिए एक विशेष योजना बनाई गई है। किंतु अभी तक राज्य की कृषि–भूमि को बहुत कम खाद मिल पा रहा है। द्वितीय योजना में हड्डी की खाद के दो नये कारखाने खोले जा रहे हैं। एक अनुमान के अनुसार सन् १९६०–६१ तक २५,००० टन अमोनियम सल्फेट की खपत होगी।

(iv) भूमि सुधार [Land RefOrms]:—

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त जमींदारी उन्मूलन राजस्थान के भूमि सुधारों में सबसे महत्वपूर्ण क्रांतिकारी कदम रहा है। किसान अपने खेतों के स्वयं मालिक हैं, अब उन्हें विश्वास है कि परिश्रम का पूरा लाभ उन्हीं को मिलेगा। इस कारण किसानों में कृषि उत्पादन वृद्धि के लिए विशेष जागरूकता उत्पन्न हो गई है। जिन क्षेत्रों में नई सिंचाई सुविधाओं का विस्तार किया जा रहा है—विशेषकर वहां नई जमीनों को जोतने की व्यवस्था की गई है। खेतों का उपविभाजन व उपखण्डन राजस्थान की दूसरी महत्वपूर्ण भूमि समस्या है। इसके लिए सरकार ने चकबंदी व खंडन विरोध एक्ट १९५९ में बनाया है। आर्थिक जोत–निर्धारण के प्रश्न पर भी विचार जारी है। इसके अतिरिक्त भूमि रक्षण के उपाय किये जा रहे हैं।

(v) कृषि में सहकारिता (Cooperation in Agriculture)–

अब यह लगभग निश्चत हो चुका है कि हमारी नई कृषि व्यवस्था का आधार सहकारिता ही होगी। राजस्थान का किसान ऋणभार से अत्यधिक दबा हुआ है, उसके लिए विपणन (Marketing), अच्छे बीज, औजार आदि के वितरण की सुविधाओं का अभाव है। इन सभी के लिए सहकारी आंदोलन

सबसे अच्छा उपाय है। इस समय (१९५९-६०) राजस्थान में १२,३६४ सहकारी-समितियां हैं, जिनमें से ७,२७४ कृषि साख एवं ५९२ अन्य कृषि सहकारी समितियां हैं, जिनकी कुल सदस्य संख्या लगभग ३,८०,००० है। किन्तु प्रदेश के सहकार-आंदोलन में कतिपय ऐसी कमियां हैं जिनसे यह पूर्ण अपेक्षित सेवा नहीं कर पा रहा है।

विकास की इस दिशा और इन प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप अब विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि निस्संदेह रूप से राजस्थान की कृषि का भविष्य उज्जवल है।

प्रश्नः—३ राजस्थान की पहली व दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं के बारे में आप क्या जानते हैं? लिखिये।

उत्तरः—प्रथम पंचवर्षीय योजनाः—जिस समय देश की पहली पंचवर्षीय योजना बनी उस समय राजस्थान अनेक उलझनों में फंसा हुआ था। उसके सामने सबसे बडी समस्या राज्य की भूतपूर्व रियासती इकाइयों के प्रशासकीय एक करण की थी। दूसरी प्रमुख समस्या वित्तीय संतुलन की थी, क्योंकि एकीकरण के पूर्व लगभग प्रत्येक रियासत के बजट में घाटा ही घाटा था। राज्य में कानून व व्यवस्था की स्थिति को बनाये रखने की समस्या थी। अतः जिस समय देश के अन्य राज्य अपनी अपनी पंचवर्षीय-योजना बनाने में व्यस्त थे, राजस्थान उसके निर्माण की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाया। परिणामस्वरुप हमारी पहली योजना नाम मात्र की योजना थी, केवल कुछ विभागीय-कार्यक्रमों को मिलाकर योजना का नाम दे दिया गया।

राजस्थान का पहली पंचवर्षीय योजना की कुछ निधि प्रारम्भ में तो केवल १५·२६ करोड रु० स्वीकृत हुई थी, किन्तु ज्यों ज्यों विकास कार्य बढ़ता गया, यह रकम बढती ही गई। अन्त में योजना समाप्ति तक कुल विनियोग ६४·६० करोड रु० था, जिसका विभिन्न मदों में वितरण इस प्रकार है:—

	करोड़ रु० में	प्रतिशत	भारत की पहली योजना में %
कृषि एवं सामुदायिक विकास	६·६३	१०	१५
सिंचाई	२९·८५	४७	
शक्ति	९·५८	१४	२८

उद्योग	०·५५	१	८
सडकें	६·२५	१०	२४
शिक्षा	४·९६	८	७
स्वास्थ्य	३·३२	५	६
पिछडे वर्गो का कल्याण	१·३४	२	१
अन्य	२·१२	३	११
योग	६४·६०	१००	१००

स्पष्ट है कि राजस्थान की पहली योजना का ढांचा राष्ट्रीय योजना के ढांचे से भिन्न नहीं था। हमारी पहली योजना कृषि-प्रधान थी। राजस्थान में कृषि का विशेष महत्व होने के कारण तुलनात्मक रूप से कृषि पर अधिक बल दिया गया। प्रथम योजना की हमारी अर्थ व्यवस्था पर प्रतिक्रिया संतोष-प्रद हुई। राजस्थान जो सन् १९५१ में खाद्यान्न की दृष्टि से दूसरों पर निर्भर था, सन् १९५४ तक न केवल आत्मनिर्भर हो गया वरन् लगभग २ लाख टन खाद्यान्न प्रतिवर्ष बाहर भेजने लगा। पहली योजना ने एक ऐसी भूमि तैयार की जिसके आधार पर दूसरी योजना का वृहत् महल खडा किया जा सका।

—:द्वितीय पंचवर्षीय योजना:—

१ अप्रैल १९५६ से राज्य की द्वितीय पंचवर्षीय योजना कार्यान्वित हो गई है। अजमेर राज्य को मिला देने पर इसके अन्तर्गत कुल १०५·२७ करोड रु० के विनियोग का आयोजन किया गया है। इसमें से १९५८-५९ तक के तीन वर्षों में ४९·१७ करोड रुपया व्यय हो चुका है। राजस्थान की दूसरी योजना का संक्षिप्त प्रारुप इस प्रकार है :—

	करोड रु० में	प्रतिशत	राष्ट्रीय प्रतिशत
कृषि एवं सामुदायिक विकास	१९·९०	१८	१२
सिंचाई एवं शक्ति	४५·३६	४२	१९
उद्योग	६·०४	६	१८
सडकें	९·४१	९	२९
शिक्षा	१०·५६	११	६
स्वास्थ्य	७·३९	७	६

परिगणित जाति कल्याण	२·७१	३	२
अन्य	४·२०	४	८
योग	१०५·२७	१००	१००

वैसे उद्योगों पर पहली योजना से अधिक बल दिया गया है, फिर भी कुल मिला कर राजस्थान की दूसरी योजना कृषि प्रधान ही है।

द्वितीय योजना में कतिपय कृषि पदार्थों के उत्पादन लक्ष्य इस प्रकार रखे गये हैं (संशोधित) :—

खाद्यान्न	८·१२ लाख टन
कपास	२·६ लाख टन
गन्ना	४२ हजार टन
तिल आदि	२ लाख टन

इस योजना की तीन वर्षीय प्रगति को दृष्टि बिंदु में रखते हुए कहा जा सकता है कि यह संतोषप्रद रूप से कार्य कर रही है। ऐसा अनुमान है कि १९६०–६१ में कृषि पदार्थों के उत्पादन के सभी लक्ष्य पूरे हो जायेंगे। १९६०-६१ में खाद्यान्न, कपास तथा तिल का उत्पादन क्रमशः ११ लाख टन, २·९ लाख गांठे व २·७ लाख टन होने का अनुमान हैं। यद्यपि १३·६ लाख एकड़ अतिरिक्त सिंचन का लक्ष्य पूरा न हो सकेगा, किंतु ९३ हजार की अतिरिक्त शक्ति उत्पादन के लक्ष्य के पूरे होने का अनुमान है। इस योजना के अन्तर्गत जयपुर, माखुपुरा (अजमेर) तथा भीलवाडा में क्रमशः 'इन्डस्ट्रियल स्टेट्स' स्थापित किये जायेगें।

प्रश्न ४ :—क्या आप राजस्थान में 'लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण' का समर्थन करते हैं? पक्ष समर्थन में तर्क दीजिये। अथवा 'लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण' से आप क्या समझते हैं? राजस्थान में इसके अभ्यास पर प्रकाश डालते हुए समझाइये।

उत्तर:—'जनतन्त्रात्मक योजनाबद्ध विकास' की किसी भी पद्धति के अन्तर्गत आर्थिक विकास का अर्थ 'जनता केलिए, जनता द्वारा तथा जनता का' आर्थिक कल्याण होता है। यदि हम विस्तृत दृष्टिकोण से विचार करें कि—वर्तमान युग की प्रमुख आर्थिक समस्या क्या है? 'अवसर की समानता के लिा

आयोजन' ताकि सभी की अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का समुचित प्रबंध हो सके। हमें लोकतन्त्रात्मक विकेंद्रीकरण (Democratic Decentralisation) पर भी इन्हीं दृष्टिबिंदुओं से विचार करना है।

एक परिचयः—यद्यपि प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण का सबसे पहला परीक्षण आंध्र के कुछ विकास-खंडों में किया गया था किंतु फिर भी (अ) द्वितीय पंचवर्षीय योजना के सुझावों तथा (आ) बलवंतराय मेहता कमेटी की सिफारिशों के आधार पर इसे अमल में लाने का श्रेय राजस्थान को ही है। यह योजना सन् १९५९ के 'राजस्थान पंचायत समिति व जिला परिषद् अधिनियम' के अन्तर्गत लागू की गई है और इसका उद्‌घाटन २ अक्टो० १९५९ को प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरु द्वारा किया गया। इस योजना का मुख्य उद्देश्य है—'लोगों को विकास कार्यों में भाग लेने की अभिरुचि व अवसर प्रदान करना।' इस योजना के तीन प्रमुख अंग हैं:— (i) पंचायत, (ii) पंचायत समिति और (iii) जिला परिषद्। ऐसा कहा जा सकता है कि ये एक के ऊपर तीन मंजिलें हैं जिनसे कुल मिलाकर लोकतंत्रात्मक विकेन्द्रीकरण का भवन तैयार होता है। तीनों संस्थाओं के कार्यों व कार्य-प्रणालियों का संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है:—

पंचायतः—हर गांव के लिए एक निर्वाचित पंचायत होगी। पंचायत की सदस्य संख्या ५ से १५ तक हो सकेगी। पंचायत का नियन्त्रण 'राजस्थान पंचायत एक्ट १९५३' के अन्तर्गत होता है। इस पंचायत का एक निर्वाचित सरपंच होगा। पीने के पानी की व्यवस्था, सफाई व स्वास्थ्य रक्षा-प्रबंध, कृषि-सुधार में योग, प्राईमरी-स्कूल का संचालन, लघु-सिंचन-कार्यों का इन्तजाम, सड़कों पर रोशनी का प्रबंध आदि एक पंचायत के प्रमुख वैधानिक कार्य होंगे। पंचायत अपना खर्च चलाने के लिए गांव के लोगों पर टैक्स लगा सकेगी। इनके अतिरिक्त पंचायत स्वेच्छा से कई कार्य कर सकेगी—रोगों की रोकथाम, सहकारिता-विस्तार, परिवार-नियोजन आदि। गांव के हर वयस्क को पंचायत के चुनाव में मत देने का हक होगा।

पंचायत समितिः—एक विकास खंड के क्षेत्र की सभी पंचायतों से मिलकर इस संस्था का निर्माण होगा। क्षेत्र के सभी सरपंच इसके सदस्य होंगे

नामजद सदस्य भी होंगे—जैसे–कृषि–निपुण, क्षेत्र से संसद व विधान सभा के सदस्य, परिगणित जाति के प्रतिनिधि, सहकारी समितियों के प्रतिनिधि आदि। विकास अधिकारी (B. D. O.) इस समिति का सचिव होगा तथा इसके अध्यक्ष व उपाध्यक्ष को क्रमशः प्रधान व उपप्रधान कहेगें। समिति के अधिकार क्षेत्र के विषय हैं—सामुदायिक विकास, कुटीर उद्योग, पशु-पालन, ग्रामीण-चिकित्सा व स्वास्थ्य, शिक्षा, सहकार, सांख्यिकि, वन, भवन-निर्माण, सार्वजनिक सम्पर्क आदि। समिति अपने क्षेत्र की सभी पंचायतों के वार्षिक बजट को स्वीकार करेगी।

जिला परिषद्:—यह सरकार और पंचायत समितियों के मध्य महत्वपूर्ण लड़ी का कार्य करती है। एक जिले की सभी पंचायत समितियों के प्रधान संसद एवं विधान-मंडल के सदस्य, तथा नामजद सदस्य मिलकर परिषद् का निर्माण करेगें। यह अपने क्षेत्र की पंचायत समितियों का नियंत्रण करेगी। इसके अध्यक्ष को प्रमुख कहेंगे तथा जिलाधीश (कलेक्टर) इसका सचिव होगा। इसे कई स्वायत-शासन अधिकार प्राप्त हैं।

इस समय राजस्थान में लगभग ३ लाख पंचायतें, २३२ पंचायत समितियां एवं २६ जिला परिषदें कार्य कर रही हैं।

आवश्यकता एवं लाभ:—"इस समय शक्ति के केन्द्र नई दिल्ली, बम्बई या बड़े शहर हैं। मैं इसे भारत के सात लाख गांवों में बांट दूंगा। तब इन सात लाख इकाइयों में स्वतः सहयोग होगा। उस सहयोग से वास्तविक स्वतन्त्रता उत्पन्न होगी और एक नई व्यवस्था आएगी, जो सोवियत रूस की नई व्यवस्था से कहीं ऊंचे दर्जे की होगी।"—महात्मा गांधी

वास्तव में राष्ट्रपिता गांधीजी का यही स्वप्न लोकतांत्रिक विकेन्द्रीयकरण या सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पक्ष है। पर प्रश्न उठता है विकेन्द्रीकरण ही क्यों? इसका सबसे सीधा उत्तर है केन्द्रियकरण (Centralisation) अत्यंत खर्चीलो, अदक्ष एवं अनुपयुक्त पद्धति है और विशेषतः प्रजातन्त्र देशों के लिए उपयुक्त नहीं। प्रथम, दिल्ली या जयपुर में बैठकर गांव वालों की आवश्यकताओं का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता, न उनके प्रति वास्तविक सहानुभूति ही उत्पन्न की जा सकती है। द्वितीय, छोटी छोटी बातों

के लिए दूर स्थान पर योजनाएं बनाने व कार्यान्वित करने में खर्चा भी बहुत ज्यादा पड़ता है व अनपेक्षित देरी भी लगजाया करती है। तृतीय और सबसे महत्वपूर्ण हानि केंद्रीयकरण से यह है कि इसके होने से जनसाधारण में राष्ट्रीय विकास कार्यों के प्रति आन्तरिक अभिरुचि उत्पन्न नहीं हो सकती और बिना जन-सहयोग के किसी विकास की कल्पना अर्थहीन है। अतएव व्यवहार में लोकतन्त्रात्मक विकेंद्रीकरण के तीन प्रमुख लाभ हैं—

(अ) स्थानीय आवश्यकताओं की वास्तविक अनुभूति।

(आ) खर्च एवं समय में बचत तथा,

(इ) जनसाधारण में विकास के प्रति अभिरुचि।

इसके अलावा इसके अन्तर्गत स्थानीय स्रोतों के पूरे पूरे सदुपयोग की संभावनाएं बढ जाती हैं।

किंतु लोकतन्त्रात्मक विकेंद्रीकरण के विरुद्ध दो प्रमुख आशंकाएं प्रस्तुत की जाती हैं। पहली, गांव के लोग पढ़े-लिखे नहीं हैं। क्या वे इस तन्त्र को जमा सकेगें ? चला सकेगें ? दूसरी, शासन और समाज में फैली बुरी आदतें क्या रास्ते में नहीं आएंगी ? ऐसा कहा जाता है कि इनके कारण विकेन्द्रीकरण से प्राप्त होने वाले सभी काम असफल हो जाते हैं। वास्तव में, जैसे कि योजना के अल्पकालीन व्यवहार से पुष्टि मिलती है, इन शकाओं में एक अंश तक सचाई है। किंतु ये सभी प्रारंभिक कठिनाइयां हैं। गांव वालों की— हमारी—गलतियां स्वयं सबक होंगी और विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त व व्यवहार दोनों में हम शनैः शनैः पारंगत हो जायेगें, तब ये आशंकाएं निर्मूल हो जायेंगी। योजना से अपेक्षित लाभों का वर्णन राज्यपाल श्री गुरुमुख निहालसिंह ने अत्यन्त सुन्दर शब्दों में इस प्रकार किया है—

"यह आशा की जाती है कि ज्यादा लोगों को शासन व्यवस्था में भाग लेने से उनमें ज्यादा सूझ व सहयोग उत्पन्न होगा जिससे विभिन्न राष्ट्र-निर्माणकारी योजनाओं में प्रगति होगी। इन विकास योजनाओं को हमें मितव्ययता व शीघ्रता से पूरा करनो है।"

प्रश्न ५ :—यदि आपको राजस्थान की तृतीय योजना बनाने को कहा जाय तो आप क्या सुझाव देगें ? संक्षेप में विवेचना कीजिये।

उत्तरः—किसी भी प्रदेश के लिए कोई भी योजना करते समय उस
त्र में पूर्वानुभव भविष्य की योजना के लिए आधार बनने चाहिए। इसी
चार से जबतक द्वितीय पंचवर्षीय योजना के विश्लेषित परिणाम सामने नहीं
जाते, तीसरी योजना के बारे में वैज्ञानिक विचार कठिन ही हैं। फिर भी
े रूप में इस पर विचार किया जा सकता है।

पृष्ठभूमि व उद्देश्यः– सन् १६५१ में राजस्थान की जनसंख्या
१'६७ मिलियन थी, अनुमानतः सन १६६१ में यही बढ़कर १६'६३ मिलियन
जायगी। इसमें से काम करने योग्य जनसंख्या को पूर्ण रोजगार देने के
ए ग्रामीण क्षेत्रों में १'२६ लाख व शहरी क्षेत्रों में २६ हजार कार्यों (Jobs)
तीसरी योजना में प्रतिवर्ष प्रबंध करना पड़ेगा। साथ ही तीसरी योजना
सिंचाई सुविधाओं के विस्तार का पूरा प्रबन्ध करना होगा, क्योंकि चम्बल
राजस्थान नहर योजना के मुख्य लाभ इसी अवधि में प्राप्त हो सकेगें।
सिंचित क्षेत्रों में पुनर्वास की सुविधाएं जुटाना भी एक समस्या है, उस
भी पूरा ध्यान दिया जाना जरूरी है। उद्योग, यातायात व संचार तथा
ाज-सेवाओं के विस्तार पर और बड़े पैमाने पर प्रयत्नों की आवश्यकता
सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि राजस्थान में प्रति व्यक्ति औसत आय
१६५१ में २३२ रु० थी, यद्यपि यह सन १६६१ तक बढ़कर ३३५ रु०
जायगी, किन्तु फिर भी पंजाब, दिल्ली एवं अन्य क्षेत्रों की प्रति व्यक्ति
त-आय से बहुत कम होगी। अतएव जीवनस्तर को ऊंचा उठाने के लिए
जरूरी हो जाता है कि लोगों की आमदनी बढ़ाने के प्रयत्न किये जांय।
विवेचना को मध्य नजर रखते हुए राजस्थान की तीसरी योजना के उद्देश्य
न होंगेः—

(अ) प्रति व्यक्ति औसत आय में पर्याप्त वृद्धि।
(आ) पूर्ण रोजगार का प्रबन्ध।
(इ) कृषि की उन्नति द्वारा 'समृद्धि की अर्थ व्यवस्था का निर्माण'।
(ई) उद्योगों व समाज-सेवाओं का विस्तार।

प्रस्तावित प्रारूपः—इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए राजस्थान

सरकार के योजना विभाग ने तीसरी योजना का जो प्रारुप प्रस्तावित किया है, वह इस प्रकार है:—

	करोड़ रु० में
कृषि एवं सामुदायिक विकास	५१.७६
सिंचन एवं शक्ति	८७.००
उद्योग व खनिज	११.००
यातायात व संदेश वाहन	३५.२०
समाज सेवाएं	९१.३२
अन्य	३.००
योग	२७९.२८

सिंचाई योजना के अन्तर्गत राजस्थान नहर एवं व्यास बांध के निर्माण का व्यय भी शामिल है। लगभग २७९ करोड रु० की इस योजना में राजस्थान सरकार द्वारा ९८.८४ करोड़ रु० खर्च किये जाने का प्रस्ताव है, शेष केंद्रीय सरकार दे। राजस्थान नहर का राष्ट्रीय महत्व है अतएव इसे केंद्र की योजनाके अन्तर्गत सम्मिलित किया जाना चाहिये और इसके व्यय का पूरा भार सारे देश पर हो, राजस्थान पर ही नहीं। देश भर की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए राजस्थान की २७९ करोड़ रु० को तीसरी योजना स्वीकृत हो सकेगी, इसमें संदेह है। योजना का अन्तिम आकार लगभग २०० करोड़ रु० का होगा, ऐसा अनुमान है।

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण व सहकारिता:—२ अक्टूबर सन १९५९ से राजस्थान में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना लागू कर दी है। इसके साथ ही योजना निर्माताओं के उत्तरदायित्व भी बंट जाते है। यह ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि तीसरी पंचवर्षीय योजना लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण की योजना को बढावा दे सके। पंचायतों व पंचायत समितियों को योजना निर्माण एवं व्यवहार में पूरा पूरा हिस्सा प्राप्त होना चाहिए। साथ ही देश ने सहकार को लगभग कृषि अर्थ व्यवस्थाका आधार मान लिया है। वास्तव में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण तथा सहकार दोनों एक दूसरे के सहायक हैं। तीसरी योजना में सहकारी खेती व अन्य सहकार आयोजनाओं को विशेष हिस्सा मिलना चाहिये। शहरों में भी सहकारिता अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होती है।

कृषि को प्राथमिकता:—राजस्थान की तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि प्राथमिक उद्योग होगा और अन्य औद्योगिकरण इसके वाद में होगा। राजस्थान के विकास के संबन्ध में एक तथ्य महत्वपूर्ण है। यह स्मरण रखा जाना चाहिये कि राजस्थान का औद्योगिक विकास आवश्यक रूप से कृषि से सम्बन्धित हैं। उद्योगों के लिए कच्चे माल व सस्ते शक्ति के साधनों की विशेष रूप से आवश्यकता पड़ती है। सस्ती जल-विद्युत उन बहुमुखी परियोजनाओं से प्राप्त होगी जो प्रारम्भ में राज्य में कृषि योग्य भूमि की सिंचाई के लिए आरम्भ की गई हैं। इस प्रकार राज्य में औद्योगिक विकास यहां की कृषि की उन्नति पर निर्भर करेगा। अनुमान है कि कृषि क्षेत्र में २० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि में कृषि आरंभ होगी जिससे १५ लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्नों का उत्पादन हो सकेगा।

रेगिस्तानी क्षेत्र, बुनियादी उद्योग एवं समाज-सेवाएं:—राजस्थान के लिए कोई भी योजना अवास्तविक एवं अपूर्ण होगी यदि इसके पश्चिम में लगभग ७ हजार वर्ग मील के मरुस्थलीय विभाग की ओर ध्यान नहीं दिया जाय। साथ ही बुनियादी उद्योगों के बिना हमारे औद्योगिकरण की गति मंद हो सकती है। किंतु आरम्भ में बुनियादी उद्योगों के लिए राजस्थान को निजी क्षेत्र पर ही निर्भर रहना पडेगा। इसके लिए निजी क्षेत्र को पर्याप्त सुविधाएं दी जाय। साथ ही जन साधारण को अच्छे नागरिक जीवन की आवश्यक सुविधाएं योजना न दे सके तो जनतन्त्र में लोगों के लिए अधिक महत्व की वस्तु नहीं होती। अतएव समाज-सेवाओं के पर्याप्त विकास पर भी बल दिया जाय।

राजस्थान की तीसरी पंचवर्षीय योजना प्रदेश की समृद्धि के लिये महत्वपूर्ण आवाहन होगी।

INDIA

1962

&

(KNOW YOUR RAJASTHAN)

AT

A

GLANCE

हमारा सुझाव

परीक्षा में

अच्छे अंक प्राप्त करने के लिए

नवीनतम आंकड़ों को

याद रखिए।

श्री माहेश्वरी प्रिंटिंग प्रेस, दीनानाथजी
का रास्ता, जयपुर।

मुख्य उद्योगों की तालिका

उद्योग	केन्द्र
१. वस्त्र उद्योग	बम्बई, अहमदाबाद, सूरत, भड़ोंच, नवसारी, शोलापुर, कानपुर, दिल्ली, कलकत्ता, इन्दौर, व्यावर, बड़ौदा, राजस्थान में—भीलवाड़ा, किशनगढ़ व्यावर।
२. लोहा	कुल्टी, बरनपुर, जमशेदपुर, रूरकेला, भिलाई, दुर्गापुर, मैसूर।
३. जूट	कलकत्ता, डालमियां नगर, कानपुर।
४. कागज	जगाधरी, सहारनपुर, लखनऊ, टीटागढ़, राजमहेन्द्री, नेपा नगर आदि।
५. चमड़ा	कानपुर, आगरा, मद्रास, फरीदाबाद, बाटा नगर।
६. रासायनिक उद्योग	कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, हैदराबाद, कानपुर दिल्ली।
७. वैजीटेबिल तेल	दिल्ली, बम्बई, गाजियाबाद, कानपुर, मोदीनगर, अकोला, भीरग।
८. शक्कर (चीनी)	कानपुर, पीलीभीत, मुजफ्फरनगर, मेरठ, बरेली, वेलापुर, गंगानगर, भूपाल, सागर।
९. सीमेंट	कटनी, लाखेरी, डालमियां नगर, सवाई माधोपुर, चुर्क, रोहितासगढ़, द्वारका।
१०. यन्त्र (साइकिल) (सिलाई मशीन)	जलन्धर, दिल्ली, सोनीपत, कानपुर (कृषि यन्त्र), लखनऊ (प्रिसाइजन इंस्ट्रुमेन्ट्स), बम्बई, कलकत्ता, जयपुर (बाल बियरिंग तथा रोलिंग मिल)। ग्वालियर, राजपुरा (पंजाब), पूना, बम्बई।
११. कन्फैक्शनरी (बिस्कुट आदि)	कलकत्ता, बम्बई, मद्रास।
१२. मोटर उद्योग	
१३. जलयान	विजगापट्टम, कोचिन (तीसरी होने की योजना)।

१४. रेल्वे इंजिन (वेगन फैक्ट्री)	चितरंजन, जमालपुर, अजमेर, भरतपुर. पेरनाम्बूर।
१५. हवाई जहाज	बंगलौर।
१६. कांच (शीशा)	दिल्ली, अम्बाला, सासनी, फिरोजाबाद, शिकहोबाद, बिरम गांव, बालाबाली, बहजोई आदि।
१७. पॉट्रीज	ग्वालियर, आगरा, खुर्जा, कलकत्ता, मुंगेर।
१८. विद्युत उद्योग	बड़ौदा, बम्बई, पूना, बोलकार्ट बाडी, दिल्ली, जयपुर, कलकत्ता, भोपाल (भारी विद्युत का कारखाना)।
१९. मुद्रा	अलीपुर मिन्ट।
२०. तेल (तिलहन)	अलीगढ़, भरतपुर, आगरा, खुर्जा, शिकोबाद, जयपुर आदि।
२१. रेयन, कृत्रिम रेशम	बम्बई, अहमदाबाद, बंगलौर, मद्रास, ग्वालियर, दिल्ली, मोदीनगर।
२२ माचिस	बरेली, अहमदाबाद, कोटा, केरल प्रान्त, पीलीभीत।
२३ ऊन उद्योग	ब्यावर, श्रीनगर, अमृतसर, धारीवाल, कानपुर, मिर्जापुर, बम्बई बंगलौर हैं। पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, मैसूर में, पश्चिमी बंगाल, सौराष्ट्र, हरतौर हैं। ऊपर के बड़े कारखाने ऊनी वस्त्र के, नीचे के कुटीर उद्योग सुनो और हैं। लुधियाना, श्रीनगर, और शाहजहांपुर, आगरा, मिर्जापुर और बीकानेर हैं।

कुटीर उद्योग

वस्त्र—मेरठ, मदुरा, कोइम्बटूर, गोरखपुर, इटावा, कासगंज, सांगानेर, बम्बई, गोविन्दगढ़।

शक्कर—कासगंज, देवरिया, मेरठ, रसरा।

रेशम—बनारस, श्रीनगर, भागलपुर, इटावा।

खेल का सामान—मेरठ।

तेल उद्योग—कानपुर, आगरा, अलीगढ़, हापुड़, गाजियाबाद, सीतापुर, चन्दोसी, इलाहाबाद, हाथरस, मोदीनगर।

चर्म उद्योग—कानपुर व आगरा।

कुटीर उद्योगों के पिछड़े होने के कारण :—(१) छोटे यंत्रों की कमी (२) पूंजी की कमी (३) कुशलता की कमी (४) बाजार का न होना (५) मशीन के बड़े उत्पादन से स्पर्धा (६) रुचि का न होना (७) शक्ति के साधन न होना।

कृषि उद्योग की तालिका

नाम वस्तु	बोते समय तापक्रम	काटते समय-तापक्रम	मिट्टी अथवा भूमि	फसल तैयार होने का समय	उपज के प्रान्त
गेहूँ	५०° से ५० फ० वर्षा ३०"	६५°–७०°फ० से ४०"	बुलई दोमट	१५० दिन	पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बम्बई आदि
चावल	७०°–८०°फ० वर्षा ४०"	८०°फ० से ६५"	दलदली या कछारी	१०० दिन	बंगाल, बिहार, मद्रास, केरल, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा आदि।
मक्का	७०°–८०°फ० वर्षा २५"	८०°फ० से ३०"	साधारण	९० दिन	समस्त उत्तर भारत (पंजाब, उत्तर प्रदेश राजस्थान)।
ज्वार बाजरा	७०°–८०°फ० वर्षा २०"	७८°फ० से ३०"	साधारण	९० दिन	पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, महागुजरात, मध्य प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश आदि।
गन्ना	६५°–७०°फ० वर्षा ५०"	६०°–६५°फ० से ६०"	गहरी कछारी मिट्टी	२०० दिन	उत्तरप्रदेश, पूर्वी पंजाब, बिहार, बंगाल, मैसूर, बम्बई, केरल, उड़ीसा, आ. प्रदेश, राजस्थान,
चाय	५४°फ० वर्षा ६०"	८०°फ० से ८०"	ढालू उपजाऊ भूमि	प्रति वर्ष ३ अवधि ३ वर्ष	आसाम, बंगाल, उत्तर प्रदेश, पूर्वीपंजाब, हिमालय की तराई, नीलगिरी पहाड़ियां।
कहवा	६०° से वर्षा ६०"	८०°फ० से ८०"	ढालदार उपजाऊ भूमि	६ वर्ष	नीलगिरी की पहाड़ियां, मैसूर, केरल।
तम्बाकू	६५° से	७०°फ०	[illegible] युक्त भूमि	४ माह	मद्रास, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बम्बई, केरल, आन्ध्र प्रदेश।
कपास	७०° से वर्षा २०"	७५°फ० से ३०"	काली मिट्टी [illegible] युक्त	१५० से २०० दिन	पंजाब मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, महागुजरात, महाराष्ट्र।
जूट	७०° से वर्षा ४०"	८०°–९०°फ० से ८०"	कछारी भूमि या [illegible]	१२० दिन	बंगाल, आसाम, (ब्रह्मपुत्र की घाटी), बिहार उत्तर प्रदेश।
	गेहूं ज्वार बाजरा	बाजरा के	समान		गेहूं, ज्वार, बाजरा के प्रदेश।

निर्यात (EXPORT)—व्यापार की वस्तुएं व देश

देश	वस्तु (Commodity)	विशेष
पाकिस्तान	कोयला, सूती कपड़ा, सूत, रासायनिक पदार्थ, पटसन की वस्तुएं टायर-ट्यूब, जूते व चमड़ा, इस्पात, सीमेन्ट आदि।	१९५१ की संधि के अनुसार व्यापारिक सन्धियां
बर्मा	सूती कपड़े, पटसन की वस्तुएं, लोहा, इस्पात, चीनी, चाय, कोयला आदि।	
	दालें, फल, सब्जी, मिर्च, खली, खाद आदि।	भारत ने चैकोस्लोवाकिया, जर्मनी, हंगरी, मिश्र, फिनलैण्ड, जापान, पाकिस्तान, पोलैंड, रूस और यूगोस्लेविया आदि से की हैं। जिनके अनुसार भारत इन देशों को निर्यात करेगा तथा इन देशों से वैज्ञानिक वस्तुएं, अखबारी कागज, मशीनें आदि उपलब्ध कर सकेगा।
	कच्चा लोहा, कपास, मेगनीज, पटसन (वस्तुएं तथा कच्चा) अभ्रक, चमड़ा।	
	तिलहन, मसाले, चमड़ा, मेगनीज, चन्दन का तेल, अभ्रक, लाख, गोंद, मैगनीज, टाई आक्साइड, पटसन व उसका रेशा, नारियल का रेशा, ऊन, सुअर के बाल।	
	पटसन, चमड़ा, चपड़ा, लाख, पटसन की वस्तुएं, दरी, कालीन, ऊन, फर (Fur), अभ्रक, सिलाई की मशीन।	
	चाय, तम्बाकू, खनिज (कोयला के अतिरिक्त), कपास, ऊन व ऊनी निवड़े, मैंगनीज, गोंद, चर्बी, चमड़ा, ऊनी वस्त्र, ऊन, नारियल का रेशा, चटाई, पटसन की वस्तुएं, चमड़े की वस्तुएं।	

आयात की वस्तुएं व देश

देश	वस्तुएं
ग्रेट ब्रिटेन	मशीनें, इंजिन, जहाज, लोहा व इस्पात की वस्तुएं, क्राकरीज, कटलरी, विद्युत का सामान, सूती वस्त्र, ऊन व ऊनी सामान, रेशमी वस्त्र, रासायनिक पदार्थ, औषधियां, कागज, दफ्ती आदि।
पाकिस्तान	कपास, पटसन, खालें, चमड़ा, अनाज।
बर्मा	चावल, खनिज, तेल (पैट्रोलियम), सागौन की लकड़ी।
लंका	नारियल, गिरी, नारियल का तेल, चाय।
जापान	खिलौने, मशीनरी, सूती, रेशमी, कृत्रिम रेशमी वस्त्र, शीशे के बर्तन, रासायनिक पदार्थ, कागज, स्टेशनरी (लिखने पढ़ने का सामान), रबड़ की वस्तुएं विद्युत यंत्र।
पश्चिमी जर्मनी	रासायनिक पदार्थ, औषधियां, शीशे [कांच] का सामान, मशीनें, धातु की वस्तुएं, वैज्ञानिक एवं डाक्टरी उपकरण
संयुक्त राज्य अमेरिका	गेहूं खाद्य पदार्थ, खनिज, तेल, कपास, सूती वस्त्र

भारत के अन्य ग्राहक :—ईरान, अरब, ईराक, अफगानिस्तान, पूर्वीद्वीप समूह, अफ्रीका के देश।

भारत का सीमावर्ती ... [illegible]ार :—पाकिस्तान, तिब्बत, नेपाल और चीन [स्थल मार्गों द्वारा]।

(१) निर्यात :—सूती कपड़े, चीनी, चमड़े का सामान, चाय, रेशमी कपड़ा, लोहा व इस्पात की वस्तुएं, नमक आदि।

(२ आयात:—अनाज, पटसन, फल, ऊन, जिन्दा जानवर, कच्चा रेशम।

भारत का पुर्ननिर्यात व्यापार:—कीनिया, पूर्वी अफ्रीका, जापान स्टेट्स, सेटलमेन्ट्स और चीन आदि देशों को होता है।

पुर्ननिर्यात के पदार्थ:—कपास, रासायनिक पदार्थ, मशीनें, खनिज व धातु।

कुछ व्यापारिक आंकड़े

(१) राजस्थान में भेड़ तथा ऊन:—

१. राजस्थान में भेड़ों की संख्या	७३,७२,८०५
२. भेडों का निर्यात	४,५०,०००
३. ऊन का कुल उत्पादन	२९½ लाख पौंड
४. प्रति वर्ष ऊन का निर्यात	२०,००,००० पौंड
५. भारत के ऊन उत्पादन में प्रतिशत	४५%
६. उत्पादित ऊन का मूल्य ३ रु० प्रति पौंड की दर से	८८·५ लाख रु०

रंग और वारनिश का उत्पादन:—

१९५५ में ३९०३६ टन, १९५६ में ४१४२४ टन, १९५७ में ४२२७६ टन

भारत का कहवा का व्यापार— १९५८–५९

उत्पादन	४५,००० टन कहवा
व्यापार	५·५७ करोड़ रुपये

१९५९–६० का अनुमानित उत्पादन ५०,००० टन

कांच की चद्दरों का उत्पादन—

१९५७ में ५·४० करोड़ वर्ग फीट, १९५८ में ७ करोड़ वर्ग फीट

भारत का बीड़ी व्यापार—

ग्राहक:—लंका, सिंगापुर, मलाया।

व्यापार १९५९ में १.५ लाख रु०, उत्पादन ३०, ४९, ४८१ पौंड बीड़ी

भारत:—पाकिस्तान का १९५८-५९ का व्यापार

भारत के पक्ष में १९·०१ लाख रु०

पाकिस्तान के पक्ष में ९·९१ लाख रु०

भारत का चाय उत्पादन—१९५७ में कुल ... ६७,५६,३०,००० पौंड
प्रान्तों के अनुसार:—

१. आसाम	३५,४५,४०,००० पौंड
२. पश्चिमी बंगाल	१६,६६,४०,००० पौंड
३. केरल	७,६९,६०,००० पौंड
४. मद्रास	६,४४,७०,००० पौंड
५. मैसूर	३५,३०,००० पौंड
६. पंजाब, उत्तर प्रदेश	२४,३०,००० पौंड

भारत के राजनैतिक विभाग

१९५६	राजधानी	१९६०
१. आन्ध्र प्रदेश	हैदराबाद	१. आन्ध्रप्रदेश
२. आसाम	शिलांग	२. आसाम
३. बिहार	पटना	३. बिहार
४. बम्बई	बम्बई	४. गुजरात
५. केरल	ट्रिवेन्डर्म	५. महाराष्ट्र (बम्बई राजधानी)
६. मध्य प्रदेश	भूपाल	६. जम्मू काश्मीर
७. जम्मू काश्मीर	श्रीनगर	७. केरल
८. मद्रास	मद्रास	८. मध्यप्रदेश
९. मैसूर	मैसूर	९. मद्रास
१०. उड़ीसा	भुवनेश्वर	१०. मैसूर
११. राजस्थान	जयपुर	११. उड़ीसा
१२. पंजाब	चंडीगढ	१२. पंजाब
१३. उत्तर प्रदेश	लखनऊ	१३. उत्तर प्रदेश
१४. पश्चिमी बंगाल	कलकत्ता	१४. पश्चिमी बंगाल
		१५. राजस्थान
		१६. नागालैंड

प्रेसीडेन्ट द्वारा शासित:—दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, ...मन, नीकोबार।

राजस्थान के प्रमुख उद्योग

उद्योग	स्थान
सूती कपड़े के मिल	ब्यावर, भीलवाड़ा, किशनगढ़, जयपुर, गंगानगर, कोटा, पाली ।
सीमेंट	लाखेरी, सवाई माधोपुर ।
काच	जयपुर, भरतपुर, जोधपुर, बीकानेर, कोटा, उदयपुर ।
बाल बेयरिंग	जयपुर ।
विद्युत मीटर	जयपुर ।
हड्डी पीसने के कारखाने	जयपुर, जोधपुर, पचाना, कोटा, गोगुन्दा (उदयपुर) ।
रोलिंग मिल तथा गृह निर्माण की लोहे की सामग्री	जयपुर ।
दियासलाई	कोटा, धौलपुर, फतेहगढ़ ।

प्रति व्यक्ति आय

रुपयों में

वर्ष	१९५२–५३ के मूल्यों पर	१९४८–४९ के मूल्यों पर
१९५०	२५९.६	२४८.४
१९५१	२६३.६	२५२.१
१९५२	२६७.५	२५७.७
१९५३	२८१.०	२६८.६
१९५४	२८१.९	२७१.१
१९५५	२८३.२	२७१.८
१९५६	२९२.१	२८०.६
१९५७	२८३.६	२७५.४
१९५८	२९९.१	२८७.७
१९५९	२९५.२	२८४.०

भारत का चाय उत्पादन—१९५७ में कुल ६७,५६,३०,००० पौंड

प्रान्तों के अनुसार:—

१. आसाम	३५,४५,४०,००० पौंड
२. पश्चिमी बंगाल	१६,६६,४०,००० पौंड
३. केरल	७,६९,६०,००० पौंड
४. मद्रास	६,४४,७०,००० पौंड
५. मैसूर	३५,३०,००० पौंड
६. पंजाब, उत्तर प्रदेश	२४,३०,००० पौंड

भारत के राजनैतिक विभाग

१९५६	राजधानी	१९६०
१. आन्ध्र प्रदेश	हैदराबाद	१. आन्ध्रप्रदेश
२. आसाम	शिलांग	२. आसाम
३. बिहार	पटना	३. बिहार
४. बम्बई	बम्बई	४. गुजरात
५. केरल	ट्रिवेन्डर्म	५. महाराष्ट्र (बम्बई राजधानी)
६. मध्य प्रदेश	भूपाल	
७. जम्मू काश्मीर	श्रीनगर	६. जम्मू काश्मीर
८. मद्रास	मद्रास	७. केरल
९. मैसूर	मैसूर	८. मध्यप्रदेश
१०. उड़ीसा	भुवनेश्वर	९. मद्रास
११. राजस्थान	जयपुर	१०. मैसूर
१२. पंजाब	चंडीगढ	११. उड़ीसा
१३. उत्तर प्रदेश	लखनऊ	१२. पंजाब
१४. पश्चिमी बंगाल	कलकत्ता	१३. उत्तर प्रदेश
		१४. पश्चिमी-बंगाल
		१५. राजस्थान
		१६. नागालैंड

प्रेसीडेन्ट द्वारा शासित:—दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, अण्डमन, नीकोबार।

राजस्थान के प्रमुख उद्योग

उद्योग	स्थल
सूती कपड़े के मिल	ब्यावर, भीलवाड़ा, किशनगढ़, जयपुर, गंगानगर, कोटा, पाली।
सीमेंट	लाखेरी, सवाई माधोपुर।
काच	जयपुर, भरतपुर, जोधपुर, बीकानेर, कोटा, उदयपुर।
बाल बेयरिंग	जयपुर।
विद्युत मीटर	जयपुर।
हड्डी पीसने के कारखाने	जयपुर, जोधपुर, पचाना, कोटा, गोगुन्दा (उदयपुर)।
रोलिंग मिल तथा गृह निर्माण की लोहे की सामग्री	जयपुर।
दियासलाई	कोटा, धौलपुर, फतेहगढ़।

प्रति व्यक्ति आय

रुपयों में

वर्ष	१९५२–५३ के मूल्यों पर	१९४८–४९ के मूल्यों पर
१९५०	२५९.६	२४८.४
१९५१	२६३.६	२५२.१
१९५२	२६७.५	२५३.७
१९५३	२८१.०	२६८.६
१९५४	२८१.९	२७१.१
१९५५	२८३.२	२७१.८
१९५६	२९२.१	२८०.६
१९५७	२८३.६	२७५.४
१९५८	२९९.१	२८७.
१९५९	२९५.२	२८

नये राजस्थान का निर्माण

सदियों से सोए हुए राजस्थान ने फिर से अंगड़ाई ली है। जनता की खुशहाली और राज्य की समृद्धि के लिए बड़े बड़े कार्य हो रहे हैं। राजस्थान नहर, चम्बल, भाखड़ा आदि परियोजनायें चल रही हैं। नये-नये कल-कारखाने स्थापित किये जा रहे हैं। शिक्षा, चिकित्सा, सड़कें, विद्युत् शक्ति, स्वास्थ्य सभी दिशाओं में प्रगति हो रही है। कल का अन्न की कमी वाला राजस्थान आज आत्मनिर्भर है। १९५०-५१ में प्रति व्यक्ति औसत आय २३२ रुपया आंकी गई थी और मार्च ६१ तक इसके ३३२ रुपये तक बढ़ जाने की निश्चित संभावना है। राज्य की पहली योजना ६४ करोड़ ५० लाख की थी, दूसरी योजना १५० करोड़ रुपये की है। योजना की प्रगति देखते हुए १९६०-६१ के अन्त तक लगभग १०१.५ करोड़ रुपया व्यय होने की आशा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्य खुशहाली की ओर बढ़ रहा है।

कुछ विकास कार्य-क्रम

राजस्थान सरकार प्राप्त रकम का उपयोग सिंचाई, विद्युत्शक्ति, सड़कें, शिक्षा और चिकित्सा व जन-स्वास्थ्य से सम्बन्धित विकास कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने में करेगी। दूसरी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इन क्षेत्रों में हुई प्रगति इस प्रकार है :—

(१) सिंचाई—राजस्थान में सिंचाई के साधनों का बहुत महत्व है। रेगिस्तानी क्षेत्रों में पानी की सुलभता का अर्थ है—लहलहाती भरपूर फसलें। यह आशा है कि योजना कार्यों के फलस्वरूप १९५६-६१ की अवधि में खुल सिंचाई ३३.३५ लाख एकड़ से बढ़कर ४३ लाख एकड़ में होने लगेगी। इसके अलावा राजस्थान नहर परियोजना का कार्य भी जो कि १९५८ में प्रारम्भ किया गया था, पूरी रफ्तार पर होगा। राजस्थान नहर परियोजना पूरी हो जाने पर ६८ लाख एकड़ के सफल सिंचन क्षेत्र से करीब ४६ लाख एकड़ में सिंचाई होने लगेगी। इसके अतिरिक्त, सिंचाई निर्माण कार्यों के विकास से, जो कि १९६०-६ के अन्त तक पूरा होगा तीसरी योजना की अवधि में लगभग ११-१२ लाख एकड़ भूमि सींची जा सकेगी। १९६०-६१ के अन्त तक ११-१२ लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्न उत्पादन होगा।

(२) विद्युत् शक्ति— औद्योगिक विकास एवं नागरिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए विद्युत् शक्ति का विकास आवश्यक है। राजस्थान के औद्योगिक क्षेत्र में पिछड़े रहने का एक सबसे बड़ा कारण पर्याप्त मात्रा में विद्युत शक्ति का नही मिलना रहा है। यह आशा की जाती है कि योजना के अन्तर्गत कार्यकलापों के फलस्वरूप और विद्यमान बिजली घरों के विस्तार एवं नवीकरण से अधिष्ठपति क्षमता १९५५–५६ में ३४९०० किलोवाट के मुकाबले में बढ़कर लगभग १·२५ लाख किलोवाट हो जायेगी। इस अधिष्ठपति क्षमता में से लगभग ६२,४३६ किलोवाट बिजली भाखरा तथा चम्बल परियोजनाओं की जल विद्युत की सप्लाई से और शेष थरमल तथा डीजल प्लांट्स से जो १९६१ तक चालू होंगे, प्राप्त होगी। बिजली की सप्लाई में और आगे वृद्धि भाखरा परियोजना के राइट बैंक जैनेरेटिंग सैंटस से तथा चम्बल परियोजना के दूसरे चरण के प्रोग्राम के फलस्वरूप होगी।

(३) सड़कें—सड़कें देश के नाड़ी संस्थान हैं। सड़कों द्वारा राज्य के प्रत्येक भाग में सम्बन्ध स्थापित करने की योजनायें द्रुतगति से प्रगति कर रही हैं। आशा की जाती है कि द्वितीय योजना काल के अन्त तक ४,१४२ मील लम्बी नई सड़के बनाई अथवा सुधारी जायेंगी और ३,५०० फुट पुलों का निर्माण किया जायेगा।

(४) शिक्षा—राजस्थान में निरक्षरता को समाप्त करना और शिक्षा प्रणाली को वस्तुतः उपयोगी बनाना सरकार की शिक्षा सम्बन्धी नीति का उद्देश्य है। परिणामतः राज्य में प्रतिवर्ष विविध शिक्षालयों की संख्या बढ़ती जारही है। दूसरी योजना की अवधि के प्रथम दो वर्ष में शिक्षण संस्थाओं की कुल संख्या १९५५–५६ में १०८५१ से बढ़कर १९५७–५८ के अन्त में १२,०८७ हो गई। यह अनुमान किया जाता है कि दूसरी योजना अवधि के अन्त तक ६–११ वर्ष की आयु के ५९ प्रतिशत बालकों को शिक्षा सम्बन्धी सुविधायें उपलब्ध हो जायेंगी। ५९ प्रतिशत के मुकाबले १९५५–५६ में तदनुरूप अङ्क २४ प्रतिशत ही था। १९६०–६१ में शिक्षा पर व्यय बढ़ कर ११.५० करोड़ हो गया है जब कि १९५१–५२ में यह २·४० करोड़ ही था।

(५) स्वास्थ्य और चिकित्सा—राज्य सरकार का उद्देश्य राज्य के प्रत्येक नागरिक को चिकित्सा सुविधा सुलभ कराना है। चिकित्सा तथा जन-

स्वास्थ्य के अन्तर्गत १९५९ के अन्त में रोगी शय्याओं की संख्या ७,४२३ हो गई जब कि १९५६ में पलंगों की संख्या ६,३३७ ही थी। राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के अन्तर्गत, दूसरी योजना अवधि के प्रथम ४ वर्षों में १६ यूनिट स्थापित कर दी गई हैं।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजस्थान में तेजी से प्रगति हो रही है।

राजस्थान राज्य की वित्तीय स्थिति

१९६०–६१ के बजट में आय का अनुमान ४,५७९.९६ लाख रुपये तथा इसमें से किए जाने वाले व्यय का अनुमान ४,५६४.२२ लाख रुपये हैं। पूंजी गत व्यय के कार्यक्रम में निम्न प्रकार से २,७२२,४६ रुपये की लागत हित है :—

(१) राजस्थान नहर को शामिल करते हुए सिंचन परियोजनाएं	१३७९.०५ लाख रु०
(२) बहु प्रयोजना नदी योजना (भाखरा नांगल तथा चम्बल परियोजनाएं)	३६९.७७ लाख रु०
(३) इमारतों, सड़कों, जलकार्यों का निर्माण, औद्योगिक विकास, सड़कें, यातायात आदि	६७३.६४ लाख रु०
(४) जागीर मुआवजा	३००.०० लाख रु०
योग....	२७२२.४६ लाख

औद्योगिक अर्थ व्यवस्था निगम—देश में उद्योगों के विकास के लिए पर्याप्त पूंजी प्राप्त नहीं हो पाती। पुराने उद्योगों के नवीनीकरण के लिए तथा नए उद्योगों के कई कार्यों के लिए दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता रहती है। जब स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश का औद्योगीकरण आरम्भ हुआ उस समय ऋण की आवश्यकता और ज्यादा महसूस की जाने लगी। देश में औद्योगिक बैंकों की कमी है। इन कठिनाइयों को दूर करने हेतु केन्द्रीय सरकार ने १९४८ में औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना की। यह उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करता है। यह निगम ५% ब्याज दर पर ऋण देता है।

औद्योगिक उत्पादन

उद्योग	माप	१९५९ पूर्ण वर्ष	१९६० (अनुमानित	विगत वृद्धि + कमी −
लोहा	'००० मे. टन	३,१३६	३,६७२	+१७
Finished	,,	१,४७१	१,६०८	+३.०
जूट की वस्तुएं	,,	१,०६८	१,०६२	+१.३
चीनी	लाख टन	—	२४.२	—
गुड़	,,	—	२५.४	—
खांडसारी	,,	—	३.५०	—
डिजल इन्जिन	नं० संख्या	३०,३३६	३२,०४८	+ ३
सिलाई मशीन	,, ,,	२५२,६१२	२६१,८१२	+३.६
मशीन टूल	मूल्य रु.,०००	४३,८८४	५३,०८८	+२१
सीमेंट	,००० मे. टन	६,६३६	७,८२४	+१.३
बाईसिकल	नं० संख्या	३६,४६८	५०,१२४	+३७
कार व जीप	,, ,,	१६,५००	२५,५००	+३५
व्यापारिक गाड़ियां	,, ,,	१६,८२०	२८,०००	
कागज	टन	३२७,०४०	३५०,०००	

HIGHER SECONDARY EXAMINATION, 1958

First Paper (Economics)

१. अर्थशास्त्र की परिभाषा कीजिए। इसका सामाजिक विज्ञानों से क्या सम्बन्ध है ?

२. प्राचीन काल से वर्तमान काल तक आर्थिक जीवन का विकास किन किन अवस्थाओं से गुजरा है ? विकास की प्रत्येक अवस्था के मुख्य लक्षण बताइए।

३. किसी देश की जन-संख्या का घनत्व किन बातों पर निर्भर है ? राजस्थान में जन-संख्या के घनत्व के कम होने के क्या कारण हैं ?

४. पूँजी का संग्रह किन बातों पर निर्भर है ? भारत में पूँजी की कमी के क्या कारण हैं ?

५. नदी घाटी योजना से आप क्या समझते हैं ? भारत में मुख्य मुख्य नदी-घाटी योजनाएँ कौन-कौन सी हैं ? इनमें से राजस्थान को किन से लाभ होगा ?

६. भारत में कृषि के पिछड़े होने के क्या कारण हैं ? सामूहिक विकास योजनाएँ कहाँ तक कृषि को सुधारने में मदद कर सकती हैं ?

७, कुटीर उद्योगों का भारत के आर्थिक विकास में क्या महत्व है ? इनको सुधारने के लिए सुझाव दीजिए।

८. उपयोगिता-ह्रास-नियम को अच्छी तरह समझाइए। उदाहरण तथा चित्र दीजिए।

९. लगान की परिभाषा दीजिए। रिकार्डो के लगान सिद्धान्त को अच्छी तरह समझाइए।

१०. बाजार-मूल्य से आप क्या समझते हैं ? बतलाइए कि पूर्ण प्रतियोगिता में किसी वस्तु का मूल्य किसी विशेष दिन किस प्रकार निर्धारित होता है ? चित्र देकर समझाइए।

११. अदल-बदल आर्थिक व्यवस्था की क्या कठिनाइयाँ हैं ? मुद्रा का प्रयोग किस प्रकार इन कठिनाइयों को दूर करता है ?

१२. किन्हीं तीन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए —

(अ) एंजिल का उपभोग नियम।

(ब) बैंक के मुख्य कार्य।

(स) समयानुसार और कार्यानुसार मजदूरी।

(य) उत्पत्तिह्रास-नियम।

(र) कुल और वास्तविक लाभ।

(ल) दूसरी पंचवर्षीय योजना के मुख्य उद्देश्य।

First Paper (Economics) 1959

१. अर्थशास्त्र का विषय कौन-कौन से मुख्य भागों में विभक्त है ? उनके पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से समझाओ।

२. भारत की खनिज सम्पत्ति का संक्षिप्त विवरण दो और भविष्य में देश के आर्थिक विकास में इसका महत्व बताओ।

३. क्या भारत में जन-संख्या का आधिक्य है ? यदि है तो इस समस्या को सुलझाने के उपाय बतलाओ।

४. भारतीय श्रमिकों की अकुशलता के क्या कारण हैं ? यदि है तो इस समस्या को सुधारने के लिए सुझाव दो।

५. पूँजी की परिभाषा लिखो और चल और अचल पूँजी में भेद बताओ। पूँजी का भारत की कृषि में क्या महत्व है ?

६. भारत के दो मुख्य बड़ी मात्रा वाले उद्योगों पर एक लेख लिखो।

७. सिद्ध करो कि "जब सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है, तभी पूर्ण उपयोगिता सब से अधिक होती है।" खाके द्वारा समझाओ।

८. भारतीय गाँवों में ऊँची ब्याज की दरें प्रचलित होने के क्या कारण हैं ? इस समस्या का क्या हल हो सकता है ?

९. 'माँग' और 'पूर्ति' का अर्थ पूर्णतया समझाओ। सारिणी तथा चित्र द्वारा बतलाओ कि किसी वस्तु का मूल्य 'माँग' और 'पूर्ति' द्वारा सामान्यतया किस प्रकार निर्धारित होता है ?

१०. मुद्रा की परिभाषा दो और उसके मुख्य कार्य बतलाओ। भारत में कितने प्रकार की मुद्रा का चलन है ?

११. भारत की दूसरी पंचवर्षीय योजना पर एक संक्षिप्त लेख लिखो।

१२. किन्हीं तीन पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखो :—

(अ) भारतीय वनों की उपयोगिता।

(ब) वास्तविक और नकद मजदूरी।

(स) भारतीय भूमि की किस्में।

(द) भारत में सामूहिक योजनाएं।

(र) बैंक के मुख्य कार्य।

(ल) राजस्थान नहर।

First Paper (Economics) 1960

१. यदि अर्थशास्त्र की परिभाषा किसी अशिक्षित और बुद्धिमान पुरुष को बतलानी हो तो आप किस प्रकार बतलायेंगे ?

२. उपयोगिता-ह्रास-नियम को उदाहरण तथा चित्र देकर पूर्ण रूप से समझाइए। क्या इस नियम के कोई अपवाद हैं ?

३. प्राचीन काल से वर्तमान काल तक आर्थिक जीवन का विकास किन किन अवस्थाओं से गुजरा है ? भारत अब किस आर्थिक अवस्था से गुजर रहा है ?

४. जीवन-स्तर का अर्थ समझाइए। भारतीय श्रमिक का जीवन-स्तर बहुत नीचा क्यों है ? उसको उन्नत करने के उपाय बतलाइए।

५. क्या समाज के लिए यह महत्व का प्रश्न है कि कोई व्यक्ति अपनी आय को किस प्रकार व्यय करता है ? क्या समाज को मनुष्य की व्यय करने की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करना चाहिए ?

६. क्या भारत में जन-संख्या का आधिक्य है ? यदि है तो इस समस्या को सुलझाने के उपाय बतलाइए।

७. दूसरी पंचवर्षीय योजना में छोटे और बड़े उद्योगों का विकास किस प्रकार हो रहा है ? विस्तारपूर्वक लिखिए।

८. भारत की खाद्य समस्या पर संक्षिप्त लेख लिखिए।

९. भारत में कृषि के पिछड़े होने के क्या कारण हैं ? विकास योजनाएं कहाँ तक कृषि को सुधारने में सफल रही हैं

१० मूल्य के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए और दिखलाइए कि अल्पकाल और दीर्घकाल में माँग और पूर्ति के कारण मूल्य कैसे निर्धारित होता है ?

११. मुद्रा की परिभाषा दीजिए। मुद्रा का प्रयोग किस प्रकार अदल-बदल व्यवस्था की कठिनाइयों को दूर करता है ? मुद्रा के मुख्य कार्य बतलाइए।

१२. किन्हीं तीन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

(अ) चम्बल परियोजना।

(ब) एंजिल का उपभोग नियम।

(स) राजस्थान नहर।

(र) रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त।

(ल) समयानुसार और कार्यानुसार मजदूरी।

(म) बैंक के मुख्य कार्य।

Higher Secondary Examination, 1961
First Paper

१. अर्थशास्त्र का विषय स्पष्ट कीजिए। अर्थशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से क्या सम्बन्ध है ?

२. आवश्यकताओं के लक्षण समझाइए। क्या आपकी राय में आवश्यकताओं की वृद्धि वांछनीय है ?

३. एंजिल का उपभोग का नियम समझाइए। क्या यह भारत में लागू होता है ?

४. पूंजी किसे कहते हैं ? पूंजी का संग्रह किन बातों पर निर्भर है ?

५. उद्योगों के स्थानीयकरण के कारण उदाहरण देकर समझाइए।

६. वस्तु विनिमय की कठिनाइयां समझाइए। मुद्रा के प्रयोग से ये कठिनाइयां कैसे दूर हो जाती हैं ?

७. बैंक किसे कहते हैं ? एक आधुनिक व्यापारिक बैंक के कार्यों का वर्णन कीजिए।

८. रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त समझाइए।

९. संकल और शुद्ध व्याज में भेद बतलाइए। व्याज की दरों में विभिन्नता के कारण समझाइए।

१०. कर किसे कहते हैं ? ऐडम स्मिथ के करों के सिद्धान्त समझाइए।

Second Paper

किन्हीं पांच प्रश्नों के उत्तर दीजिये। सब प्रश्नों के अङ्क समान हैं।

१. भारत के कौन-कौन से मुख्य खनिज हैं ? वे देश के किन-किन भागों में पाये जाते हैं ? उनका आर्थिक महत्व भी बताइये।

२. भारतीय कृषि के प्रमुख दोषों की व्याख्या कीजिये तथा उसमें सुधार के उपाय बताइये।

३. "छोटी और अनार्थिक जोतें ही कृषि विकास में आने वाली अनेक कठिनाइयों की जड़ हैं।" इस उक्ति की व्याख्या कीजिये।

४. ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता की समस्या पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार कीजिये। इस सम्बन्ध में बतावें कि सहकारी साख को किस प्रकार अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है।

५. अपने देश के भिन्न-भिन्न भागों की जनसंख्या के घनत्व में जो असमानता है, उसके कारणों का विवेचन कीजिये।

६. अपनी अर्थ-व्यवस्था में कुटीर उद्योगों का क्या महत्व है ? प्रमुख कुटीर उद्योगों और उनकी सामान्य कठिनाइयों पर छोटी-छोटी टिप्पणियां लिखिये।

७. भारत के मुख्य आयातों तथा निर्यातों का विवरण दीजिये और बताइये कि पिछले कुछ वर्षों में हमारे व्यापार का अन्तर प्रतिकूल क्यों हो गया है।

८. निम्नांकित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये—

(अ) भारत का जलवायु और उसके आर्थिक प्रभाव।
(ब) भारत में परिवार नियोजन।
(स) भारत में द्वितीय पंचवर्षीय योजना का रोजगार पर प्रभाव।
(द) सामुदायिक विकास योजनायें।

Raj. Inter. Examination, 1960
Economics I Paper

१. अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्व बताइए।

२. सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।

३. क्या राज्य को किसी नागरिक के व्यय करने की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करना चाहिए ? आर्थिक दृष्टि से इस पर अपना मत प्रकट कीजिए।

४. श्रम की कुशलता का क्या अर्थ है ? किन बातों पर श्रम की कुशलता निर्भर होती है ?

५. बड़ी मात्रा के उत्पादन के लाभ और दोष बताइए।

६. वस्तु-विनिमय किसे कहते हैं ? इनमें क्या असुविधाएं हैं ? यह किन परिस्थितियों में सम्भव है ?

७. अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन सामान्य मूल्य में क्या अन्तर है ? समझा कर लिखिए।

८. लगान का क्या अर्थ है ? यह किस प्रकार निर्धारित होता है ?

९. प्रत्यक्ष और परोक्ष करों का अन्तर स्पष्ट कीजिए। इनके तुलनात्मक लाभ तथा हानियां का वर्णन कीजिए।

१०. निम्नलिखित में से किन्हीं तीन पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए—

(अ) बैंक।

(ब) असल तथा नकद मजदूरी।

(स) स्वर्ण-मान।

(द) परिमित दायित्व।

Second Paper

१. भारत की खनिज सम्पत्ति का उल्लेख राजस्थान में पाए जाने वाले खनिज पदार्थों के विशेष विवरण सहित कीजिए।

२. क्या भारत में जनाधिक्य है ? यदि है तो इसका उपचार बतलाइए और भारत सरकार की जनसंख्या सम्बन्धी नीति का उल्लेख कीजिए।

३. भारत की अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्व समझाइए। हमारी कृषि की उन्नति के उपायों का वर्णन कीजिए।

४. भारत में सहकारी आन्दोलन के लाभों का वर्णन कीजिए और उसकी मर्यादा समझाइए।

५. हमारे आर्थिक जीवन में कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों का क्या महत्व है ? पिछले कुछ वर्षों में इनकी उन्नति के लिए क्या उपाय किए गए है ?

६. भारत की देशी महाजनी प्रथा का संक्षेप में वर्णन कीजिए और इसकी आधुनिक बैंकों से तुलना कीजिए ।

७. भारत में रेलों के विकास के आर्थिक परिणाम समझाइए ।

८. राजस्थान सरकार के आय के प्रमुख साधन क्या है ? प्रत्येक पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ।

९. भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य क्या है ? इसकी सफलता से राष्ट्रीय आय और रोजगार पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

१०. निम्नांकित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए ।

(अ) हिमालय क्षेत्र ।
(ब) राजस्थान नहर ।
(स) भारत का अन्तर्देशीय व्यापार ।
(द) दाशमिक प्रणाली के सिक्के ।

M. P. Intermediate in Arts. 1961
Economics I Paper

१. अर्थशास्त्र का अन्य समाज शास्त्रों से क्या सम्बन्ध है ?

२. क्या अर्थशास्त्र विज्ञान है अथवा कला ?

३. "किसी वस्तु की हमारे पास जितनी अधिक इकाइयां होंगी, उतनी ही उस वस्तु की हमारी और आवश्यकता कम होगी ।" इसकी व्याख्या कीजिए ।

४. मानवीय आवश्यकतायें क्या है ? इनकी विशेषताएं बताइए ।

५. किन साधनों पर कृषि-भूमि की उत्पादकता निर्भर है ?

६. भारतीय श्रम की गतिशीलता का उदाहरण सहित विवरण दीजिए ।

७. पूंजी की परिभाषा दीजिए और अचल पूंजी और चल पूंजी में अन्तर बतलाइए । उदाहरण दीजिए ।

८. भारत के आर्थिक विकास में रेलों का क्या भाग या महत्व रहा है
९. उत्पादन की बाह्य और भीतरी बचत में अन्तर बतलाइये।
१०. व्यवसाय में सीमित उत्तरदायित्व के क्या लाभ व दोष हैं ?

Economics II Paper—Exchange, Distribution and Public Finance.

१. वस्तु-विनिमय की पद्धति को समझाइए। मुद्रा-विनिमय कहां तक वस्तु-विनिमय की असुविधाओं को दूर कर सका है, इसका विवेचन कीजिए।

२. मांग और पूर्ति की सूचियां (Schedulech) से आप क्या समझते हैं ? रेखा-चित्रों की सहायता से उनको स्पष्ट कीजिए।

३. मुद्रा-स्फीति और मुद्रा-संकुचन से आप क्या समझते हैं ? समाज पर उनके प्रभाव का विवेचन कीजिए।

४. पत्र-मुद्रा के विभिन्न प्रकार क्या हैं ? पत्र-मुद्रा के पक्ष और विपक्ष में जो भी बातें हों, उनको बताइये।

५. भारत की अर्थव्यवस्था में देशी महाजनों के कार्य का विवेचन कीजिए।

६. लगान की उपयुक्त परिभाषा दीजिए। जिन बातों का लगान पर असर पड़ता है, उनका विवेचन कीजिए।

७. वे कौनसी बातें है जिनसे एक व्यक्ति की वास्तविक मजदूरी निर्धारित होती है ?

८. कर-सिद्धान्तों का विवेचन कीजिए तथा यह बतलाइए कि कौन-कौन से भारतीय कर इन सिद्धान्तों का पालन करते हैं ?

९. मध्य प्रदेश सरकार के आय-साधन तथा व्यय-मद क्या हैं ? इसका विवेचन कीजिए।

१०. बेंकों की निम्नलिखित क्षेत्रों में क्या आवश्यकता है ?—
(१) उद्योग, (२) व्यापार तथा (३) कृषि।

मुद्रक : कालेज प्रेस, जैपुर